धर्मपाल समग्र लेखन

१०.

भारत का पुनर्बोध

(भाषणो, लेखो एव शोधपत्रो का सकलन)

धर्मपाल

अनुवाद

केशा तिवारी
विजय तिवारी

धर्मपाल समग्र लेखन १०

भारत का पुनर्बोध

(भाषणो, लेखो एव शोधपत्रो का सकलन)

लेखक

धर्मपाल

सम्पादक

इन्दुमति काटदरे

अनुवाद

केशा तिवारी

विजय तिवारी

प्रकाशक

पुनरुत्थान ट्रस्ट,

४, वसुधरा सोसायटी, आनन्दपार्क, काकरिया, अहमदाबाद - ३८००२८

दूरभाष ०७९ - २५३२२६५५

मुद्रक

साधना मुद्रणालय ट्रस्ट

सिटी मिल कम्पाउण्ड, काकरिया मार्ग, अहमदाबाद - ३८००२२

दूरभाष ०७९ - २५४६७७९०

मूल्य रु २६०-००

प्रति

२,०००

प्रकाशन तिथि

चैत्र शुक्ल १, वर्षप्रतिपदा, युगाब्द ५१०९

२० मार्च २००७

अनुक्रमणिका

धर्मपाल समग्र लेखन

ग्रन्थ सूची

१ भारतीय चित्त, मानस एव काल

२ १८ वी शताब्दीमे भारतमे विज्ञान एव तत्रज्ञान कतिपय समकालीन यूरोपीय वृत्तान्त
Indian Science and Technology in the Eighteenth Century
Some Contemporary European Accounts

३ भारतीय परम्परामे असहयोग
Civil Disobedience in Indian Tradition

४ रमणीय वृक्ष १८ वी शताब्दी मे भारतीय शिक्षा
The Beautiful Tree Indigenous Indian Education in the Eighteenth Century

५ पचायत राज एव भारतीय राजनीति तत्र
Panchayat Raj and Indian Polity

६ भारत मे गोहत्या का अग्रेजी मूल
The British Origin of Cow slaughter in India

७ भारतकी लूट एव बदनामी १९ वी शताब्दी की अग्रेजो की जिहाद
Despoliation and Defaming of India
The Early Nineteenth Century of British crusade

८ गाधी को समझे
Understanding Gandhi

९ भारत की परम्परा
Eassys in Tradition, Recovery and Freedom

१० भारत का पुनर्बोध
Rediscovering India

मनोगत

गाधीजी के अगस्त १९४२ के 'अग्रेजो, भारत छोड़ो' आन्दोलन के कुछ समय पूर्व से ही मै देश के स्वतन्त्रता आन्दोलन से पूर्णरूप से प्रभावित हो चुका था। उस समय मैने जीवन के बीस वर्ष पूरे किए थे। अगस्त १९४२ मे, हम दो चार मित्र, जिनमे मित्र श्री जगदीश प्रसाद मित्तल प्रमुख थे, उत्तरप्रदेश से 'भारत छोड़ो आन्दोलन' के लिए ही काग्रेस के अखिल भारतीय सम्मेलन मे भाग लेने मुम्बई गए। मैने उससे पूर्व १९३० का लाहौर का काग्रेस सम्मेलन देखा था, परन्तु मुम्बई के सम्मेलन का स्वरूप और अपेक्षाएँ हमारे लिए एकदम नई थीं। सम्मेलन मे हमे दर्शक के रूप मे भाग लेने की अनुमति मिल गई। हमने वहाँ की सम्पूर्ण कार्यवाही देखी, सभी भाषण सुने। ८ अगस्त की सायकाल का गाधीजी का सवा दो घण्टे का भाषण तो मुझे आज भी कुछ कुछ याद है। उन्होने प्रथम डेढ़ घण्टा हिन्दी मे भाषण दिया, फिर पौन घण्टा अग्रेजी मे। सम्मेलन में ५० हजार से अधिक भीड़ थी। सभी उपस्थित लोगो से, सभी भारतवासियो से तथा विश्व के सभी देशो से गाधीजी का मुख्य निवेदन तो यही था कि वे सभी भारत और अग्रेजो के वार्तालाप मे सहायक हो । हमारे जैसे अधिकाश लोगो ने उस समय विचार किया होगा कि आन्दोलन का प्रारम्भ तो कुछ समय बाद ही होगा।

परन्तु दूसरे ही दिन सवेरे ५-६ बजे से ही पूरे मुम्बई मे हलचल शुरू हो गई। मुम्बई से बाहर जानेवाली रेलागाड़िया दोपहर के बाद तक बन्द रहीं। अग्रेज और भारतीय पुलिस व्यापक रूप से लोगो की गिरफ्तारी करती रही। अन्तत ९ अगस्त को शाम तक हमे दिल्ली जाने के लिए गाड़ी मिल गई। परन्तु रास्ते भर हलचल थी और गिरफ्तारिया हो रही थीं। हममे से अधिकाश लोग अपनी अपनी जगह पहुॅचकर 'अग्रेजो भारत छोड़ो' आन्दोलन शुरू करनेवाले थे।

दिल्ली पहुॅचकर मैं अन्य साथियो के साथ आसपास के क्षेत्रों मे चल रहे आन्दोलन मे जुड़ गया। कितने महीने तक इसी मे ही सलग्न रहा। उस बीच अनेक गॉवे और कसबो मे भी गया। वहॉ लोगों के घरो मे रहा। वहीं से ही भारत के सामान्य जीवन

के साथ मेरा परिचय प्रारम्भ हुआ। दिसम्बर १९४२ मे अनेक घनिष्ठ मित्रो ने सलाह दी की मुझे आन्दोलन के काम के लिए मुम्बई जाना चाहिए। इसलिए फरवरी १९४३ मे मे मुम्बई गया और वहॉ रहा। आन्दोलन का साहित्य लेकर वाराणसी और पटना भी गया। मुम्बई मे गाधीजी के निकटस्थ स्वामी आनन्द ने मेरे रहने खाने की व्यवस्था की थी। वे अलग अलग लोगो से मेरा परिचय भी कराते थे। वस्तुत मेरा मुम्बई के साथ परिचय तो उनके कारण ही हुआ। मुम्बई मे ही मे श्रीमती सुचेता कृपलानी से भी एक दो बार मिला। उसी प्रकार गिरिधारी कृपलानी से मिलना हुआ। उस समय मै खादी का धोती कुर्ता पहनता था और स्वामी आनन्द आदि के आग्रह के बाद भी मैंने कभी पतलून आदि नहीं पहना।

मार्च १९४२ मे मैं मुबई से दिल्ली और उत्तरप्रदेश गया। अप्रैल १९४३ मे दिल्ली के चॉदनीचौक पुलिस थाने मे मेरी गिरफ्तारी हुई और लगभग दो महीने अलगअलग थानो मे रहा। वहॉ मेरी गहन पूछताछ हुई, धमकाया भी गया। यद्यपि मारपीट नहीं हुई। जून १९४३ मे मुझे सरकार के आदेशानुसार दिल्ली से निष्कासित किया गया। एकाध वर्ष बाद यह निष्कासन समाप्त हुआ।

लम्बे अरसे से मेरा मन गॉव मे जाकर रहने और काम करने का था। मेरे एक पारिवारिक मित्र गोरखपुर जिले के एक हजार एकड़ जितने विशाल फार्म के मैनेजर थे। उन्होने मुझे फार्म पर आकर रहने के लिए निमत्रण दिया। यह फार्म सुन्दर तो था परन्तु यह तो वहॉ रहनेबालो से कसकर परिश्रम कराने की जगह थी। गॉव जैसा सामूहिकता का वातावरण वहॉ नहीं होता था। वहॉ गॉव के लोगो से मिलने, बात करने का अवसर भी नहीं मिलता था। परन्तु एक बात मैने देखी कि वहॉ लोग गरीब होने के बाद भी प्रसन्नचित्त दिखाई देते थे।

एक वर्ष बाद जून अथवा जुलाई १९४४ मे यह फार्म छोड़ कर मै वापस आ गया। तत्काल ही मेरठ के मित्रो ने मुझे श्रीमती मीराबहन के पास जाने की सलाह दी। मीरा बहन रूडकी के निकट एक आश्रम स्थापित करने का विचार कर रही थीं। बात सुनकर मैंने पहले तो मना करने का प्रयास किया परन्तु मित्रो के आग्रह के कारण अक्टूबर १९४४ मे मै मीराबहन के पास गया। रूडकी से हरिद्वार की दिशा मे सात-आठ मील दूर गॉव वालो ने मीरा बहन को आश्रम निर्माण के लिए जमीन दी थी। आश्रम हरिद्वार से बारह मील दूर था। आश्रम का नाम दिया गया 'किसान आश्रम'। यहीं से मेरा ग्रामजीवन और उसके रहनसहन के साथ परिचय शुरू हुआ। उनकी कुशलताएँ और अपने व्यवहार, रहन सहन तथा उपाय ढूढ निकालने की योग्यता मुझे यहीं जानने

को मिली। मै तीन वर्ष किसान आश्रम मे रहा। उसके बाद पाकिस्तान से आए शरणार्थियो के पुनर्वसन का कार्य चलता था उसमे सहयोग देने के लिए मै दिल्ली गया। उस दौरान मेरा अनेक लोगो के साथ परिचय हुआ। उसमे मुख्य थीं कमलादेवी चट्टोपाध्याय और डॉ राममनोहर लोहिया। १९४७ से १९४९ के दौरान श्री रामस्वरूप, श्री सीताराम गोयल, श्री रामकृष्ण चॉदीवाले (उनके घर मे मै महीनो रहा), श्री नरेन्द्र दत्त, श्रीमती स्वर्णा दत्त, श्री लक्ष्मीचन्द जैन, श्री रूपनारायण, श्री एस के सक्सेना, श्री ब्रजमोहन तूफान, श्री अमरेश सेन, श्री गोपालकृष्ण आदि के साथ भी मित्रता हुई।

दिल्ली मे भारतीय सेना के कुछ अधिकारियो ने कहा कि फिलिस्तीन के यहूदी इजरायल नामक छोटा देश बना रहे है। वहॉ सामूहिकता के आधार पर जीवन रचना के महत्त्वपूर्ण प्रयास हो रहे है। उन लोगो ने इतने आकर्षक ढग से उसका वर्णन किया कि मैने इजरायल जाकर यह देखकर आने का निर्णय किया। नवम्बर १९४९ मे इजरायल जाने के लिए मैं इग्लैण्ड गया। वहॉ आठदस महीने रह कर नवम्बर-दिसम्बर मे मै पत्नी फिलिस के साथ इजरायल तथा अन्य अनेक देशो मे गया। इजरायल के लोगो ने जो कर दिखाया था वह तो बहुत प्रशसनीय और श्रेष्ठ कार्य था परन्तु भारतीय ग्रामरचना और भारतीय व्यवस्थाओ मे उस का बहुत उपयोग नहीं है, ऐसा भी लगा।

जनवरी १९५० में मैं और फिलिस हृषीकेश के निकट निर्माणाधीन, मीराबहन के 'पशुलोक' मे पहुॅच गये। वहॉ मीराबहनने, मेरे अन्य मित्रों, और सविशेष मार्कसवादी मित्र जयप्रकाश शर्मा के साथ मिलकर एक नए छोटे गॉव की रचना की शुरुआत की थी। उसका नाम रखा गया 'बापूग्राम'। गॉव ५० घरो का था। उसमे सभी पहाड़ी और मैदानी जाति के लोग साथ रहेगे ऐसा प्रयास किया था। यह भी ध्यान रखा गया कि लोग अत्यन्त गरीब हो। परतु उस के कारण गॉव की रचना का काम अधिक कठिन हो गया। गॉव के लोगो के कष्ट बढे। गॉव मे ५०० एकड़ जमीन थी, किन्तु अनेक जगली जानवर भी वहॉ घूमते थे। हाथी भी वहॉ आता-जाता रहता। इस लिए प्रारम्भ मे खेती भी बहुत दुष्कर थी। खेती मे कुछ बचता ही नहीं था। आज भी यह गॉव जैसे तैसे टिका हुआ है। १९५७ से गॉव के साथ मेरा सम्बन्ध ठीक-ठीक बढा। मै विभिन्न पचायतो का अध्ययन करता था। इसलिए गॉव के लोगो की समझदारी और अपने प्रश्नो की ओर देखने और उसे हल करने का उनका दृष्टिकोण भलीभॉति ध्यान मे आने लगा। इस बात का भी एहसास होने लगा कि अपने अधिकाश शहरी और समृद्ध लोग गॉव को जानते ही नहीं। राजस्थान, आध्रप्रदेश, तमिलनाडु, उड़ीसा आदि राज्यो मे तो यह एहसास सविशेष हुआ। इस एहसास के कारण ही मै १९६४-६५ मे सन् १९०० के आसपास के अग्रेजो

द्वारा तैयार किए गए दस्तावेजो के अध्ययन की ओर मुड़ा।

लगभग १७५० से १८५० तक अग्रेजो ने सरकारी अथवा गैर सरकारी स्तर पर इग्लैण्ड मे रहने वाले अपने अधिकारियो तथा परिचितो को लिखे पत्रो की सख्या शायद करोडो दस्तावेजो मे होगी। उसमे ८० से ८५ प्रतिशत की प्रतिलिपिया भारत के कोलकता, मद्रास, मुम्बई, दिल्ली, लखनऊ आदि के अभिलेखागारो मे भी है। लन्दन की ब्रिटिश इडिया ऑफिस मे और अन्य अनेक अभिलेखागारो मे पॉच से सात प्रतिशत ऐसे भी दस्तावेज होगे जो भारत मे नहीं होगे। उसमे से वहुत से ऐसे है जिनके अध्ययन से अग्रेजो ने भारत मे क्या किया यह समझ मे आता है। उस समय के इग्लैण्ड के समाज और शासन तत्र की यदि हमे जानकारी होगी तो अग्रेजो ने भारत मे जो किया उसे समझने मे सहायता मिल सकती है।

१९५७ से ही, जब मै एवार्ड (Association of Voluntary Agencies for Rural Development [AVARD]) का मत्री बना तब से ही अनेक प्रकार से सीखने का अवसर मिला और अनेक व्यक्तियो की अनेक प्रकार से सहायता भी मिली। उसमे मुख्य थे श्री अण्णासाहब सहस्रबुद्धे और श्री जयप्रकाश नारायण। नागपुर के श्री आर के पाटिल ने भी १९५८ से १९८० तक इस काम मे बहुत रुचि ली और अलग अलग ढग से सहायता करते रहे। श्री आर के पाटिल पुराने आई सी एस थे, योजना आयोग के सदस्य थे, पूर्व मध्यप्रदेश के मत्री थे और विनोबा जी के निकटवर्ती थे। १९७१ से गाधी शाति प्रतिष्ठान के मत्री श्री राधाकृष्ण का सहयोग भी बहुत मूल्यवान था। इसी प्रकार गाधी विद्या सस्थान और पटना की अनुग्रह नारायण सिन्हा इन्स्टीटयूट का भी सहयोग मिला। डॉ डी एस कोठारी भी शुरू से ही उसमे रुचि लेते थे।

१९७१ मे 'इडियन सायन्स एण्ड टेक्नोलॉजी इन द एटीन्थ सेन्चुरी' Indian Science and Technology in the Eighteenth Century और 'सिविल डिसओबिड़ियन्स इन इडियन ट्रेडिशन' Civil Disobedience in Indian Tradition ऐसी दो पुस्तके प्रकाशित हुई। उनका विमोचन विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के अध्यक्ष डॉ दौलतसिह कोठारी ने किया। पहले ही दिन से उस पुस्तक का परिचय करनेवाले प्रजा समाजवादी पक्ष के नेता और साहित्यकार श्री गगाशरण सिन्हा, विवेकानद केन्द्र, कन्याकुमारी के श्री एकनाथ रानडे और अमेरिका की बर्कले यूनिवर्सिटी के प्रोफेसर यूजिन ईर्शिक थे। ईर्शिक के मतानुसार 'सिविल डिसओबिडियन्स इन ईड़ियन ट्रेड़िशन' मेरी सबसे उत्तम पुस्तक थी। श्री रामस्वरुप और श्री ए बी चटर्जी, जो आई सी एस थे और मिनिस्ट्री ऑफ स्टेट्स के सचिव थे, उनके मतानुसार 'इड़ियन सायन्स एण्ड

टेक्नोलॉजी इन द एटीन्थ सेन्चुरी' अत्यन्त महत्त्वपूर्ण पुस्तक थी। १९७१ से १९८५ के दौरान इन दोनो पुस्तको का अनेक प्रकार से उल्लेख होता रहा। देशभर मे इसका उल्लेख करनेवालो मे मुख्य थे श्री जयप्रकाश नारायण, श्री रामस्वरुप और राष्ट्रीय स्वय सेवक सघ के श्री एकनाथ रानड़े, प्रोफेसर राजेन्द्रसिह और वर्तमान सरसघचालक श्री सुदर्शन जी।

अभी तक ये पुस्तके मुख्य रूप से अग्रेजी मे ही है। उसका एक विशेष कारण यह है कि उसमे समाविष्ट दस्तावेज सन् १८०० के आसपास अग्रेजो और अन्य यूरोपीय लोगो ने अग्रेजी मे ही लिखे है। प्रारभ मे ही यह सब हिन्दी अथवा अन्य भारतीय भाषा मे प्रकाशित करना बहुत मुश्किल लगता था। लेकिन जब तक यह सब भारतीय भाषाओ मे प्रकाशित नहीं होता तब तक सर्वसामान्य लोग दो सौ वर्ष पूर्व के भारत के विषय मे न जान सकेगे, न समझ सकेगे, और न ही चर्चा कर सकेगे।

इसलिए इन पुस्तको का अब हिन्दी भाषा मे अनुवाद प्रकाशित हो रहा है यह बहुत प्रशसनीय कार्य है।[1]

मै १९६६ तक अधिकाशत इग्लैण्ड और सविशेष लन्दन मे रहा। उस समय भारत से सम्बन्धित वहॉ स्थित दस्तावेजो मे से पाच अथवा दस प्रतिशत सामग्री का मैने अवलोकन किया होगा। उनमे से कुछ मैने ध्यान से देखे, कुछ की हाथ से नकल उतार ली, अनेको की छायाप्रति बना ली। उस दौरान बीच बीच मे भारत आकर कोलकता, लखनऊ, मुम्बई, दिल्ली और चेन्नई के अभिलेखागारो मे भी कुछ नए दस्तावेज देखे।

उन दस्तावेजो के आधार पर अभी गुजरात से प्रकाशित हो रही अधिकाश पुस्तके तैयार की गई है। ये पुस्तके जिस प्रकार सन् १८०० के समय के भारत से सम्बन्धित हैं उसी प्रकार १८८० से १९०३ के दौरान गोहत्या के विरोध मे हुए आन्दोलन के और १८८० के बाद के दस्तावेजो के आधार पर लिखी गई है। उनमे एकाध पुस्तक इग्लैण्ड और अमेरिका के समाज से भी सम्बन्धित है। इसकी सामग्री इग्लैण्ड मे मिली है और यह पढी गई पुस्तको के आधार पर तैयार की गई है।

१९६० से शुरू हुए इस प्रयास का मुख्य उद्देश्य दो सौ वर्ष पूर्व के भारतीय समाज को समझना ही था। लेकिन मात्र जानना, समझना पर्याप्त नहीं है। उसका इतना महत्त्व भी नहीं है। महत्त्व तो यह जानने समझने का है कि अग्रेजो से पूर्व का स्वतत्र भारत, जहॉ उसकी स्थानिक इकाइया अपनी अपनी दृष्टि और आवश्यकतानुसार अपना समाज चलाती थीं, वह कैसा रहा होगा। अचानक १९६४-६५ मे चेन्नई के एगमोर

अभिलेखागार मे ऐसी सामग्री मुझे मिली, और ऐसी ही सामग्री इग्लेण्ड मे उससे भी सरलता से मिली। यदि मै पोर्टुगल और हॉलेण्ड की भाषा जानता तो १६ वीं, १७ वीं सदी मे वहाँ भी भारत के विषय मे क्या लिखा गया है यह जान पाता। खोजने के वाद भी चालीस वर्ष पूर्व भारतीय भाषाओ मे इस प्रकार के वर्णन नहीं मिले।

हमे तो गत दो तीन हज़ार वर्ष के भारत और उसके समाज को समझने की आवश्यकता है। हम जब उस तरह से समझेगे तभी भारतीय समाज की पारम्परिक व्यवस्थाओ, तत्रो, कुशलताओ और आज की अपनी आवश्यकताओ और अपनी क्षमता के अनुसार पुन स्थापना की रीति भी जान लेगे और समझ लेगे।

भारत बहुत विशाल देश है। चार पॉच हजार वर्षो मे पडोसी देश - ब्रह्मदेश, श्रीलका, चीन, जापान, कोरिया, मगोलिया, इड़ोनेशिया, वियतनाम, कम्बोड़िया, मलेशिया, अफगानिस्तान, ईरान आदि के साथ उसका घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। भारतीयो का स्वभाव और उनकी मान्यताऍ उन देशो के साथ बहुत मिलती जुलती है। सन् १५०० के बाद एशिया पर यूरोप का प्रभाव बढा उसके बाद उन सभी पडोसी देशो के साथ की पारस्परिकता लगभग समाप्त हो गई है। उसे पुन स्थापित करना जरूरी है। इसी प्रकार यूरोप, खासकर इग्लैण्ड और अमेरिका के साथ तीन सौ चार सौ वर्षो से जो सम्बन्ध बढे हैं उनका भी समझ बूझकर फिर से मूल्याकन करना जरूरी है। यह हमारे लिए और उनके लिए भी श्रेयस्कर होगा। देशो को बिना जरूरत से एक दूसरे के अधिक निकट लाना अथवा एक देश दूसरे देश की ओर ही देखता रहे यह भविष्य की दृष्टि से भी कष्टदायी साबित हो सकता है।

मकरसक्राति
१४, जनवरी २००५
पौष शुद ५, युगाब्द ५१०६

धर्मपाल
आश्रम प्रतिष्ठान
सेवाग्राम
जिला वर्धा (महाराष्ट्र)

---

१ यह प्रस्तावना गुजराती अनुवाद के लिये लिखी गई है। हिन्दी अनुवाद के लिये श्री धर्मपालजी की ही सूचना के अनुसार उसे यथावत् रखा है मूल प्रस्तावना हिन्दी में ही है गुजराती के लिये उसका अनुवाद किया गया था। - स

सम्पादकीय

१

सन् १९९२ के जनवरी मास मे चैन्नई मे विद्याभारती का प्रधानाचार्य सम्मेलन था। उस सम्मेलन मे श्री धर्मपालजी पधारे थे। उस समय पहली बार The Beautiful Tree के विषय मे कुछ जानकारी प्राप्त हुई। दो वर्ष बाद कोईम्बतूर मे यह पुस्तक खरीद की और पढी। पढकर आश्चर्य और आघात दोनो का अनुभव हुआ। आश्चर्य इस बात का कि हम इतने वर्षो से शिक्षा क्षेत्र मे कार्यरत है तो भी इस पुस्तक मे निरूपित तथ्यो की लेशमात्र जानकारी हमे नहीं है। आघात इस बात का कि शिक्षा विषयक स्थिति ऐसी दारुण है तो भी हम उस विषय मे कुछ कर नहीं रहे है। जो चल रहा है उसे सह लेते है और उसे स्वीकृत बात ही मान लेते है ।

तभी से उस पुस्तक का प्रथम हिन्दी मे और बाद मे गुजराती मे अनुवाद करके अनेकानेक कार्यकर्ताओ और शिक्षको तक उसे पहुँचाने का विचार मन मे बैठ गया। परन्तु वर्ष के बाद वर्ष बीतते गये। प्रवास की निरन्तरता और अन्यान्य कार्यो मे व्यस्तता के कारण मन मे स्थित विचार को मूर्त स्वरूप दे पाने का अवसर नहीं आया। इस बीच विद्या भारती विदर्भ ने इसका सक्षिप्त मराठी अनुवाद प्रकाशित किया। 'भारतीय चित्त, मानस एव काल', 'भारत का स्वधर्म' जैसी पुस्तिकाये भी पढने मे आयीं। अनेक कार्यकर्ता भी इसका अनुवाद होना चाहिये ऐसी बात करते रहे। इस बीच पूजनीय हितरुचि विजय महाराजजी ने गोवा के 'द अदर इड़िया बुक प्रेस' द्वारा प्रकाशित पाच पुस्तकों का सच दिया और पढने के लिये आग्रह भी किया। इन सभी बातो के निमित्त से अनुवाद भले ही नहीं हुआ परन्तु अनुवाद का विचार मन मे जाग्रत ही रहा। उसका निरन्तर पोषण भी होता रहा। चार वर्ष पूर्व मुझे विद्याभारती की राष्ट्रीय विद्वत् परिषद के सयोजक का दायित्व मिला। तब मन मे इस अनुवाद के विषय मे निश्चय सा हुआ। उस विषय में कुछ ठोस बाते होने लगीं। अन्त मे पुनरुत्थान ट्रस्ट इस अनुवाद का प्रकाशन करेगा ऐसा निश्चय युगाब्द ५१०६ की व्यास पूर्णिमा को हुआ। सर्व प्रथम तो यह अनुवाद

हिन्दी मे ही होना था। उसके बाद हिन्दी एव गुजराती दोनो भाषओ मे करने का विचार हुआ। परन्तु इस कार्य के व्याप को देखते हुए लगा कि दोनो कार्य एक साथ नहीं हो पायेगे। एक के बाद एक करने पड़ेगे।

साथ ही ऐसा भी लगा कि यह केवल प्रकाशन के लिये प्रकाशन, अनुवाद के लिये अनुवाद तो है नहीं। इसका उपयोग विद्वज्जन करे और हमारे छात्रो तक इन बातो को पहुँचाने की कोई ठोस एव व्यापक योजना बने इस हेतु से इस सामग्री का भारतीय भाषाओ मे होना आवश्यक है। ऐसे ही कार्यो को यदि चालना देनी है तो प्रथम इसका क्षेत्र सीमित करके ध्यान केन्द्रित करना पडेगा। इस दृष्टिसे प्रथम इसका गुजराती अनुवाद प्रकाशित करना ही अधिक उपयोगी लगा।

निर्णय हुआ और तैयारी प्रारम्भ हुई। सर्व प्रथम श्री धर्मपालजी की अनुमति आवश्यक थी। हम उन्हे जानते थे परन्तु वे हमे नहीं जानते थे। परन्तु हमारे कार्य, हमारी योजना और हमारी तैयारी जब उन्होने देखी तब उन्होने अनुमति प्रदान की। साथ ही उन्होने अपनी और पुस्तको के विषय मे भी बताया। इन सभी पुस्तको के अनुवाद का सुझाव भी दिया।

हम फिर बैठे। फिर विचार हुआ। अन्त मे निर्णय हुआ कि जब कर ही रहे हैं तो काम पूरा ही किया जाय।

इस प्रकार एक से पाच और पाच से ग्यारह पुस्तको के अनुवाद की योजना आखिर बन गई।

योजना तो बन गई परन्तु आगे का काम बडा विस्तृत था। भिन्न भिन्न प्रकाशको द्वारा प्रकाशित मूल अग्रेजी पुस्तके प्राप्त करना, उन्हे पढना, उनमे से चयन करना, अनुवादक निश्चित करना आदि समय लेनेवाला काम था। अनुवादक मिलते गये, कई पक्के अनुवादक खिसकते गये, अनेपक्षित रूप से नये मिलते गये और अन्त मे पुस्तक और अनुवादको की जोडी बनकर कार्य प्रारम्भ हुआ और सन २००५ और युगाब्द ५१०६ की वर्ष प्रतिपदा को कार्य सम्पन्न भी हो गया। १६ अप्रैल २००५ को राष्ट्रीय स्वयसेवक सघ के परम पूजनीय सरसघचालक माननीय सुदर्शनजी एव स्वय श्री धर्मपालजी की उपस्थिति में तथा अनेपक्षित रूप से बडी सख्या मे उपस्थित श्रोतासमूह के मध्य इन गुजराती पुस्तको का लोकार्पण हुआ।

प्रकाशन के बाद भी इसे अच्छा प्रतिसाद मिला। विद्यालयों, महाविद्यालयो, विश्वविद्यालयो, ग्रन्थालयो में एव विद्वज्जनो तक इन पुस्तको को पहुँचाने मे हमे पर्याप्त सफलता प्राप्त हुई। साथ ही साथ महाविद्यालयों एव विद्यालयो के अध्यापको एव

प्रधानाचार्यो के बीच इन पुस्तको को लेकर गोष्ठियो का आयोजन भी हुआ।

इसके बाद सभी ओर से हिन्दी अनुवाद प्रकाशित करने का आग्रह बढने लगा। स्वय श्री धर्मपालजी भी इस कार्य के लिये प्रेरित करते रहे। अनेक वरिष्ठजन भी पूछताछ करते रहे। अन्त मे इन ग्रन्थो के हिन्दी अनुवाद का प्रकाशन तय हुआ। गुजराती अनुवाद कार्य का अनुभव था इसलिये अनुवादक ढूँढने मे इतनी कठिनाई नहीं हुई। सौभाग्य से अच्छे लोग सरलता से मिलते गये और कार्य सम्पन्न होता गया। आज यह आपके सामने है।

इस सच मे कुल दस पुस्तके है। (१) भारतीय चित्त, मानस एव काल (२) १८ वीं शताब्दी मे भारत मे विज्ञान एव तत्रज्ञान (३) भरतीय परम्परा मे असहयोग (४) रमणीय वृक्ष १८ वीं शताब्दी मे भारतीय शिक्षा (५) पचायत राज एव भारतीय राजनीति तत्र (६) भारत मे गोहत्या का अग्रेजी मूल (७) भारत की लूट एव बदनामी (८) गाधी को समझे (९) भारत की परम्परा एव (१०) भारत का पुनर्बोध। सर्व प्रथम पुस्तक '१८ वीं शताब्दी मे भारत मे विज्ञान एव तत्रज्ञान' १९७१ मे प्रकाशित हुई थी और अन्तिम पुस्तक 'भारत का पुनर्बोध' सन् २००३ मे। इनके विषय मे तैयारी तो सन् १९६० से ही प्रारम्भ हो गई थी। इस प्रकार यह ग्रथसमूह चालीस से भी अधिक वर्षों के निरन्तर अध्ययन एव अनुसन्धान का परिणाम है।

२

विश्व मे प्रत्येक राष्ट्र की अपनी एक विशिष्ट पहचान होती है। यह पहचान उसकी जीवनशैली, परम्परा, मान्यताओ, दैनन्दिन व्यवहार आदि के द्वारा निर्मित होती है। उसे ही सस्कृति कहते हैं।

सामान्य रूप से विश्व मे दो प्रकार की विचारशैली, व्यवहारशैली दिखती है। एक शैली दूसरो को अपने जैसा बनाने की आकाक्षा रखती है। अपने जैसा ही बनाने के लिए यह जबर्दस्ती, शोषण, कत्लेआम आदि करने में भी हिचकिचाती नहीं, यहा तक की ऐसा करने मे दूसरा समाप्त हो जाय तो भी उसे परवाह नहीं। दूसरी शैली ऐसी है जो सभी के स्वत्व का समादर करती है, उनके स्वत्व को बनाए रखने में सहायता करती है। ऐसा करने मे दोनो एक दूसरे स प्रभावित होती है और सहज परिवर्तन होता रहता है फिर भी स्वत्व बना रहता है।

यह तो स्पष्ट है कि इन दोनो मे से पहली यूरोपीय अथवा अमेरिकी शैली है तो दूसरी भारतीय। इन दोनो के लिए क्रमश 'पाश्चात्य' और 'प्राच्य' ऐसी अधिक व्यापक

सज्ञा का प्रयोग हम करते है।

यह तो सर्वविदित है कि भारतीय सस्कृति विश्व मे अति प्राचीन है। केवल प्राचीन ही नहीं तो समृद्ध, सुव्यवस्थित, सुसस्कृत और विकसित भी है।

परन्तु आज से ५०० वर्ष पूर्व यूरोप ने विस्तार करना शुरू किया । समग्र विश्व मे फैल जाने की उसको आकाक्षा थी। विश्व के अन्य देशो के साथ भारत भी उसका लक्ष्य था। इग्लैण्ड मे ईस्ट इडिया कम्पनी बनी। वह भारत मे आई। समुद्रतटीय प्रदेशो मे उसने अपने व्यापारिक केन्द्र बनाए। उन केन्द्रो को किले का नाम और रूप दिया, उनमे सैन्य भी रखा, धीरे धीरे व्यापार के साथ साथ प्रदेश जीतने और अपने कब्जे मे लेने का काम शुरू किया, साथ ही साथ ईसाईकरण भी शुरू किया। सन् १८२० तक लगभग सम्पूर्ण भारत अग्रेजो के कब्जे मे चला गया।

भारत को अपने जैसा बनाने के लिए अग्रेजो ने यहॉ की सभी व्यवस्थाओ-प्रशासकीय और शासकीय, सामाजिक और सास्कृतिक, आर्थिक और व्यावसायिक, शैक्षणिक और नागरिक को तोड़ना शुरू किया। उन्होने नए कायदे कानून बनाए, नई व्यवस्थाएँ बनाई, सरचनाओ का निर्माण किया, नई सामग्री और नई पद्धति की रचना की और जबरदस्ती से उसका अमल भी किया। यह भी सच है कि उन्होने भारत मे आकर जो कुछ किया उसमे से अधिकाश तो इग्लैण्डमे अस्तित्व मे था। इसके कारण भारत दरिद्र होता गया। भारत मे वर्ग सघर्ष पैदा हुए। लोगो का आत्मसम्मान और गौरव नष्ट हो गया। मौलिकता और सृजनशीलता कुठित हो गई, मूल्यो का ह्रास हुआ। मानवीयता का स्थान यात्रिकता ने लिया और सर्वत्र दीनता व्याप्त हो गई। लोग स्वामी के स्थान पर दास बन गए। एक ऐसे विराट, राक्षसी, अमानुषी व्यवस्था के पुर्जे बन गये जिसे वे बिल्कुल मानते नहीं, समझते नहीं और स्वीकार भी करते नहीं थे, क्योकि यह उनके स्वभाव के अनुकूल नहीं था।

भारत की शिक्षाव्यवस्था की उपेक्षा करते करते उसे नष्ट कर उसके स्थान पर यूरोपीय शिक्षा लागू करने, प्रतिष्ठित करने का कार्य भारत को तोडने की प्रक्रिया में सिरमौर था। क्योकि यूरोपीय शिक्षाप्राप्त लोगो के विचार, मानस, व्यवहार, दृष्टिकोण सभी कुछ बदलने लगा। उसका परिणाम सर्वाधिक शोचनीय और घातक हुआ। हमे गुलामी रास आने लगी। दैन्य अखरना बन्द हो गया। अग्रेजो का दास बनने मे ही हमे गौरव का अनुभव होने लगा। जो भी यूरोपीय है वह विकसित है, आधुनिक है, श्रेष्ठ है और जो भी अपना है वह निकृष्ट है, हीन है और लज्जास्पद है, गया बीता है ऐसा हमे लगने लगा। अपनी शिक्षण सस्थाओं में हम यही मानसिकता और यही विचार एक के

बाद एक आनेवाली पीढी को देते गए। इस गुलामी की मानसिकता के आगे अपनी विवेकशील और तेजस्वी बुद्धि भी दब गई। यूरोपीय, या यूरोपीय जैसा बनना ही हमारी आकाक्षा बन गई। देश को वैसा ही बनाने का प्रयास हम करने लगे। अपनी सरचनाएँ, पद्धतिया, सस्थाएँ वैसी ही बन गई।

गाधीजी १९१५ मे दक्षिण अफ्रिका से भारत आए तब भारत ऐसा था। उन्होने जनमानस को जगाया, उसमे प्राण फूके, उसकी भावनाओ को अपने वाणी और व्यवहार मे अभिव्यक्त कर, भारत के लिए योग्य हजारो वर्षो की परम्परा के अनुसार व्यवस्थाओ, गतिविधियो और पद्धतियो को प्रतिष्ठित किया और भारत को फिर से भारत बनाने का प्रयास किया। स्वतत्रता के साथ साथ स्वराज को भी लाने के लिए वे जूझे।

परतु स्वतत्रता मात्र सत्ता का हस्तान्तरण (Transfer of Power) ही बन कर रह गया। उसके साथ स्वराज नहीं आया। सुराज्य की तो कल्पना भी नहीं कर सकते।

आज की अपनी सारी अनवस्था का मूल यह है। हम अपनी जीवनशैली चाहते ही नहीं है। स्वतत्र भारत मे भी हम यूरोप अमेरिका की ओर मुँह लगाये बेठे है। यूरोप के अनुयायी बनना ही हमे अच्छा लगता है।

परन्तु, यह क्या समग्र भारत का सच है ? नहीं, भारत की अस्सी प्रतिशत जनसख्या यूरोपीय विचार और शैली जानती भी नहीं और मानती भी नहीं है। उसका उसके साथ कुछ लेना देना भी नहीं है। उनके रीतिरिवाज, मान्यताए, पद्धतिया, सब वैसी की वैसी ही है। केवल शिक्षित लोग उन्हे पिछड़े और अधविश्वासी कहकर आलोचना करते है, उन्हे नीचा दिखाते है और अपने जैसा बनाना चाहते है। यही उनकी विकास और आधुनिकताकी कल्पना है।

भारत वस्तुत तो उन लोगो का बना हुआ है, उन का है। परन्तु जो बीस प्रतिशत लोग हैं वे भारत पर शासन करते है। वे ही कायदे-कानून बनाते हैं और न्याय करते हैं, वे ही उद्योग चलाते हैं और कर योजना करते है। वे ही पढाते है और नौकरी देते हैं, वे ही खानपान, वेशभूषा, भाषा और कला अपनाते है (जो यूरोपीय है) और उनको विज्ञापनो के माध्यम से प्रतिष्ठित करते हैं। यहाँ के अस्सी प्रतिशत लोगो को वे पराये मानते है, बोझ मानते हैं, उनमे सुधार लाना चाहते है और वे सुधरते नहीं इसलिए उनकी आलोचना करते हैं। वे लोग स्वय तो यूरोपीय जैसे बन ही गए है, दूसरो को भी वैसा ही बनाना चाहते हैं। वे जैसे कि भारत को यूरोप के हाथो बेचना ही चाहते हैं, जिन लोगो का भारत है वे तो उनकी गिनती मे ही नहीं है।

इस परिस्थिति को हम यदि बदलना चाहते हैं तो हमे अध्ययन करना होगा -

स्वय का, अपने इतिहास का और अपने समाज का। भारत को तोड़ने की प्रक्रिया को जानना और समझना पड़ेगा। भारत का भारतीयत्व क्या है, किसमे है, किस प्रकार बना हुआ है यह सब जानना और समझना पडेगा। मूल बातो को पहचानना होगा। देश के अस्सी प्रतिशत लोगो का स्वभाव, उनकी आकाक्षाएँ, उनकी व्यवहारशैली को जानना और समझना पडेगा। उनका मूल्याकन पश्चिमी मापदण्डो से नहीं अपितु अपने मापदण्डा से करना पडेगा। उसका रक्षण, पोषण और सवर्धन कैसे हो यह देखना पडेगा। भारत के लोगो मे साहस, सम्मान, आत्मगौरव जाग्रत करना पड़ेगा। भारत के पुनरुत्थान मे उनकी बुद्धि, भावना, कर्तृत्वशक्ति और कुशलताओ का उपयोग कर उन्हे सच्चे अर्थ मे सहभागी बनाना पडेगा। यह सब हमे पाश्चात्य प्रकार की युनिवर्सिटियो से नहीं अपितु सामान्य, 'अशिक्षित', 'अर्धशिक्षित' लोगो से सीखना होगा।

आज भी यूरोप बनने की इच्छा करनेवाला भारत जोरो से प्रयास कर रहा है और कुठाओ का शिकार बन रहा है। भारतीय भारत उलझ रहा है, छटपटा रहा है, और शोषित हो रहा है। भाग्य केवल इतना है कि क्षीणप्राण होने पर भी भारतीय भारत गतप्राण नहीं हुआ है। इसलिए अभी भी आशा है - उसे सही अर्थ मे स्वाधीन बनाकर समृद्ध और सुसस्कृत बनाने की।

३

धर्मपालजी की इन पुस्तको मे इन सभी प्रक्रियाओ का क्रमबद्ध, विस्तृत निरूपण किया गया है। अग्रेज भारत मे आए उसके बाद उन्होने सभी व्यवस्थाओ को तोड़ने के लिए किन चालबाजियो को अपनाया, कैसा छल और कपट किया, कितने अत्याचार किए और किस प्रकार धीरे धीरे भारत टूटता गया, किस प्रकार बदलती परिस्थितियो का अवशता से स्वीकार होता गया उसका अभिलेखो के प्रमाणो सहित विवरण इन ग्रथो मे मिलता है। इग्लैण्ड के और भारत के अभिलेखागारो मे बैठकर, रात दिन उसकी नकल उतार लेने का परिश्रम कर धर्मपालजी ने अग्रेज क्लेक्टरो, गवर्नरो, वाइसरायो ने लिखे पत्रो, सूचनाओ और आदेशो को एकत्रित किया है, उनका अध्ययन कर के निष्कर्ष निकाले है और एक अध्ययनशील और विद्वान व्यक्ति ही कर सकता है ऐसे साहस से स्पष्ट भाषा मे हमारे लिये प्रस्तुत किया है। लगभग चालीस वर्ष के अध्ययन और शोध का यह प्रतिफल है।

परन्तु इसके फलस्वरूप हमारे लिए एक बडी चुनौती निर्माण होती है, क्योकि -

- आजकल विश्वविद्यालयो मे पढ़ाए जाने वाले इतिहास से यह इतिहास भिन्न

है। हम तो अग्रेजो द्वारा तैयार किए और कराए गए इतिहास को पढते है। यहॉ अग्रेजो ने ही लिखे लेखो के आधार पर निरूपित इतिहास है।

- विज्ञान और तत्रज्ञान की जो जानकारी उसमे है वह आज पढाई ही नहीं जाती।
- कृषि, अर्थव्यवस्था, करपद्धति, व्यवसाय, कारीगरी आदि की अत्यत आश्चर्यकारक जानकारिया उसमे है। भारत को आर्थिक रूप मे बेहाल और परावलम्बी बनानेवाला अर्थशास्त्र आज हम पढते है। यहॉ दी गई जानकारियो मे स्वाधीन भारत को स्वावलम्बन के मार्ग पर चल कर समृद्धि की ओर ले जानेवाले अर्थशास्त्र के मूल सिद्धातो की सामग्री हमे प्राप्त होती है।
- व्यक्ति को किस प्रकार गौरवहीन बनाकर दीनहीन बना दिया जाता है इसका निरूपण है, साथ ही उस सकट से कैसे निकला जा सकता है उसके सकेत भी हैं।
- सस्कृति और समाजव्यवस्था के मानवीय स्वरूप पर किस प्रकार आक्रमण होता है, किस प्रकार उसे यत्र के अधीन कर दिया जाता है इसका विश्लेषण यहॉ है। साथ ही उसके शिकार बनने से कैसे बचा जा सकता है, उसके लिए दृढता किस प्रकार प्राप्त होती है इसका विचार भी प्राप्त होता है।

यह सब अपने लिए चुनौती इस रूप मे है कि आज हम अनेक प्रकार से अज्ञान से ग्रस्त हैं।

हमारा अज्ञान कैसा है ?

- शिक्षण विषय के वरिष्ठ अध्यापक सहजरूप से मानते है कि अग्रेज आए और अपने देश मे शिक्षा आई। उन्हे जब यह कहा गया कि १८ वीं शती मे भारत मे लाखो की सख्या मे प्राथमिक विद्यालय थे, और चार सौ की जनसख्या पर एक विद्यालय था, तो वे उसे मानने के लिए तैयार नहीं थे। उन्हे जब 'The Beautiful Tree' दिखाया गया तो उन्हे आश्चर्य हुआ (परन्तु रोमाच अथवा आनन्द नहीं हुआ।)
- शिक्षाधिकारी, शिक्षासचिव, शिक्षा महाविद्यालय के अध्यापक अधिकाशत इन बातो से अनभिज्ञ है। कुछ जानते भी है तो यह जानकारी बहुत ही सतही है।

यह अज्ञान सार्वत्रिक है, केवल शिक्षा विषयक ही नहीं अपितु सभी विषयो मे है।

इसका अर्थ यह हुआ कि हम स्वय को ही नहीं जानते, अपने इतिहास को नहीं जानते, स्वय को हुई हानि को नहीं जानते और अज्ञानियो के स्वर्ग मे रहते हैं। यह स्वर्ग भी अपना नहीं है। उस स्वर्ग मे भी हम गुलाम है और पश्चिममुखापेक्षी, पराधीन वनकर रह रहे है।

४

इस सकट से मुक्त होना है तो मार्ग है अध्ययन का। धर्मपालजी की पुस्तके अपने पास अध्ययन की सामग्री लेकर आई है, हम सो रहे है तो हमे जगाने के लिए आई है, जाग्रत है तो झकझोरने के लिए आई हैं, दुर्वल है तो सवल बनाने के लिए आई है, क्षीणप्राण हुए है तो प्राणवान बनाने के लिए आई है।

ये पुस्तके किसके लिए है ?

ये पुस्तके इतिहास, अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, शिक्षाशास्त्र, जिसे आज की भाषा मे ह्यूमेनिटीज़ कहते हैं, उसके विद्वानो, चिन्तको, शोधको, अध्यापको और छात्रो के लिए हैं।

ये पुस्तकें भारत को सही मायने मे स्वाधीन, समृद्ध, सुसस्कृत, बुद्धिमान और कर्तृत्ववान बनाने की आकाक्षा रखने वाले बौद्धिको, सामान्यजनो, सस्थाओ, सगठनो और कार्यकर्ताओ के लिए हैं।

ये पुस्तके शोध करने वाले विद्वानो और शोधछात्रो के लिए है।

प्रश्न यह है कि इन पुस्तको को पढने के बाद क्या करे ?

धर्मपालजी स्वय कहते है कि पढकर केवल प्रशसा के उद्‌गार, अथवा पुस्तको की सामग्री एकत्रित करने के परिश्रम के लिए लेखक को शाबाशी देना पर्याप्त नहीं है। उससे अपना सकट दूर नहीं होगा।

आवश्यकता है इस दिशा मे शोध को आगे बढाने की, भारत की १८ वीं, १९ वीं शताब्दी से सम्बन्धित दस्तावेजो मे से कदाचित पाच सात प्रतिशत का ही अध्ययन इस मे हुआ है। अभी भी लन्दन के, भारत की केन्द्र सरकार के तथा राज्यो के अभिलेखागारो मे ऐसे असख्य दस्तावेज अध्ययन की प्रतीक्षा मे है। उन सभी का अध्ययन और शोध करने की योजना महाविद्यालयो, विश्वविद्यालयो, शैक्षिक सगठनो और सरकार ने करना आवश्यक है। आवश्यकता के अनुसार इस कार्य के लिए अध्ययन और शोध की स्थानीय और देशी प्रकार की सस्थाए भी बनाई जा सकती है।

इसके लिए ऐसे अध्ययनशील छात्रो की आवश्यकता है। इन छात्रो को मार्गदर्शन तथा सरक्षण प्राप्त हो यह देखना चाहिये।

साथ ही एक साहसपूर्ण कदम उठाना जरूरी है। विश्वविद्यालयो, और महाविद्यालयो के इतिहास, समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र आदि विषयो के अध्ययन मण्डल (बोर्ड ऑफ स्टडीज) और विद्वत् परिषदो (एकेडमिक काउन्सिल) मे इन विषयो पर चर्चा होनी चाहिए, और पाठ्यक्रमो मे इसके आधार पर परिवर्तन करना चाहिए। युनिवर्सिटी ग्रन्थ निर्माण बोर्ड इसके आधार पर सन्दर्भ पुस्तके तैयार कर सकते है। ऐसा होगा तभी आनेवाली पीढी को यह जानकारी प्राप्त होगी। यह केवल जानकारी का विषय नहीं है, यह परिवर्तन का आधार भी बनना चाहिए। आवश्यकता पडने पर इसके लिए व्यापक चर्चा जहा सम्भव है ऐसी गोष्ठियो एव चर्चा सत्रो का आोयजन करना चाहिए।

इसके आधार पर रूपान्तरण कर के जनसामान्य तक ये बाते पहुँचानी चाहिए। कथाएँ, नाटक, चित्र, प्रदर्शनी तैयार कर उस सामग्री का प्रचार-प्रसार किया जा सकता है। इससे जनसामान्य के मन मे स्थित सुषुप्त भावनाओ और अनुभूतियो का यथार्थ प्रतिभाव प्राप्त होगा।

माध्यमिक और प्राथमिक विद्यालय मे पढ़ने वाले किशोर और बाल छात्रो के लिए उपयोगी वाचनसामग्री इसके आधर पर तैयार की जा सकती है।

ऐसा एक प्रबल बौद्धिक जनमत तैयार करने की आवश्यकता है जो इसके आधार पर सस्थाएँ निर्माण करे, चलाये, व्यवस्था का निर्माण करे। या तो सरकार के या सार्वजनिक स्तर पर व्यवस्था बदलने की, और नहीं तो सभी व्यवस्थाओ को अपने नियत्रण से मुक्त कर जनसामान्यके अधीन करने की अनिवार्यता निर्माण करे। सच्चा लोकतत्र तो यही होगा।

बन्धन और जकड़न से जन सामान्य की बुद्धि को मुक्त करनेवाली, लोगो के मानस, कौशल, उत्साह और मौलिकता को मार्ग देने वाली, उनमे आत्मविश्वास का निर्माण करनेवाली और उनके आधार पर देश को फिर से उठाया और खड़ा किया जा सके इस हेतु उसका स्वत्व और सामर्थ्य जगानेवाली व्यापक योजना बनाने की आवश्यकता है।

इन पुस्तको के प्रकाशन का यह प्रयोजन है।

५

श्री धर्मपालजी गाधीयुग मे जन्मे, पले। गाधीयुग के आन्दोलनो मे उन्होने भाग लिया, रचनात्मक कार्यकमो में भाग लिया, मीराबहन के साथ बापूग्राम के निर्माण मे वे सहभागी बने।

महात्मा गाधी के देशव्यापी ही नहीं, तो विश्वव्यापी प्रभाव के वाद भी गाधीजी के अतिनिकट के, अतिविश्वसनीय, गाधीभक्त कहे जाने वाले लोग भी उन्हे नहीं समझ सके, कुछ ने तो उन्हे समझने का प्रयास भी नहीं किया, कुछ ने उन्हे समझा फिर भी उन्हे दरकिनार कर सत्ता का स्वीकार कर भारत को यूरोप के तत्रानुरूप ही चलाया। उन नेताओ के जैसे ही विचार के लगभग दो चार लाख लोग १९४७ मे भारत मे थे (आज उनकी सख्या शायद पॉच दस करोड़ हो गई है)। यह स्थिति देखकर उनके मन मे जो मथन जागा उसने उन्हे इस अध्ययन के लिये प्रेरित किया। लन्दन के और भारत के अभिलेखागारो मे से उन्होने असख्य दस्तावेज एकत्रित किए, पढे, उनका अध्ययन किया, विश्लेषण किया और १८ वीं तथा १९ वीं शताब्दी के भारत का यथार्थ चित्र हमारे समक्ष प्रस्तुत किया। जीवन के पचास साठ वर्ष वे इस साधना मे रत रहे।

ये पुस्तके मूल अग्रेजी मे है। उनका व्यापक अध्ययन होने के लिए ये भारतीय भाषाओ मे हो यह आवश्यक ही नहीं अनिवार्य भी है। कुछ लेख हिन्दी मे है और 'जनसत्ता' आदि दैनिक मे और 'मथन' आदि सामयिको मे प्रकाशित हुए हैं । मराठी, तेलुगु, कन्नड आदि भाषाओ मे कुछ अनुवाद भी हुआ है परन्तु सपूर्ण और समग्र प्रयास तो गुजराती मे ही प्रथम हुआ है। और अब हिन्दी मे हो रहा है।

इस व्यापक शैक्षिक प्रयास का यह अनुवाद एक प्रथम चरण है।

६

इस ग्रन्थ श्रेणी मे विविध विषय है। इसमे विज्ञान और तत्रज्ञान है, शासन और प्रशासन है, लोकव्यवहार और राज्य व्यवहार है, कृषि, गोरक्षा, वाणिज्य, अर्थशास्त्र नागरिक शास्त्र भी है। इसमे भारत, इग्लैड और अमेरिका है। परन्तु सभी का केन्द्रबिन्दु है गाधीजी, कोग्रेस, सर्वसामान्य प्रजा और ब्रिटिश शासन।

और उनके भी केन्द्र मे है भारत।

अत एक ही विषय विभिन्न रूपो मे, विभिन्न सदर्भो के साथ चर्चा मे आता रहता है। और फिर विभिन्न समय मे, विभिन्न स्थान पर, भिन्न भिन्न प्रकार के श्रोताओ के सम्मुख और विभिन्न प्रकार की पत्रिकाओ के लिये भाषण और लेख भी यहा समाविष्ट हैं। अत एक साथ पढने पर उसमे पुनरावृत्ति दिखाई देती है-विचारोकी, घटनाओ की, दृष्टान्तो की। सम्पादन करते समय पुनरावृत्ति को यथासम्भव कम करने का प्रयास किया है। इसीके परिणाम स्वरुप गुजराती प्रकाशन मे ११ पुस्तके थीं और हिन्दी मे १० हुई हैं। परतु विषय प्रतिपादन की आवश्यकता देखते हुए पुनरावृत्ति कम करना हमेशा सभव नहीं हुआ है।

फिर, सर्वथा पुनरावृत्ति दूर कर उसे नये ढग से पुनर्व्यवस्थित करना तो वेदव्यास

का कार्य हुआ। हमारे जैसे अल्प क्षमतावान लोगो के लिये यह अधिकारक्षेत्र के बाहर का कार्य है।

अत सुधी पाठको के नीरक्षीर विवेक पर भरोसा करके सामग्री यथातथ स्वरूप मे ही प्रस्तुत की है।

यहा दो प्रकार की सामग्री है। एक है प्रस्तुत विषय से प्रत्यक्ष रूप से सम्बन्धित यूरोप के अधिकारियो और बौद्धिकोने प्रत्यक्षदर्शी प्रमाणो एव स्वानुभव के आधार पर, विभिन्न प्रयोजन से प्रेरित होकर प्रस्तुत की हुई भारत विषयक जानकारी, और दूसरी है धर्मपालजीने इस सामग्री का किया हुआ विश्लेषण, उससे प्राप्त निष्कर्ष और उससे प्रकाशित ब्रिटिशरो के कार्यकलापो का, कारनामो का अन्तरग।

इसमे प्रयुक्त भाषा दो सौ वर्ष पूर्व की अग्रेजी भाषा है, सरकारी तत्र की है, गैर साहित्यिक अफसरो की है, उन्होने भारत को जैसा जाना और समझा वैसा उसका निरूपण करनेवाली है। और धर्मपालजी की स्वय की भाषा भी उससे पर्याप्त मात्रा मे प्रभावित है।

फलत पढते समय कहीं कहीं अनावश्यक रूप से लम्बी खींचनेवाली शैली का अनुभव आता है तो आश्चर्य नहीं।

और एक बात।

अग्रेजो ने भारत के विषय मे जो लिखा वह हमारे मन मस्तिष्क पर इस प्रकार छा गया है कि उससे अलग अथवा उससे विपरीत कुछ भी लिखे जाने पर कोई उसे मानेगा ही नहीं यह भी सम्भव है। इसलिए यहॉ छोटी से छोटी बात का भी पूरा पूरा प्रमाण देने का प्रयास किया गया है। साथ ही इतिहास लेखन का तो यह सूत्र ही है कि नामूल लिख्यते किञ्चित् - बिना प्रमाण तो कुछ भी लिखा ही नहीं जाता। परिणामत यहॉ शैली आज की भाषा मे कहा जाए तो सरकारी छापवाली और पाडित्यपूर्ण है, शोध करनेवाले अध्येता की है।

प्रमाणो के विषयमें तो आज भी स्थिति यह है कि इसमे ब्रिटिशरो के स्वय के द्वारा दिये गये प्रमाण हैं इसलिये पाठको को मानना ही पडेगा इस विषय मे हम आश्वस्त रह सकते है। (आज भी उसका तो इलाज करना जरूरी है।)

साथ ही, पाठको का एक वर्ग ऐसा है जो भारत के विषय मे भावात्मक, या भक्तिभाव पूर्ण बाते पढने का आदी है, अथवा वैश्विक परिप्रेक्ष्य मे लिखा गया, अर्थात् अमेरिका के दृष्टिकोण से लिखा गया विचार पढने का आदी है। इस परिप्रेक्ष्य मे विषय सम्बन्धी पारदर्शी, ठोस, तर्कनिष्ठ प्रस्तुति हमे इस ग्रथवाली मे प्राप्त है। अनेक विषयो

मे अनेक प्रकार से हमे बुद्धिनिष्ठ होने की आवश्यकता है इसकी प्रतीति भी हमे इसमें होती है।

७

अनुवादको तथा जिन जिन लोगो ने ये पुस्तके मूल अंग्रेजी मे पढी हैं अथवा अनुवाद के विषय मे जाना है उन सभी का सामान्य प्रतिभाव हे कि इस काम मे वहुत विलम्ब हुआ है। यह बहुत पहले होना चाहिये था। अर्थात् सभी को यह कार्य अतिमहत्त्वपूर्ण लगा है। सभी पाठको को भी ऐसा ही लगेगा ऐसा विश्वास हे।

अनुवाद का यह कार्य चुनौतीपूर्ण है। एक तो दो सौ वर्ष पूर्व की अंग्रेज अधिकारियो की भाषा, फिर भारतीय परिवेश और परिप्रेक्ष्य को अंग्रेजी मे उतारने और अपने तरीके से कहने के आयास को व्यक्त करने वाली भाषा और उसके ही रग मे रगी श्री धर्मपालजी की भी कुछ जटिल शैली पाठक और अनुवादक दोनो की परीक्षा लेनेवाली है।

साथ ही यह भी सच है कि यह उपन्यास नहीं है, गम्भीर वाचन है।

सक्षेप मे कहा जाय तो यह १८ वीं और १९ वीं शताब्दी का दो सौ वर्ष का भारत का केवल राजकीय नहीं अपितु सास्कृतिक इतिहास है।

८

इस ग्रथावलि के गुजराती अनुवाद कार्य के श्री धर्मपालजी साक्षी रहे। उसका हिन्दी अनुवाद चल रहा था तब वे समय समय पर पृच्छा करते रहे। परन्तु अचानक ही दि २४ अक्टूबर २००६ को उनका स्वर्गवास हुआ। स्वर्गवास के आठ दिन पूर्व तो उनके साथ बात हुई थी। आज हिन्दी अनुवाद के प्रकाशन के अवसर पर वे अपने बीच मे विद्यमान नहीं हैं। उनकी स्मृति को अभिवादन करके ही यह कार्य सम्पन्न हो रहा है।

९

इस ग्रथावलि के प्रकाशन मे अनेकानेक व्यक्तियो का सहयोग एव प्रेरणा रहे हैं। उन सभी के प्रति कृतज्ञता ज्ञापन करना हमारा सुखद कर्तव्य है।

अनेकानेक कार्यकर्ता एव विशेष रूप से राष्ट्रीय स्वयसेवक सघ के सहसरकार्यवाह माननीय सुरेशजी सोनी की प्रेरणा, मार्गदर्शन, आग्रह एव सहयोग के कारण से ही इस ग्रथावलि का प्रकाशन सम्भव हुआ है। अत प्रथमत हम उनके आभारी हैं।

सभी अनुवादको ने अपने अपने कार्यक्षेत्र मे अत्यन्त व्यस्त होते हुए भी समय सीमा मे अनुवाद कार्य पूर्ण किया तभी समय से प्रकाशन सम्भव हो पाया। उनके परिश्रम के लिये हम उनके आभारी है।

यह ग्रथावलि गुजरात मे प्रकाशित हो रही है। इसकी भाषा हिन्दी है। हिन्दी भाषी लोगो पर भी गुजराती का प्रभाव होना स्वाभाविक है। इसका परिष्कार करने के लिये हमे हिन्दीभाषी क्षेत्र के व्यक्तियो की आवश्यकता थी। जोधपुर के श्री भूपालजी और इन्दौर के श्री अरविद जावडेकरजी ने इन पुस्तको को साद्यन्त पढकर परिष्कार किया इसलिये हम उनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करते है।

अच्छे मुद्रण के लिये साधना मुद्रणालय ट्रस्ट के श्री भरतभाई पटेल और श्री धर्मेश पटेल ने भी जो परिश्रम किया है इसके लिये हम उनके आभारी है।

'पुनरुत्थान' के सभी कार्यकर्ता तो तनमन से इसमे लगे ही है। इन सभी के सहयोग से ही इस ग्रन्थावलि का प्रकाशन हो रहा है।

१०

सुधी पाठक देश की वर्तमान समस्याओ के निराकरण की दिशा मे विचार विमर्श करते समय, नई पीढी को इस देश के इतिहास मे अग्रेजो की भूमिका का सही आकलन करना सिखाते समय इस ग्रथावलि की सामग्री का उपयोग कर सकेगे तो हमारा यह प्रयास सार्थक होगा।

साथ ही निवेदन है कि इस ग्रथावलि मे अनुवाद या मुद्रण के दोषों की ओर हमारा ध्यान अवश्य आकर्षित करे। हम उनके बहुत आभारी होगे।

इति शुभम् ।

सम्पादक

वसन्त पचमी
युगाब्द ५१०८
२३, जनवरी २००७

विभाग १

यूरोपीय आधिपत्य के प्रारम्भ में भारतीय समाज की स्थिति और उसके दरिद्र होने की प्रक्रिया

१ भारत को पुनर्बोध प्राप्त करना ही चाहिए

२ भारत के भविष्य के लेख

३ आधुनिक भारत मे मापदण्डो और गौरव का क्षरण

४ पिछडेपन का प्रश्न

५ इतिहास की पृष्ठभूमि मे भारतीय कृषि की उत्पादकता

६ भारत मे जनगणना (१८८१-१९३१)

१. भारत को पुनर्बोध प्राप्त करना ही चाहिए

(डॉ कृष्णन से साक्षात्कार)

कृष्णन जरा टेढा प्रश्न करने के लिए मुझे क्षमा करे। प्रश्न यह है कि आपने ब्रिटिश शासन से पूर्व के, विशेष कर १८ वीं शताब्दी के उत्तरार्ध के भारतीय समाज मे रुचि क्यो ली ? यह प्रश्न मै आप से इसलिए पूछ रहा हूँ कि आप शिक्षा क्षेत्र मे कार्यरत अनुसधानकर्ता या व्यवसायी नहीं हैं।

धर्मपाल मैं आपके इस विषय को अपने ग्राम विकास स्वयसेवी सस्थाओ के सगठन (AVARD) के ससाधन के सदर्भ मे स्पष्ट करुँगा। मै इस सस्था का सचिव था। और इस सस्था का हेतु गावो मे चलनेवाली पचायतीराज प्रथा का अध्ययन करना था। इस सस्था के लिए, और इसके साथ काम करते हुए मैने जाना की भारतीय समाज अधिकाशत प्राचीन परपराओ और मान्यताओ के आधार पर काम करता था, और मै अन्य भारतीय लोगो की तरह इस प्रकार की देशी कार्यपद्धति से अनजान और अनभिज्ञ था।

मैं आपको इसका एक ठोस उदाहरण देता हूँ। एक बार राजस्थान के एक गॉव मे इस सस्था के सदस्य के नाते पचायत प्रथा का अध्ययन करने के लिए मेरा जाना हुआ। हमने देखा कि पचायत का अपना एक भवन है। हमने जब पचायत के रेकर्ड और उसकी सचालन प्रक्रिया का अध्ययन किया तो ध्यान मे आया कि पचायत के कार्यालय मे कहीं भवन निर्माण के निर्णय का कोई उल्लेख नहीं था। हमने इस विषय मे प्रश्न किया तो हमे बताया गया की भवन निर्माण का निर्णय उन्होने अपनी 'बीस्वा पचायत' मे किया था। यह पचायत एक अनधिकृत परपरागत स्तर पर चलनेवाली पचायत थी।

यह एक अत्यत दिलचस्प बात है। गॉव के लोग किस प्रकार कुछ मामलो को ग्रहण करते हैं और कैसे प्रतिभाव देते हैं यह अध्ययन करने लायक है। इस मामले ने यह भी स्पष्ट किया कि हम अपने गाँवो के विषय मे कितना कम जानते हैं। इसी प्रकार के अनुभव मुझे आध्रप्रदेश, तमिलनाडु और अन्य स्थानो पर भी हुए। सन् १९६३ से १९६५ के दौरान हमने तमिलनाडु मे पचायती प्रथा का अध्ययन किया है। मैंने

तमिलनाडु के कई जिलो का दौरा किया, कई तत्त्वज्ञो के साथ चर्चा और विचार विमर्श किया। ताजोर मे वहा के स्थानीय भारत सेवक समाज के अध्यक्ष से मै मिला। उन्होने मुझे बताया कि ताजोर क्षेत्र मे सन् १९३७ के अरसे मे सौ से भी अधिक 'समुदाय गॉव' अस्तित्व मे थे। इन गावो के प्रत्येक सदस्य का अपने गाव की जमीन मे हिस्सा था। इनमे से कोई भी जमीन जोतता परन्तु समयान्तर मे इनमे परिवर्तन होता था। सम्पूर्ण जमीन ग्रामसमाज के अधीन रहती। ऐसा परिवर्तन एक ऐसी धारणा पर आधारित था कि समयान्तर मे जमीन के उपजाऊपन मे कमी या बढोत्तरी होती रहती है। इसीलिये यदि पुन वितरण किया जाए तो समाज के सदस्यो मे असमानता नहीं होगी।

रेवन्यू रेकर्ड की जॉच करने पर मुझे मालूम हुआ कि ताजोर जिले मे ३० प्रतिशत गाव सन् १८०७ मे ऐसे समुदाय गाव थे। मै जैसे जैसे १८ वीं शताब्दी के उत्तरार्ध और १९ वीं शताब्दी के पूर्वार्ध का अध्ययन करता गया वैसे वैसे मुझे यह विश्वास होता गया कि भारतीय समाज का जो चित्र हम जानते है वह गलत है। इससे मुझे यह अनुभूति हुई कि किसी ने १८ वीं शताब्दी के उत्तरार्ध के ब्रिटिश शासन के रेकर्ड की व्यवस्थित जाच करनी चाहिए। यह काम अन्तत मैने ही किया।

कृष्णन ब्रिटिश राज्य पूर्व के भारतीय समाज के किसी निश्चित पहलू का आप अध्ययन नहीं करते थे ?

धर्मपाल मेरा उद्देश्य अग्रेज शासन पूर्व के भारतीय समाज का हर सम्भव सतर्कतापूर्ण अध्ययन करना था।

कृष्णन किन्तु मेरी जानकारी मे आपका काम १८ वीं शताब्दी के उत्तरार्ध और १९ वीं शताब्दी के पूर्वार्ध के भारतीय समाज का अध्ययन करने का है और विशेष रूप से ब्रिटिश काल के रेकर्ड मे प्राप्त जानकारी के प्रकाश मे है। इसे क्या हम ब्रिटिश शासन पूर्व का भारतीय समाज कहेगे ?

धर्मपाल बिलकुल सही। मेरा काम इस समय का ही है, क्योकि इसी समय की ही सामग्री उपलब्ध थी। विशेषत मेरा आशय भारतीय समाज पर अग्रेज शासन के प्रभाव का था, इसीलिए मुझे भारत के ब्रिटिशरो के द्वारा अधिग्रहण से प्रारम्भ करना पडा, जो सन् १७५० के लगभग एक वास्तविकता बनी हुई थी। व्यवस्थित वृत्त या रेकर्ड रखने का प्रारम्भ सन् १७५० के लगभग हुआ, क्यो कि उस समय के अग्रेज अधिकारियो ने स्वय जो कुछ देखा और सुना उसका सम्पूर्ण ब्यौरा उनके इग्लैडवासी उच्चाधिकारियो को देने की आवश्यकता उपस्थित हुई। सन् १७५० से सन् १८३० की समयावधि मे प्राप्त होनेवाली सामग्री सन् १८५० के बाद प्राप्त होनेवाली सामग्री की अपेक्षा अधिक

विस्तृत थी। प्रारम्भिक समय की सामग्री और वृत्त अधिक सम्पूर्ण और स्वतन्त्र था। जैसे जैसे अग्रेज सरकार को भारत से सम्बधित बुनियादी जानकारी प्राप्त होती गई वैसे वैसे उन्होने जानकारी निश्चित निर्धारित स्वरूप के ढाचे मे मगवाना प्रारम्भ किया।

कृष्णन क्या वास्तव मे यह परिवर्तन ईस्ट इडिया कपनी के शासन के माध्यम से भारत मे अग्रेज शासन के कारण था ?

धर्मपाल मेरा मत है कि ईस्ट इडिया कपनी और अग्रेज शासन काल के बीच अन्तर नहीं है। वास्तव मे सन् १७८४ से भारत के सन्दर्भ मे कोई भी निर्णय लेने मे ईस्ट इडिया कपनी की भूमिका लगभग न के बराबर थी। निर्णय लेने का और विशेष महत्त्वपूर्ण सूचनाए देने का दायित्व सन् १७८४ मे अग्रेज ससद द्वारा पारित एक प्रस्ताव के परिणामस्वरूप स्थापित की गई सस्था 'भारत से सम्बन्धित मामलो के पच' को सौपी गई थी। सन् १८५८ मे किये गये परिवर्तन से तो कारकुन की भूमिका से भी कपनी को मुक्त कर दिया गया और यह काम भारत के राज्यो के विभागीय मन्त्रियो को सौपा गया। इसका अर्थ यह हुआ कि सन् १८५८ तक ईस्ट इडिया कम्पनी ने भारत मे शासन नहीं किया। सन् १७८४ से अग्रेज सरकार का इस कम्पनी पर पूर्ण अकुश था। इसलिए इस प्रकार का अन्तर अयोग्य है।

कृष्णन अब मै एक अलग प्रश्न पूछता हूँ। अग्रेजो के लिए इस देश को अपने अधिकार मे लेना क्यो सरल था ? अग्रेज शासन से पूर्व भारतीय समाज के कौन से पहलू इसके लिए उत्तरदायी थे ?

धर्मपाल मै यह स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि अग्रेज शासन के पूर्व के भारतीय समाज के अच्छे बुरे पहलुओ का मुझे विशेष अदाज नहीं है। मेरा ज्ञान मुझे प्राप्त जानकारी और अग्रेज रेकर्ड पर आधारित है। और विशेष रूप से १८वीं शताब्दी के उत्तरार्ध के भारत का है।

वास्तव मे उत्तर देने से पूर्व और अधिक अध्ययन की आवश्यकता है। मै बस इतना ही कहूगा कि सन् १७०० के आसपास भारत मे मुगल साम्राज्य की बुनियाद लडखडा गई। इसके बाद राजकीय परिवर्तन हुए। भारत के कई हिस्सो मे राजा महाराजाओ ने अपने अधिकार जमाना प्रारम्भ किया, किन्तु यह नवजागृति अग्रेजो और अन्य यूरोपीय ताकतो की तुलना मे धीमी और दुर्बल थी। विशेष प्रभावी नहीं थी और जब अग्रजो ने क्रमश इस देश को जीतने का प्रयास किया तब ये राजा सगठित होकर उनसे लड नहीं पाए।

कृष्णन इसका अर्थ यह हुआ कि उस समय के भारतीय जमींदार अत्यन्त बलवान होने के कारण पूँजीवादी सगठन से लड नहीं पाए ?

धर्मपाल मुझे ज्ञान नहीं है की हमारे यहा ऐसी कोई जमींदारी प्रथा थी। यह मै इस धारणा के आधार पर कह रहा हूँ कि ऐसे सगठनो के स्वरूप अलग होते हैं। जब हम 'मुगलो की केन्द्रीय सत्ता' ऐसा कहते है तो उसका अर्थ केन्द्रशासित राज्य ऐसा किया जाता है। मुझे स्मरण है कि औरगजेब ने एक बार अपने पौत्र को लिखा हुआ पत्र मैने देखा था। पत्र मे दो बातो का उल्लेख था। (१) जहागीर के शासन काल मे बादशाह की आय ६० लाख रूपये और खर्च १,५०,००,०० रूपये था। यह घाटा अकबर द्वारा की गई बचत मे से बराबर किया गया। (२) जहागीर के बाद आए शाहजहा ने इसमे सुधार किया। उसकी आय १ ५ करोड थी और खर्च १ करोड था। मुगल शासन की कुल आय दस से बीस करोड रूपये होती थी। यदि इस से छोटा सा हिस्सा ही सम्राट को प्राप्त होता था तो शेष आय क्या हुआ होगा। सभी इतिहासकार एक बात से सहमत है कि औरगजेब के समय मे उसके राज्य मे आय कभी भी अदाजित आय के २० प्रतिशत से बढी नहीं। सर्वसामान्य स्पष्टीकरण यह है कि शेष ३० प्रतिशत राशि उस समय के जमींदारो मे वितरित हाती थी।

मुझे आश्चर्य इस बात का है कि आय का इतना बडा हिस्सा स्थानिक स्तर पर ही रहता था और उसका उपयोग वर्षों पुराने रीतिरिवाज जैसे कि पाठशाला या धार्मिक स्थल (मदिर, मस्जिद) या जलाशयो की देखभाल, मन्दिरो को अनुदान, धार्मिक गतिविधिया, विद्वानो, कवियो, वैद्यो, ज्योतिषियो, जादूगरो आदि को सम्मानित करने मे होता था। यह एक अत्यन्त प्राचीन व्यवस्था थी जो मुगलो के शासन तक बनी रही। अग्रेज आए तो उन्होने तमाम प्रकार के कुल उत्पादन के ५० से ६० प्रतिशत के हिसाब से आय वसूलना शुरू किया। इससे कोई भी व्यक्ति कल्पना कर सकता है कि इस तरह अपने गावो मे जो कुछ अतिरिक्त पूँजी थी वह अन्यत्र चले जाने से वे लोग मन्दिरो और विद्यालयो की देखभाल नहीं कर पाए।

कृष्णन क्या आप यह कहना चाहते हैं कि अग्रेजो ने यह जानबूझ कर किया ?

धर्मपाल अग्रजो ने जो कुछ अपने लिए आवश्यक था वह किया। इग्लैड मे भी किसान अपने कुल उत्पादन का ५० प्रतिशत हिस्सा जमींदार को देते थे और इस प्रकार वे सम्पूर्ण जमीन प्राप्त करते थे। यही प्रथा अग्रेजो ने हम पर लादी। यह भारत के लिए बनाई गई कोई विशेष नीति नहीं थी। अग्रेजो ने कदाचित् यह माना था कि यही बिलकुल

सही नीति है, क्यो कि उनके मानस मे केन्द्रीकृत समाज और राज्य की कल्पना थी। वास्तव मे यह व्यवस्था वहा एक हजार वर्ष पूर्व अस्तित्व मे थी। जब नोर्मन प्रजा ने सन् ११०० मे इग्लैंड पर विजय प्राप्त की तब इग्लैड की ९५ प्रतिशत आय राजा, महाराजाओ, सम्राटो और गिरजाघरो मे वितरित होती थी।

कृष्णन क्या आप यह कह सकते है कि सन् १७५० या इससे पूर्व का भारत इग्लैण्ड की अपेक्षा अधिक अच्छा था ? भारत मे सामान्य मनुष्य की स्थिति कैसी थी ?

धर्मपाल यद्यपि इस मुद्दे पर मै बहुत निश्चित नहीं हूँ। तो भी कुछ बाते भारतीय समाज का भिन्न चित्र प्रस्तुत करती हैं। उदाहरण के लिये सन् १८०४ के जुलाई के 'एडिनबरो रिव्यू' के अक मे भारत के खेत-उत्पादन और मजदूरो के मुआवजे के प्रश्न पर ब्रिटन मे चर्चा हुई। तुलना करने पर ज्ञात हुआ कि भारत की उत्पादकता इग्लैड की उत्पादकता से बहुत अधिक है। विशेषत अग्रेजो को इस बात का आश्चर्य था कि भारत के कृषि मजूदरो को दिया जाने वाला मुआवजा इग्लैड के मजदूरो को दिये जानेवाले मुआवजे की अपेक्षा बहुत अधिक था।

भारत का अर्थतन्त्र जब बिलकुल कगाल था तब भी भारत मे उत्पादकता और मुआवजे का अनुपात इग्लैड की अपेक्षा इतना अधिक हो तो भारत जब पूर्ववर्ती वर्षो मे समृद्ध था तब यह उत्पादकता और मुआवजा कितना अधिक होगा ? सन् १८०६ की बेलारी जिले की उपभोक्ता स्थिति पर दृष्टिपात करने से भी इस पहलू का अनुमान लगाया जा सकता है। अग्रेज सत्ताधीशो ने उपभोक्ता स्थिति का अन्दाज लेने के लिए इस जिले के लोगो को तीन विभागो मे बॉटा। तीनो विभागो मे उपयोगिता की दृष्टि से खाद्य पदार्थो की मात्रा एक समान रहती थी। इस सूची मे तेईस (२३) चीजेथी जिनमे घी, तेल, नारियल, सागसब्जी और पान आदि का भी समावेश किया गया था। प्रत्येक व्यक्ति का वार्षिक उपभोक्ता खर्च प्रथम विभाग मे १७ रु, दूसरे विभाग मे ९ रु, और तीसरे विभाग मे ८ रु था।

सन् १८०५ मे ताजोर मे 'मिरासदारो' (जमीन के स्थायी उत्तराधिकारी) की सख्या ६२,००० थी जिसमे से ४२,००० लोग शूद्र या फिर इससे भी निम्न जाति के थे। ब्रह्माचल मे (वर्तमान सेलम मे) जमीन जोतने वाले, जिन्हे 'परिया' के रूप मे जाना जाता है उनकी सख्या छ लाख की कुल जनसख्या मे ३२,४७४ थी। सन् १७९९ मे चेंगलपट्टु जिले मे 'मिरासदारो' की सख्या ८,३०० दर्ज की गई थी और उस जिले के समाहर्ता के मन्तव्य के अनुसार वास्तविक सख्या इसकी अपेक्षा दस गुना अधिक थी। अधिक गहराई से अध्ययन किया जाए तो भारतीय जीवन और समाज का एक भिन्न

चित्र उभरकर सामने आएगा। उदाहरण स्वरूप मि एलेक्जाडर रीड, जिन्होने मद्रास जमीन रेवन्यू पद्धति का प्रारम्भ किया, के अनुसार सन् १७८० के आसपास हैदरावाद में मालिक और नौकर के बीच कपडे के मामले मे विशेष अन्तर नहीं दिखाई देता था। बस इतना ही कि मजदूर की अपेक्षा मालिक के कपडे अधिक साफ सुथरे और व्यवस्थित रहते थे।

कृष्णन मै मानता हू कि भारत मे ब्रिटिश शासन के पूर्व की शिक्षा पर आपकी आगामी पुस्तक मे अधिक दिलचस्प बाते और जानकारी होगी ?

धर्मपाल यद्यपि इससे सम्बन्धित गहन अध्ययन मद्रास प्रात मे सन् १८२२ और १८२५ के दौरान किया गया। सर्वेक्षण दर्शाते है कि इस प्रान्तमे ११,५७५ विद्यालय तथा १,०९४ महाविद्यालय और १,५७,१९५ और ५,४३१ छात्र क्रमश थे। यह अध्ययन विशेष रूप से जातिगत ढॉचे पर भी प्रकाश डालता है। तमिलभाषी क्षेत्र मे इस वृत्त के अनुसार शूद्र या निम्न जाति के छात्र ७० से ८० प्रतिशत थे। यह प्रतिशत उडियाभाषी क्षेत्र मे ६२, मलयालमभाषी क्षेत्र मे ५४ और तेलुगुभाषी क्षेत्र मे ३५ से ४० था। मद्रास के गवर्नर ने इसका भी विशेष रूप से उल्लेख किया है कि विद्यालय मे जाने योग्य आयु के बचो मे से २५ प्रतिशत बचे विद्यालय जाते थे और शेष अधिकाश बचे घर पर ही शिक्षा प्राप्त करते थे।

मद्रास मे २६,००० बच्चे घर पर और ५,५०० बचे विद्यालय मे शिक्षा प्राप्त करते थे। मलबार मे महाविद्यालय स्तर पर १,६०० विद्यार्थी घर पर शिक्षा प्राप्त करते थे और केवल ७५ विद्यार्थी समुद्रिन राजा द्वारा चलाये जानेवाले महाविद्यालय मे अध्ययन हेतु जाते थे। मलबार जिले मे विद्यालय जानेवाली मुस्लिम छात्राओ की सख्या बहुत अधिक थी। १,१२२ लडकियो पर मुस्लिम लडको की सख्या ३,१९६ थी। ६० वर्ष के बाद सन् १८८४-८५ मे विद्यालय जानेवाली मुस्लिम लडकियॉ केवल ७०० थीं। मैने अधिकाश अभिलेख अपनी पुस्तक मे प्रकाशित किये है। ब्रिटिश शासन पूर्व के भारतीय समाज की शिक्षा पर हमे अपने विचार बदलने की आवश्यकता है।

कृष्णन '१८ वीं शताब्दी मे भारत मे विज्ञान और तन्त्रज्ञान' नामक आपकी पुस्तक अद्‌भुत है। यह सामग्री आपने कहा से प्राप्त की ? अपने विद्वानो और वैज्ञानिको का इस पुस्तक के विषय मे क्या अभिमत होगा ?

धर्मपाल जैसा कि पहले कहा है मै विज्ञान और तन्त्रज्ञान या शिक्षा के साहित्य की खोज मे था ही नहीं। मेरा मुख्य उद्देश्य उस समय के भारतीय समाज के विभिन्न आयामो का अध्ययन करना था। इस अध्ययन के दौरान मुझे विज्ञान और तन्त्रज्ञान से

सम्बन्धित बहुत साहित्य प्राप्त हुआ। अपने विज्ञान और तन्त्रज्ञान के स्वरूप की जानकारी के साथ साथ यह साहित्य अपने उस समय के सामाजिक सगठनो के विषय मे भी बहुत कुछ कहता है। मैने इससे सम्बन्धित बहुत सामग्री एकत्रित की। मेरे मित्रो ने मुझसे आग्रह किया कि मुझे इन जानकारियो को प्रकाशित करना चाहिए। अन्तत मैने ऐसा किया। विज्ञान के विषय पर काम करने वाले कई लोगो ने मेरे काम की प्रशसा की और मेरे निष्कर्षो को सही बताया। परन्तु दु ख इस बात का है कि भारत मे किसी भी अग्रगण्य पत्रिका ने कोई टिप्पणी नहीं की।

कृष्णन अपने विज्ञान और तन्त्रज्ञान के क्षेत्र की उपलब्धियो के कुछ अश प्रस्तुत करेगे ?

धर्मपाल खगोलशास्त्र और गणित को ही ले। अग्रेज सेना के बगाल के सेनाध्यक्ष और इग्लैंड की ससद के भूतपूर्व सासद सर रॉबर्ट बार्कर ने एक अत्यन्त दिलचस्प लेख वाराणसी की प्रसिद्ध वेधशाला के विषय मे लिखा है। वास्तव मे, एन्सायक्लोपेडिया ब्रिटानिका ने अपने सन् १८२३ के सस्करण तक इस वेधशाला को विश्व की पाच प्रसिद्ध वेधशाला मे से एक माना है। एफ आर एस (फेलो ऑफ रोयल सोसायटी) और एडिनबर्ग युनिवर्सिटी के गणितशास्त्र विभाग के प्रो जोह्न प्लेफेर ने सन् १७९० मे एक शोधपत्र प्रस्तुत किया था। प्लेफेर का यह शोधपत्र एक पुस्तक की विस्तृत समीक्षा थी। यह पुस्तक फ्रेन्च इतिहासकार और खगोलशास्त्री बेइली ने भारतीय खगोलशास्त्र पर लिखी थी।

इसी समय मे रुबेन बरो ने 'बाइनोमिअल प्रमेय' पर एक शोधपत्र प्रकाशित किया। इसके बाद प्रसिद्ध केसीनी के सहायक ली जेन्टील ने तमिलनाडु के लोग ग्रहण की स्थिति की गणना कैसे करते है इस पर एक अहवाल प्रस्तुत किया था। यह गणना बिना कागज पेन की जाती थी। जिन वस्तुओ का उपयोग किया जाता था वे थीं सीप तथा कठस्थ की गई सारिणिया। टेक्नोलोजी के सन्दर्भ मे बहुत से शोधपत्रो मे अपनी खेती विषयक श्रेष्ठ पद्धतियो के सम्बन्ध मे निरूपण किया गया है।

गुजरात और मलबार की खेती पर सन् १८२० मे कर्नल एलेक्जान्डर वॉकर ने एक अहवाल प्रस्तुत किया है। होलवेल ने भी चेचक के टीकाकरण विषय पर एक दिलचस्प पत्र लिखा है। उन्होने इस पत्र मे बगाल और अन्य क्षेत्रो मे टीकाकरण की प्रथा और पद्धति पर विस्तार से लिखा हे। सन् १८०२-०३ मे अग्रेजो ने भारत की टीकाकरण की इस पद्धति को अमान्य, गैरकानूनी, घोषित करके इस पर प्रतिबन्ध लगा दिया।

दक्षिण भारत मे प्रचलित जुताई पद्धति पर केप्टन हालकोट ने एक पत्र प्रस्तुत किया हुआ है। उन्होने कहा है कि भारत के दूरस्थ छोटे गावो मे उन्होने कभी भी हल से जुताई की कल्पना नहीं की थी। क्योकि वह हल तो आधुनिक यूरोपीय खोज के रूपमे पहचाना जाता था। उन्होने हलजोत के हल की सरल रचना की जानकारी दी है। वुट्ज नाम से पहचानी जानेवाली स्टील बनाने की भारतीय पद्धति पर बहुत से अहवाल प्राप्त हुए है। ऐसे अग्रेज विशेषज्ञो जिन्होने इस वुट्ज का सूक्ष्मता से अध्ययन किया था कहा कि भारतीय स्टील विश्व मे उपयोग मे लिये जानेवाले स्टील की अपेक्षा बहुत ही श्रेष्ठ दर्जे का है।

कृष्णन परन्तु बहुत से अग्रेज भारत को और भारतीय लोगो को अज्ञान, शोषित, पीडित बताते है ?

धर्मपाल मैं मानता हू कि यह गलत धारणा है कि १९ वीं शताब्दी के प्रारम्भ मे अग्रेज कुछ निश्चित प्रकार के शब्दो जैसे की अज्ञान, व्यथा आदि का प्रयोग भारतीय लोगो के लिए सहजता से करते हो। १९ वीं शताब्दी मे इग्लैड मे भी वर्ग व्यवस्था, कठोर कानून व्यवस्था, प्रशासकीय और सेनागत ढाचा आदि जन्म, बक्षिस अथवा खरीदी पर आधारित था। ऐसी मानसिकता के कारण भारत की अत्यन्त प्राणवान और व्यवस्थित समाजरचना, उसकी शिक्षा सस्थाये जिनमे प्रवेश धन के कारण से नहीं मिलता था, भूमि का सामुदायिक स्वामित्व आदि समझमे आना ही असम्भव था। उनकी समझमे यह सब भारतीयोकी न्यूनता और शिथिलता का ही परिचायक था।

सन् १८१३ में 'हाउस ऑव् कोमन्स' मे एक चर्चा हुई थी। कई सासदो ने अभिमत प्रस्तुत किया था कि अत्यधिक उथलपुथल और विघटन की स्थिति से ग्रस्त होने के बावजूद भारतीय समाज और भारतीय जन की सहिष्णुता, सामाजिक सगठितता, समृद्धि और अभिजात व्यवहार किसी का भी मन मोह लेनेवाला था। इस चर्चा का मुख्य उद्देश्य भारतीय लोगो की आत्मा का उद्धार करना था और इस कार्य का श्रीगणेश विलियम विल्बरफोर्स नामक अग्रेज द्वारा किया गया था। उसने यह तर्क दिया कि ग्रीस और रोम भी ईसाई धर्म मे परिवर्तित होने से पूर्व कगाल स्थिति मे ही थे। अत यह कल्पना भी नहीं की जा सकती है कि ईसाई धर्म के बिना ये लोग अधिक सुखी और प्रबुद्ध हो सकते हैं। विल्बरफोर्स ने समापन करते हुए आग्रहपूर्वक कहा कि भारतीय लोग ईसाई धर्म को नहीं अपनाएगे तो अधकार और कगालियत मे ही डूबे रहेगे।

इसलिए मैं मानता हू कि 'अज्ञान', 'पीडित' आदि का उपयोग धार्मिक सन्दर्भ

मे भारत का उल्लेख करने के लिए होता था। भारतीय लोग सामाजिक और आर्थिक की अपेक्षा धार्मिक अधिक थे। सामाजिक, आर्थिक पिछडेपन को सन् १८०० के बाद का लक्षण माना जाना चाहिये। इसके लिए विशेष रूप से भारतीय राज्यतन्त्र की फैली हुई रचना और अग्रेजी सत्ता एव ससाधनो का केन्द्रीकरण बहुत हद तक उत्तरदायी है। इसका परिणाम यह हुआ कि आगामी १०० वर्ष के लिए इस सत्ता ने अपने अधिकार जमाने के लिए चीन और सेन्ट हेलेना तक अपना व्याप बढाने का विचार किया। इसका उपयोग नये नये प्रदेशो और शहरो का निर्माण करने मे और निभाने मे तथा सेना की सहायता से अपनी सत्ता का व्याप बढाने मे किया गया। इन क्षेत्रो से अधिकतम राजस्व प्राप्त करके उसका उपयोग ब्रिटिश अर्थतन्त्र के व्यापक हेतु सिद्ध करने के लिये किया गया।

परन्तु एक बार विघटन, दारिद्र्य, और पराधीनता से ग्रस्त हो जाने के बाद सम्पूर्ण भारतीय समाज निश्चित रूप से एक स्थगितता और कठिनता की स्थिति से घिर गया। विद्वानो ने यह स्थापित करना प्रारम्भ किया कि बिखराव, विघटन, और दारिद्र्य भारतीय सस्कृति का अगभूत लक्षण ही रहा है।

कृष्णन परन्तु भारतीय सस्कृति मे कुछ ऐसा तत्त्व है जिसने हमे अग्रेजो के विरुद्ध प्रतिकार करने से रोका। क्या यह अपनी निष्क्रियता है या सहिष्णुता ?

धर्मपाल प्रथम दृष्टि मे हमे भारतीय समाज कुछ आलसी, थका हुआ, लापरवाह, सहिष्णु और निष्क्रिय लगता है, किन्तु उसमे न्याय अन्याय, सही गलत समझने की शक्ति है। ऊपर से दिखाई देनेवाली निष्क्रियता मे भी क्रान्ति की वृत्ति सजोनेवाला यह समाज है। लोगो का नैतिक विचार भी बहुत गहरा है। जब जब उन्हे नैतिक ठोकरे लगी है तब उन्होने किसान आदोलन और सविनय कानून भग के आदोलन किये है।

उदाहरण स्वरूप सन् १८०३ के लगभग कन्नड जिले के सहायक समाहर्ता ने यह अहवाल दिया कि परिस्थिति बिगड रही है। ग्यारह हजार लोगो ने कर न देने का प्रतिज्ञापूर्वक दृढ निश्चय किया है। तहसीलदार के कार्यालय मे ३०० आन्दोलनकारी घुस गये और दमनकारी कानून और नमक और तम्बाकू के एकाधिकार के सम्बन्ध मे शिकायत की। इस समाहर्ता ने यह भी कहा था कि इन लोगो ने एक व्यक्ति को उसके कर भरने के दण्ड स्वरूप जाति से (समाज से) निकाल दिया। यह आक्रोश बरुर तक पहुॅचा और बहुत शीघ्र ही कुन्दापुर पहुॅचेगा।

सन् १८१०-११ मे अग्रेजों के विरुद्ध मकान कर और दुकान कर के सम्बन्ध मे आन्दोलन के रूप मे कई बार प्रतिकार हुआ। सन् १८१० के अक्टूबर मास मे बगाल

प्रान्त मे यह कर अमल मे लाया गया था। इराका विरोध वाराणसी, पटना, भागलपुर, मुर्शिदाबाद और सरन के लोगो ने किया। वाराणसी के समाहर्ता और न्यायाधीश द्वारा गवर्नर जनरल को कोलकता भेजे गये अहवाल मे मकान कर के विरोध मे हुए आदोलन की जानकारी दी। उदाहरण स्वरूप समाहर्ता कहता है कि सम्पूर्ण नगर मे लोगो ने तमाम प्रकार के कामकाज का बहिष्कार किया था। यहा तक कि मृतदेहो का अन्तिम सस्कार भी नहीं होता था।

उनके बताये अनुसार बीस हजार से भी अधिक लोग लगातार धरने पर बैठे थे, जब कि दूसरे अहवाल के अनुसार दो लाख से भी अधिक लोग सेकरोल शहर मे एकत्रित हुए थे। यद्यपि यह सत्य है कि भारतीय लोग सैनिक सगठन और प्रशासकीय मामलो मे अग्रेजो की अपेक्षा कम है।

कृष्णन आपने यह तर्क दिया है कि अन्याय का प्रतिकार करने के लिए भारत के पास प्राचीन सविनय कानूनभग की पद्धति थी। क्या महात्मा गाधी इस प्रथा से परिचित थे ?

धर्मपाल महात्मा गाधी के द्वारा प्रारम्भ किये गये असहयोग आन्दोलन और सविनय कानूनभग के उद्भव के विषय मे दो मन्तव्य है। एक मन्तव्य के अनुसार गाधीजी ने यह विचार 'थोरो' और 'रस्किन' से प्राप्त किये। दूसरे मत के अनुसार ये विचार महात्मा गाधी के अपने है। महात्मा गाधी 'हिद स्वराज' मे अपने इन विचारो का निर्देश देते हैं। गाधीजी ने लिखा है कि हमे कानून का पालन करना चाहिए, चाहे वे अच्छे हो या बुरे। उन्होने यह भी कहा है कि हम भारत मे सामान्यत अक्रिय प्रतिकार करते है और उन्होने इसका उल्लेख सौराष्ट्र के छोटे रजवाडो मे देखा है। जब राजा की ओर से उनकी भावना को ठेस पहुचानेवाला कोई आदेश जारी किया जाता था तब लोग गाव छोडकर अन्यत्र चले जाते थे। राजा इसके बाद अपनी गलती मान कर सुधार करता था और अन्त मे समझौता होता था।

मैं यह नहीं कहता कि महात्मा गाधी का सविनय कानूनभग भारतीय परम्परा से आया है। एक प्रकार से तो यह उनके स्वभाव की ही पैदाइश है। शायद विदेश मे भी इसको समर्थन प्राप्त होने के कारण उन्हे बल मिला होगा। परन्तु मै मानता हू कि भारतीय परम्परा से ही बहुत कुछ अश तक असहयोग आन्दोलन का विचार आया होगा। ऐसा लगता है कि इतिहासकारो की अपेक्षा गाधीजी को राजा और प्रजा के बीच के सम्बन्धो का ज्ञान अधिक होगा। भारतीय परम्परा या इतिहास मे अधिक गहराई मे न जाये तो भी भारत और ब्रिटेन से प्राप्त सामग्री के आधार पर गाधीजी के विचार अधिक सत्य होने के प्रमाण प्राप्त हुए हैं। सविनय कानूनभग पर मेरी पुस्तक इस दिशा मे एक

प्रयास है।

कृष्णन यह अत्यन्त दिलचस्प बात है कि भारत मे हमने एक अलग नीति अपनायी है जिसमे राजा को या शासनकर्ता को सम्पूर्ण सत्ता नहीं दी।

धर्मपाल हॉ, महाभारत मे भी कहा गया है कि लोगो को एकत्रित होकर ऐसे राजा की हत्या कर देनी चाहिए जो प्रजा की रक्षा न कर सकता हो। लोग यदि राजा को राजस्व देते हो तो प्रजा की रक्षा करना राजा के लिए अनिवार्य है। प्रजा को लूटनेवाले राजा को 'कलि' कहना चाहिए। विशेष रूप से ऐसे राजा को पागल कुत्ते की मौत दी जानी चाहिए।

कृष्णन किन्तु अपने यहा तो ऐसे कई दुष्ट राजा है।

धर्मपाल हम केवल राजनीतिक मामलो की बात करते है। परन्तु मैं मानता हू कि पश्चिम मे राजा सर्वसत्ताधीश होता था।

कृष्णन किन्तु, हिन्दू राज्यव्यवस्था मे राजा अत्याचारी होते है यह अभिप्राय कैसे प्रचलित हो गया ?

धर्मपाल ब्रिटिश शासन के दौरान अपने राजाओ के द्वारा किये गये व्यवहार को देखकर ऐसा विचार आया होगा। मै मानता हू कि यह पूर्ण जानकारी के अभाव मे कही गई बात है।

कृष्णन जाति व्यवस्था के विषय मे आपके क्या विचार है ? मैं मानता हू कि आप ऐसा नहीं कह सकते हैं कि जाति का प्रश्न सन् १८०० के बाद उत्पन्न हुआ है। मुझे लगता है कि जाति कई प्रश्न उपस्थित करती है। विशेष रूप से जब हम अपनी परम्परा का बचाव करते है तब।

धर्मपाल आप सही हैं। जाति भारत के पिछडेपन का मुख्य प्रतीक है। किन्तु हम ऐसे निष्कर्ष पर क्यो आए ? गावो की तरह जातियॉ भी भारतीय समाज का अभिन्न अग हैं। यह सच है कि 'मनुस्मृति' के अनुसार समाज किसी निश्चित समय पर चार वर्ण मे विभक्त था। परन्तु भारत मे जातियॉ और वर्ग अस्तित्व मे थे और आज भी अस्तित्व में है, किन्तु उन्होने कभी भी गभीर प्रश्न उपस्थित नहीं किए।

ऐतिहासिक दृष्टि से देखे तो इनके बीच सहअस्तित्व है। इनके बीच लडाई भी होती थी और वे उत्सव भी साथ मिलकर मनाते थे। मनुस्मृति के नियमो और मान्यताओ के विपरीत जब अग्रजो ने भारत जीतना प्रारम्भ किया तब, अधिकाश भारत के राजा शूद्र वर्ण के थे। ऐतिहासिक दृष्टि से देखे तो यह सम्भव है कि अलग अलग जाति और वर्ण का अस्तित्व भारतीय राज्यव्यवस्थातन्त्र की अपेक्षाकृत दुर्बलता के

कारण है। दूसरी ओर यह तर्क भी दिया जा सकता है कि जातियो के अस्तित्व ने भारतीय समाज की सुदृढता मे वृद्धि की है। साथ ही साथ इसके बने रहने की शक्ति मे भी वृद्धि की है और फिर से खडे होने की ताकत भी वह प्राप्त करा देती है। किन परिस्थितियो मे और कैसी व्यवस्थाओ मे जातियाँ भारतीय समाज का विभाजन करती है अथवा उन्हे सगठित करती है, ऐसे प्रश्नो के कोई निश्चित उत्तर प्राप्त नहीं हो सकते।

अग्रेजो के लिए जाति एक बडा प्रश्न था। यह एक ऐसा दूषण था जिसका कोई हल नहीं था। इसलिए नहीं कि वे जातिरहित या वर्गव्यवस्था के अभाववाली पद्धति में मानते थे, किन्तु इसलिए कि यह जातिव्यवस्था उनके भारतीय समाज को तोडने के कार्य मे विघ्नस्वरूप थी। मै मानता हूँ कि जातिप्रथा ने भारत को जीतने मे, भारत पर शासन करने मे और भारत को अकुश मे रखने मे कठिनाईयाँ पैदा की थीं। आज के जातिप्रथा विरुद्ध आक्रोश के मूल मे ब्रिटिश शासन ही है।

कृष्णन किन्तु क्या अग्रेज शासन ने हमारे अन्दर राष्ट्रवाद पैदा नहीं किया ? कम से कम हमारे पाठ्यपुस्तक तो यही कहते है।

धर्मपाल सबसे पहले तो भारत को एक केन्द्रीय राज्य बना रहना चाहिए या नहीं यह एक कठिन पश्न है। हमारी सस्कृति की एकता के कारण ही भारत आज भारत है, इसके केन्द्रीय या सघ शासन के कारण नहीं। बहुत से ऐसे उदाहरण प्राप्त होते हैं कि भारत के अनपढ और अज्ञानी, गाव मे बसने वाले लोग उत्तर से दक्षिण और दक्षिण से उत्तर की यात्रा पर जाते थे। हिमालय मे भी बहुत से ऐसे गाव है जो तमिल मूल के है और 'पट्टी' के रूप मे जाने जाते है।

मेरे मतानुसार भारतीय इतिहास मे सन् १७५० से सन् १९४७ तक का समय एक निर्जीव समय है। यह कथन कदाचित अतिरजित लगेगा किन्तु मैं मानता हू कि यह वास्तविकता है। मौलिकता और सृजनात्मकता के सन्दर्भ मे इस समय मे कुछ भी प्राप्त नहीं हुआ। बल्कि लोगों ने बहुत सहन किया है और अपने आप को बहुत छोटा बनाया है।

कृष्णन एक अन्तिम प्रश्न। अपनी परम्परा की ओर जाने का कोई विशेष अर्थ है ? क्या आप ऐसा मानते हैं कि आवश्यक है तो सम्पूर्ण प्रक्रिया को उलटाना सम्भव है ?

धर्मपाल मै मानता हूँ कि इसका निराकरण इस सपूर्ण प्रक्रिया को उलटाने मे है। अधिकाश रूप से इस परिवर्तन की प्रक्रिया का प्रारम्भ वैचारिक दृष्टि से और मनोवैज्ञानिक दृष्टि से महात्मा गाधी के नेतृत्व मे हुआ। उनका स्वदेशी का विचार वास्तव

मे पिछडेपन के ethnocentric अर्थ से सम्बन्धित था। किन्तु यह स्पष्ट देखा जा सकता है कि आज यह विचार अधिक चला या फैला नहीं है। विदेशी विचारधारा और विदेशी ढाचे को इसका बहुत आकर्षण नहीं है। उनके मतानुसार ब्रिटिश काल के दौरान भारत मे जो कुछ हुआ उसे उलटाया नहीं जा सकता है। यह इतिहास की प्रक्रिया का प्रतिनिधित्व करता है। यदि पश्चिम मे जो हुआ वह वैश्विक प्रभाववाला है और तमाम सस्कार और सस्कृतियो को ऐसी प्रक्रिया से गुजरना पडता है तो भारत को भी इस से गुजरना होगा। वास्तव मे यह सब अन्तिम तीन दशक से भारत मे विकास और आयोजन के नाम पर होता आया है। यदि हम सब इसकी अनिवार्यता समझ सकते है तो हमारे लिए सबसे उत्तम मार्ग भारतीय समाज के विघटन की प्रक्रिया को तेज बनाकर नई सहस्राब्दी शीघ्र आ जाए ऐसा करना चाहिए।

किन्तु यदि हम ऐसा मानते है कि सस्कार और सस्कृति समयान्तर मे स्वय के मूल सस्कारो के स्रोत पर आधारित मार्गों से ही बदलते है तो फिर हमे एक बडे आध्यात्मिक और बौद्धिक प्रयास की ओर आगे बढना चाहिए। हमे देशी और आचलिक कहे जाने वाले स्रोत की ओर मुडना चाहिए और जो बचने योग्य है उसे बचाना चाहिए और जिसे ध्वस्त करना है उसे ध्वस्त करना चाहिए।

यह आवश्यक नहीं है कि दूसरो के सभी अनुभवो से कुछ भी नहीं सीखना चाहिए। ऐसे अनुभवो का व्यवस्थित विश्लेषण होकर वे समझे जाएँ तो वे अत्यधिक मूल्यवान सिद्ध हो सकते हैं। इस प्रकार का पुनरावर्तन और पुनर्निर्माण कई भौतिक स्रोतो मे भी बहुत से परिवर्तन करवाता है। इस प्रकार के परिवर्तन आतरराष्ट्रीय स्तर पर भी होने चाहिए, किन्तु इस प्रकार के परिवर्तन यदि हो तो वे दान और मदद की अपेक्षा उत्थान के अधिक होने चाहिए। ये परिवर्तन ही एक शक्तिशाली मनोवैज्ञानिक प्रभाव उत्पन्न करेगे।

---

* मार्च १९८३ में बेगलोर के 'डेक्कन हेराल्ड' में प्रकाशित डा जी एस आर कृष्णन द्वारा लिया गया साक्षात्कार।

२. भारत के भविष्य के लेख

इग्लैड की भारत विषयक नीति स्पष्ट करनेवाले कुछ ब्रिटिश अभिलेख १९४२-४३

अग्रेजो के शासन के विरोध मे भारत के सघर्ष की कथा उस शासन की तरह अब इतिहास बन चुकी है, परन्तु जिन लोगो ने इसमे भाग लिया था, अथवा जो इसके साक्षी बने थे, उनके लिए १९४२ का 'भारत छोड़ो' आदोलन सबसे अधिक स्मरणीय बन जाएगा। जो लोग इस आदोलन के पक्ष में थे, उसके प्रशसक थे और उसमे सहयोग देनेवाले थे, उनके लिए ही नहीं, अपितु विरोधियो के लिए भी यह स्मरणीय बन जाएगा। ब्रिटिश वायसराय लिनलिथगो ने इस आदोलन के विषय मे विन्स्टन चर्चिल को लिखा कि 'यह आदोलन १८५७ की क्रान्ति के बाद का सबसे बड़ा और गम्भीर आन्दोलन है, हमने इसकी गभीरता और व्यापकता सेना के बल पर विश्व से छिपाकर रखी है।' (अगस्त ३१, १९४२)

१८५७ के आन्दोलन के विषय मे अनेक प्रकार से अध्ययन हुआ है, परन्तु 'भारत छोडो' आदोलन, इसके मूल और इसके परिणाम के विषय मे बहुत कम लिखा गया है। इसका एक कारण यह हो सकता है कि इस आन्दोलन के बाद तुरन्त ही बहुत महान और स्थिर परिणाम देनेवाली घटना घटी। भारत मे ब्रिटिश शासन का ही अन्त हो गया। दूसरा महत्त्वपूर्ण कारण यह भी हो सकता है कि इस आन्दोलन के विषय मे शोध के लिये सरकारी अथवा गैरसरकारी सामग्री पर्याप्त मात्रा मे उपलब्ध नहीं है।

ऐसी स्थिति मे भले ही इनेगिने दस्तावेज हो, तब भी 'भारतीय सत्ता का हस्तान्तरण १९४२-४७ (हर मेजेस्टीज स्टेशनरी ऑफिस, लन्दन, मूल अग्रेजी) का प्रकाशन इस समय को समझने के लिए और इसका अध्ययन करने के लिए एक मूल्यवान सामग्री उपलब्ध करवाता है। हम ऐसी अपेक्षा करे कि सिक्के का भारतीय पहलू अर्थात् भारतीय राष्ट्रीय कॉग्रेस, मुस्लिम लीग, उसके नेताओ के इस समय से सम्बन्धित पत्रो की भी इस प्रकार व्यवस्था, सम्पादन और प्रकाशन हो और विचारविमर्श के लिए लोगों के सामने आएँ।

भारत सरकार के १९३५ के नियमानुसार भारतीय राष्ट्रीय कॉंग्रेस ने १९३७ मे हुए विधानसभा के चुनाव लड़ने का निश्चय किया था। भारत के अधिकाश राज्यो मे कॉंग्रेस पर्याप्त बहुमत से विजयी हुई और कुछ समय के बाद गवर्नर और चुने हुए सभ्यो के मध्य आपसी सम्बन्धो के विषय मे कुछ आचार निर्धारित करके और कई समाधानो पर विचार-विमर्श करके वह सरकार बनाने के लिए भी सम्मत हुई। १९३८ के सितम्बर मे विश्वयुद्ध प्रारम्भ हुआ और इन सभी मन्त्रियो ने एक साथ त्यागपत्र दे दिए, क्योकि भारत के लोग नाझी जर्मनी एव फासिस्ट आक्रमण के विरुद्ध और इग्लैड, फ्रान्स, पोलेड, इत्यादि की ओर सहानुभूतिपूर्ण विचारधारा रखते थे तो भी इनमे शामिल करने से पहले भारत का नाम मात्र के लिये भी अभिप्राय नहीं लिया गया।

इस सामूहिक त्यागपत्र के बाद भारतीय राष्ट्रीय कॉंग्रेस और शासक अग्रेजो के मध्य सत्ता के लिए आक्षेप प्रतिआक्षेप और कड़वाहट बढती गई। ८ अगस्त १९४० के दिन वाइसरॉय लिनलिथगो का सुप्रसिद्ध बयान प्रसारित किया गया, जिसमे कहा गया था कि 'भारत के लिए डोमेनियन स्टेटस' ही उनका लक्ष्य था और जब नए भारतीय राज्य के लिए समय आएगा, तब जिनको इस राज्य मे नहीं रहना है, उनको सम्हालने के लिए वे 'पक्षकार' नहीं बनेगे। इस प्रकार भारत के विभाजन की सभावना सूचित होती थी। 'वाइसरॉय को अपनी कार्यवाहक समिति का विस्तार करने का' और 'युद्ध सलाहकार समिति' बनाने का अधिकार है, परन्तु यह सब 'युद्ध पूर्ण होने के बाद ही हो सकेगा।' अग्रेजो के इस प्रस्ताव को राष्ट्रीय कॉंग्रेस ने नामजूर कर दिया, क्योकि यह तो 'भारत की स्वतन्त्रता के स्वाभाविक अधिकार को नष्ट करने के लिए था।' यह प्रजा के अभिप्राय की मुक्त अभिव्यक्ति को अवरुद्ध करनेवाला था। इसके बाद तुरन्त ही कॉंग्रेस ने महात्मा गाधी के नेतृत्व मे व्यक्तिगत स्तर पर नागरिक असहयोग का आन्दोलन प्रारम्भ किया।

१९४१ के दिसम्बर मे जैसे ही जापान युद्ध मे सम्मिलित हुआ और जर्मनी के पक्ष में खड़ा रहा, कि तुरन्त ही इग्लैंड की भारत मे ही नहीं, बल्कि बर्मा, मलाया, सिगापुर इत्यादि मे भी स्थिति वास्तव मे नाजुक बन गई। इस और अन्यान्य कारणों से एक वर्ष पूर्व जेल मे रखे हुए कोग्रेस के और अन्य नेताओ को अग्रेजो ने मुक्त कर दिया, और भिन्न भिन्न पक्षो के साथ नए सिरे से बातचीत प्रारम्भ की। इस परिस्थिति के अनेक व्यापक सूचितार्थ होने के कारण भारत की राजकीय समस्या मे अमेरिका, चीन, और अन्य सत्ताओं ने भी अपनी अभिरुचि व्यक्त की।

इन दस्तावेजो का प्रथम खण्ड,९ जनवरी, १९४२ से प्रारम्भ होता है। इन

तीन खण्डो की मुख्य घटनाएँ है - च्याग काई शेक की भारत भेट (फरवरी, १९४२), क्रिप्स मिशन (मार्च-अप्रैल १९४२), 'भारत छोडो' आदोलन की पूर्वतैयारी और उसकी प्रतिक्रिया (मई १९४२ से आगे), महात्मा गाधी का अनशन (फरवरी-मार्च,१९४३) और अन्त मे चीन और अन्य आन्तरराष्ट्रीय समुदाय के भारत की स्वतन्त्रता को दिए गए समर्थन और सहानुभूति को इग्लैड की स्वीकृति।

इन सभी दस्तावेजो मे पाठक को ध्यान मे आनेवाली बात यह है कि जिनमे ब्रिटिशरो का दीर्घ काल तक हित समाया हुआ होता है, ऐसी नीतियो के विषय मे अग्रेज कितने धूर्त हैं। परिस्थिति भिन्न भिन्न मोड़ लेती है तब भी अपनी मूल बात को कैसी सावधानी से वे पकड कर रखते है और अपना उल्लू सीधा करते है, विचारधारा और दृष्टिकोण मे अन्तर होते हुए भी इग्लैण्ड के सभी राजकीय पक्ष इग्लैण्ड की भारत विषयक नीति और उद्देश्यो के विषय मे पूर्ण रूप से एक है। इसी सन्दर्भ मे सेक्रेटरी ओव् स्टेट फॉर इडिया एल एस आमेरी की दृष्टि से भारत मे ब्रिटिश वायसरोय के रूप मे क्लेमेन्ट एटली भी लिनलिथगो का अनुगामी बनने के लिए उतना ही लायक था जितना एन्टनी एडन। भारत विषयक नीति के विषय मे जो भी मतभिन्नता हो, इन्हे भी पक्षापक्षी से अलग कर के देखा जाता था। इस विषय मे एक दूसरा मुद्दा उल्लेखनीय है। यह है भारत के भावी विभाजन के विषय मे ८ अगस्त १९४० का अग्रेज सरकार का वक्तव्य। मानो यही वक्तव्य विभाजन के विचार पर लगी हुई अधिकृत मुहर थी। क्रिप्स जिस प्रस्ताव को ले कर भारत आया था, उसने पूर्व के वक्तव्य को प्रस्थापित करने के साथ साथ उसको अधिक ठोस आकार दिया, और आमेरी ने किग ज्योर्ज षष्ठ के इस निजी सचिव को बताये अनुसार यह 'पाकिस्तान की सम्भावना को' ब्रिटिशरो के द्वारा दी गई 'प्रथम आम सम्मति' थी। अर्थात् 'भारत हिन्दू और मुस्लिम इस प्रकार दो भागो मे विभाजित होनेवाला था।' (खण्ड १ पृ २०८-अग्रेजी)

वस्तुत अकेले ब्रिटिशरो ने ही दु खद या सुखद रीति से भारत के विभाजन का विचार स्वीकार कर लिया था ऐसा नहीं था। विभाजन किस प्रकार होगा और हिस्से कैसे बनेंगे, इस विषय मे मोहमद अली जिन्हा, तथा सिखो ने भी विचार करना प्रारम्भ कर दिया था। गवर्नर तथा डुपलैण्ड इत्यादि के समक्ष विभाजन के विषय मे अपने विचार स्पष्ट करते हुए जिन्हा ने कहा कि 'जब तक मुस्लिमो का बहुमत न हो' तब तक १९३७ से पजाब मे होता रहा है उसी प्रकार दूसरी कोम के साथ उनको हमेशा समाधान करने की भूमिका मे ही रहना पड़ेगा। इसलिए अपनी पाकिस्तान की रूपरेखा बनाते समय मुस्लिम क्षेत्र (बाद का पश्चिम पाकिस्तान) मे से हिदुओ के बहुमतवाला अम्बाला के

आसपास का विस्तार उन्होने छोड़ दिया। उनकी योजना के अनुसार पाकिस्तान मे ७५ प्रतिशत मुस्लिम होगे और वे शक्तिशाली मुस्लिम सरकार बना सकेगे।' प्रदेशो को विभाजित करने की आवश्यकता समझाते हुए उन्होने कहा कि, अपने क्षेत्रो मे मुस्लिमो का पूर्ण बहुमत होना आवश्यक है। इस समय के कृत्रिम रूप से बने हुए प्रदेशो मे उससे कम बहुमत से काम नहीं चलेगा' (खण्ड १ पृष्ठ १३)

इसी प्रकार यदि विभाजन होता है, तो क्रिप्स के कथनानुसार सिखो को 'अम्बाला, जलधर, अमृतसर, गुरदासपुर और लाहोर जिलो का बना प्रदेश मिलेगा' (खण्ड २ पृष्ठ २२७)। सिखो ने क्रिप्स को दिए गए आवेदन मे कहा, 'भारत का विभाजन चाहनेवाली और व्यक्तिगत कानून और अपनी सस्कृति को दूसरे पर थोपनेवाली किसी भी कौम की दादागीरी को वे नहीं कहेगे।' (खण्ड १ पृष्ठ ४६७)

१९४७ में भारत के विभाजन के समय यदि कोई नई बात हुई, तो वह थी इन्हीं सभी विचारो की कृति मे परिणति।

च्याग काई शेक की भारत भेट

इन दस्तावेजो के अध्ययन से एक महत्त्वपूर्ण बात प्रकट होती है। वह यह कि चीन ने उसके तत्कालीन अध्यक्ष च्याग काई शेक की भारत भेट के रूपमे भारत को सहयोग दिया था, परन्तु ब्रिटिश सरकार ने उनकी सभी योजनाए विफल कर दी थीं। चीन के इस सरेआम सहयोग के तहत च्याग काई शेक फरवरी १९४२ मे भारत आया था। उसकी और उसकी पत्नी की सेवाग्राम के आश्रम मे महात्मा गाधी से मिलने की इच्छा थी। वे वायसरोय के निवास मे रहना नहीं चाहते थे। (खण्ड १ पृष्ठ ५५) उनकी अन्य इच्छाए तो पूर्ण की गईं, परन्तु सेवाग्राम की मुलाकात किसी भी तरह मान्य नहीं की गई। चर्चिल ने च्याग को लिखा 'आपकी गाधीजी से मिलने के लिए सेवाग्राम की मुलाकात से हम युद्ध मे जापान के विरुद्ध समग्र भारत को जो खड़ा करना चाहते है, उसमे विघ्न आएगा', इसलिए मै आशा करता हू कि 'वायसरॉय की अथवा सम्राट की इच्छा के विरुद्ध सेवाग्राम जाने का आग्रह न रखे।' (खण्ड १ पृष्ठ १०४)

फिर भी यदि च्याग सेवाग्राम जाने का आग्रह नहीं छोडते है तो वायसरॉय के कहने पर आमेरीने उन्हे वर्धा जाने के लिए 'रेल, मोटर अथवा अन्य वाहन नहीं मिलने की व्यवस्था की थी।' लिनलिथगो ने उस समय कहा था कि 'च्याग को किसी भी प्रकार का या कितना भी बुरा लगे, तब भी इस विषय मे उनको मेरी इच्छा का सम्मान

करना ही पड़ेगा।' (खण्ड १ पृष्ठ ८८)

च्याग काई शेक ने लौटने से पूर्व की सध्या के अपने आम भाषण मे आशा व्यक्त की कि 'हमारा साथी ग्रेट ब्रिटेन भारत के लोगो की ओर से बिना किसी भी प्रकार की मॉग की प्रतीक्षा किये शीघ्रातिशीघ्र उनको राजकीय सत्ता सौप देगा जिससे वे अपनी आध्यात्मिक और भौतिक शक्ति का विकास कर सके।' (खण्ड १ पृष्ठ १७३)

क्रिप्स मिशन

सम्पूर्ण तो नहीं पर कुछ अश मे भारत की स्वतन्त्रता के आन्दोलन मे 'च्याग और चीन का सहारा था, जिसके फलस्वरूप ही मार्च १९४२ मे क्रिप्स मिशन दिल्ली आया। वास्तव मे तो च्याग जब भारत मे थे तभी से ही चर्चिल ने ऐसे मिशन को भेजने की घोषणा करने का विचार कर लिया था।' (खण्ड १ पृष्ठ १०१)

क्रिप्स का भारत आगमन निश्चित होने के पीछे अन्य कई तत्त्व थे

(१) स्वय इग्लैण्ड मे ही भारत को स्वतन्त्र करने के लिए जनता और समाचार पत्रो के माध्यम से दबाव बढ रहा था। (खण्ड २ पृ २२) (२) दक्षिणपूर्व एशिया मे अग्रेजो की स्थिति आतकित सी बन गई थी। (खण्ड १ पृष्ठ ६५१) (३) एटली जैसे लोगो का विचार था कि, 'समय की गिनती करना भारत को खोने जैसा है'। 'लोर्ड डरहाम ने जिस प्रकार केनेडा को ब्रिटिश शासन से बचाया था। उसी प्रकार भारत को भी साम्राज्य के लिए बचाना चाहिए। 'केनेडा मे जो डरहाम ने किया भारत मे भी वैसा ही कर सकनेवाले व्यक्ति की हमे आवश्यकता है।'

इस प्रकार के तर्क को सरकार के व्यूह मे पर्याप्त समर्थन प्राप्त हुआ। क्रिप्स मिशन की असफलता के कई महीनों के बाद भी अमेरिका के राष्ट्रप्रमुख रुझवेल्ट को लग रहा था कि, अमेरिका और ब्रिटेन दोनो को साथ मिलकर कोई ऐसी व्यवस्था के विषय मे सोचना चाहिए जिससे भारत एशिया के नहीं अपितु अमेरिका और यूरोप के विश्व का एक अश बने (खण्ड २ पृ ४२४)।

यह तो प्रसिद्ध ही है कि, क्रिप्स अपने मिशन मे सफल नहीं हुआ। इग्लैण्ड के 'अनचेरिटेबल' के मतानुसार मिशन एक 'दाहिने पक्ष का तरकट था। वह क्रिप्स के नाम पर चर्चिल-आमेरी की योजना को साकार करने हेतु था।' यह बात क्रिप्स के भारत पहुचने से पूर्व ही आमेरी ने लिनलिथगो को बता दी थी। (खण्ड १ पृ ३४)

स्वय आमेरी को इस मिशन की सफलता के विषय मे आशा नहीं थी और पर्याप्त

वादविवाद के बाद जैसे ही क्रिप्स उसे सफल बनाने हेतु अपने विवेक से कुछ करने लगा और उसने कुछ कहा कि 'नई व्यवस्था के अन्तर्गत' वाइसरॉय की 'कार्यवाहक समिति केबिनेट के साथ बात करेगी ' (खण्ड १ पृ ५१८) तुरन्त ही चर्चिल ने उसे डाट दिया। (खण्ड १ पृ ५३३) कार्यवाहक समिति के फैसले का सम्मान करने हेतु 'वायसरोय निश्चित रूप से जो कुछ सम्भव होगा,' करेगे। इस प्रकार क्रिप्स के मतव्य को निर्देशित करते हुए ब्रिटिश युद्धपरिषद ने निश्चय किया कि 'वर्तमान सविधान मे वायसरॉय के अधिकार सीमित करनेवाली कोई भी नीति होने का प्रश्न ही नहीं है और युद्ध के समय मे इस परिस्थिति मे बदलाव लाने के विषय मे सोचा नहीं जा सकता है। (खण्ड १ पृ ५७१) यदि कॉग्रेस के नेताओ ने इस प्रकार की स्थिति मे बदलाव लाने के विषय मे सोचा है तो उनको अपनी सोच बदलनी पडेगी। (खण्ड १ पृ ५८१) क्रिप्स मिशन असफल हुआ इसमे कोई आश्चर्य नहीं है। क्रिप्स ने लिखा है, 'मुझे दु ख हे कि मेरे साथियो को मुझ पर विश्वास नहीं है' और 'यदि मुझ पर विश्वास नहीं है तो मै यह कार्य जारी नहीं रख सकता। ' (खण्ड १ पृ ५७७)

किन्तु आमेरी के सोचने से और मिशन के अपना कार्य प्रारम्भ करने से पूर्व ही उसकी असफलता निश्चित हो चुकी थी। उस समय के बोर्ड ओव् एज्युकेशन के अध्यक्ष आर ए बटलर के मतानुसार मिशन के दीर्घकालीन उद्देश्य स्पष्ट थे। बटलर ने आमेरी को लिखा, 'योजना ऐसी होगी की अपनी सैन्य व्यवस्था और अल्पसख्यको की सुरक्षा की दृष्टि से इग्लैण्ड, पाकिस्तान, हिन्दू भारत एव 'मुटाटी-मुटान्डी' तथा राज्यो के समूह मे सधि होगी। जब हमे अखिल भारतीय समुदाय के साथ समझौता करना होगा तब केन्द्रीय प्रतिनिधिमण्डल होगा।

इस प्रकार की योजना से यह लाभ होगा कि खण्डो की प्रतिष्ठा निश्चित होगी एव समग्र की एकता बनी रहेगी।

'येन केन प्रकारेण भारत मे इग्लैण्ड का प्रभाव बना रहना चाहिए ऐसी जो हमारी इच्छा हे उसकी ही यह निश्चित रूप से स्पष्ट अभिव्यक्ति है। यह महत्त्वपूर्ण बात जिसमे समाई हुई है, ऐसे लेखन की अपेक्षा यह योजना अच्छी है ऐसा मै मानता हूॅ। कैम्पबेल बैनरमेन ने जो दक्षिण आफ्रिका मे किया वही हम भारत मे एक साथ प्राप्त करे यह सम्भव नहीं है। जैसा कि मैं प्रारम्भ से कहता आया हूॅ कि इग्लैण्ड को अभी भी भारत मे कुछ भूमिका निभानी है यह हम स्पष्ट रूप से प्रारम्भ में ही नहीं कहेगे तो ठीक नहीं होगा।' (खण्ड १ पृ २५५)

तत्काल व्यवस्थापन के तौर पर इग्लैण्ड का 'भारत की रक्षा का सम्पूर्ण दायित्व

निभाने का' आग्रह था। क्यो कि वे शासन के प्रत्येक विभाग पर अपना नियन्त्रण चाहते थे। २७ मार्च, १९४२ के दिन आमेरी ने एटली को लिखा, 'हमारी चर्चा के दौरान हमने स्पष्टरूप से समझा है कि 'सरक्षण' का अर्थ था 'अच्छा शासन'। (खण्ड १ पृ ४०३)

भारत के सम्बन्ध मे क्या निर्णय लिया जाए इस सम्बन्ध मे इग्लैण्ड की सरकार के समुदायो मे भिन्नभिन्न प्रकार के कई मत थे, परतु उन सब मे समान और महत्त्व की चुनौती थे महात्मा गाधी।

राजकीय परिदृश्य से यदि महात्मा गाधी अदृश्य हो जाते तो सब कुछ आसान बन जाता। अन्य भारतीय नेताओ के प्रभाव के विषय मे मतभिन्नता थी, उनसे किस प्रकार का व्यवहार किया जाय इस विषय मे भी भिन्न भिन्न मत थे, उनको अग्रेजो के सहयोग मे किस प्रकार खडा किया जाए इस विषय मे भी भिन्न भिन्न अनुमान लगते थे। परन्तु प्रत्येक हलचल के समय महात्मा गाधी को ध्यान मे रखना पडता था। चीन, और कुछ हद तक अमेरिका के भारतकी स्वतन्त्रता के लिये समर्थन और महात्मा गाधी क्या करते हैं और कहते है इसमे रुचि के कारण अग्रेजो का काम और कठिन हो गया। इससे परेशान होकर चर्चिल ने रुझवेल्ट से पूछा, 'श्रीमान अध्यक्ष महोदय, मैं उत्कठापूर्वक आशा करता हूॅ कि आप च्याग काई शेक को उसकी गतिविधियो से परावृत्त करने के लिए हरसम्भव उपाय करेगे और सम्राट की सरकार पर कोई दबाव नहीं लायेगे।' (खण्ड २ पृ ३८२)

'भारत छोडो' आदोलन

मित्र राष्ट्रों का दबाव होते हुए भी अग्रेजो ने भारतीय राष्ट्रीय कॉग्रेस के विरोध मे तैयारी चालू रखी। युद्ध परिषद ने अपनी ६ अगस्त, १९४२ को एटली की अध्यक्षता मे हुई सभा मे अनेक प्रकार के विचारविमर्श के बाद निश्चय किया कि अखिल भारतीय कोग्रेस समिति जैसे ही 'भारत छोड़ो' प्रस्ताव पारित करती है, तुरन्त -

(१) गाधीजी और कॉग्रेस के अन्य नेताओ को हिरासत मे लेना चाहिए।

(२) गाधीजी को चुपचाप समुद्रमार्ग से भारत के बाहर किसी स्थान मे (सभवत सुदान) भेज देना चाहिए।

(३) गाधीजी के साथ कोई विशिष्ट व्यवहार किया जा रहा है, ऐसा प्रतीत न हो, इसलिए अन्य दर्जन नेताओ को पकड़ कर हवाई मार्ग से पूर्व अफ्रीका भेज देना चाहिए।

(४) इस कार्यवाही की अग्रिम जानकारी अमेरिका के प्रमुख को और साम्राज्य के देशो के प्रधानमत्रियो को दी जानी चाहिए और

(५) चीन के ब्रिटिश राजदूत को भी इस योजना से पूर्ण अवगत रखना चाहिए, परन्तु गाधीजी और अन्य कॉग्रेसी नेता जब तक गिरफ्तार नहीं होते है, जनरल च्याग काई शेक को इसकी जानकारी नहीं होने देने की सूचना देनी चाहिए।' (खण्ड १ पृ ४३५)

इससे पूर्व २४ जुलाई के दिन आमेरी ने लिनलिथगो को लिखा था कि 'मुझे हर्ष है कि कॉग्रेसी नेताओ को युगाण्डा भेजने के मेरे इरादे के अनुरूप सभी योजनाए बन रही है। 'आमेरी ने आगे कहा, 'ये सभी घटनाए नाटयात्मक तो है ही, परन्तु ये लोग किसी की भी पहुच से बाहर हो, तो लगभग मृत्यु के समान ही है। लोग इनको हमेशा के लिए भूल जायेगे।' (खण्ड १ पृ ३२३)

चीन तथा अन्य दबावो की उपेक्षा करके अखिल भारतीय कोग्रेस समिति ने जैसे ही 'भारत छोडो' प्रस्ताव पारित किया कि तुरन्त ही ८ अगस्त के दिन ब्रिटिशरो ने महात्मा गाधी और कोग्रेस के विरुद्ध अपनी पूर्व योजित कार्यवाही प्रारम्भ कर दी। पूर्व मे उल्लेख किया गया है कि इस प्रकार वायसरॉय ने सम्पूर्ण घटना का '१८५७ के बाद का सबसे खतरनाक विद्रोह' कहकर वर्णन किया (खण्ड २ पृ ६६२)।

च्याग काई शेक ने ब्रिटिश कार्यवाही का प्रबल विरोध किया और कहा कि अब अमेरिका मध्यस्थी करे यही एक मात्र रास्ता शेष था (खण्ड २ पृ ५१८)। इस और ऐसे अन्य सुझावो ने ब्रिटिशरो को भडका दिया, और चर्चिल ने रुझवेल्ट को लिखा, 'मुझे सन्देह है कि च्याग हमारे लिए मुसीबत निर्माण करेगा।' (खण्ड २ पृ ५३२) च्याग ने महात्मा गाधी, मौलाना आजाद और पडित नेहरू को सन्देश भेजा था, 'आपकी गिरफ्तारी से मुझे चिता होती है। राष्ट्र के लिए अपने स्वास्थ्य को सम्हाले।' परन्तु यह सन्देश उन तक पहुचने नहीं दिया गया। (खण्ड २ पृ ५८०) चर्चिल ने च्याग को चेतावनी दी, 'मित्रो के लिए उत्तम नियम यह है कि किसी ने अन्यो के आन्तरिक मामलो मे दखल नहीं देनी चाहिए।' चर्चिल ने प्रमुख रूप से ध्यान दिलाया कि 'जब कम्युनिस्ट कोमिन्टाग मतभेद अत्यन्त उग्र थे, तब इग्लैण्ड किसी भी प्रकार की टिप्पणी करने से सर्वथा दूर रहा था।' च्याग के अमेरिकी हस्तक्षेप के सूचन के विषय मे चर्चिल ने कहा, 'जिसका मै प्रधानमन्त्री बनू अथवा सामान्य सभ्य भी बनू, ऐसी कोई ब्रिटिश सरकार नामदार सम्राट के राज्य के किसी भी कामकाज मे दूसरे का हस्तक्षेप सहने के लिए तैयार नहीं होगी।' (खण्ड २ पृ ६३३)

च्याग की तरह अन्य लोगो को भी चिता थी। गिरफ्तारी होने के बाद एक दो दिन मे ही अमेरिका के युनाइटेड ऑटो मोबाइल के कारीगरो ने अपने वार्षिक अधिवेशन

मे प्रस्ताव पारित किया था, 'भारत क लोगो की अपनी स्वतन्त्रता के लिए की गई माग न्यायपूर्ण और लोकतान्त्रिक है। यह इस युद्ध के लोकतान्त्रिक और मुक्ति के उद्देश्य के अनुसार ही है। और उन्होने ब्रिटिशरो से निवेदन किया कि वे 'भारतीय काग्रेस के साथ कोई आपसी समझौता करे।' (खण्ड २ पृ ५०६) इसी को लेकर वॉशिग्टन के ब्रिटिश राजदूत ने लन्दन को लिखा, 'मै टोनी से सहमत हू, (टोनी उस समय का उल्लेखनीय आर्थिक इतिहासकार था और वॉशिग्टन की ब्रिटिश एम्बसी का सलाहकार था।) कि वर्तमान भारतीय सकट के विषय मे ब्रिटिश लेबर पार्टी तत्काल और स्पष्टरूप से अपना दृष्टिकोण प्रस्तुत करे, यह बहुत आवश्यक है। (खण्ड २ पृ ५०६)

इसके तुरन्त बाद ही एटली ने चर्चिल के कहने पर लेबर पार्टी और ब्रिटिश ट्रेड यूनियन कॉग्रेस ने 'भारतीय कोग्रेस के असहयोग के आन्दोलन का विरोध करनेवाला निवेदन दिया। उसमे यह जोडा गया कि 'मजदूरो का आन्दोलन मानता है कि कोग्रेस के नेताओ की भारत सरकार द्वारा की गई गिरफ्तारी समयानुकूल और सावधानीपूर्ण कदम है।' (खण्ड २ पृ ५३०)

ब्रिटिशरो के कारनामो का विरोध बढता ही जा रहा था। उस विरोध को नष्ट करने के लिए लिनलिथगो और उसकी सरकार ने एक के बाद एक उपाय ढूँढने प्रारम्भ किए और उन उपायो को कार्यरूप मे परिणत करने लगे। लिनलिथगो के च्याग को दिए गए उत्तर के विषय मे आमेरी ने तार भेजा, 'च्याग काई शेक के उद्धत हस्तक्षेप के विरुद्ध दृढता के साथ व्यवहार करने के लिये हृदयपूर्वक समर्थन'। (खण्ड २ पृ ५७०) दक्षिण आफ्रिका के जनरल स्मट्स का निर्दोष सूचन था कि 'सरकार ने भारत की भावी सरकार के विषय मे विचारविमर्श करने के लिए नए सिरे से सभी समूहो के नेताओ के साथ चर्चा बैठक करनी चाहिए।' इसके उत्तर मे लिनलिथगो ने लिखा, 'जापान को पराजित करने की हमारी सेना की असफलता के कारण ही कॉग्रेस कितनी गर्वोन्मत्त बन गई है और परिस्थिति कितनी कठिन बन गई है, इसकी स्मट्स को कल्पना नहीं है।'(खण्ड २ पृ ६७३)

आतरराष्ट्रीय दबाव

अप्रैल १९४२ से जून १९४३ की अवधि मे भारत की माग को स्वीकार करने के विषय मे ब्रिटिशरो के ऊपर चीन तथा अन्य देशों का निरन्तर दबाव था। इन तीन खण्डो मे इस दबाव को दूर करने के विषय मे हजारो दस्तावेजो का समावेश है। चीन के अलावा केनेडा, अफघानिस्तान, अमेरिका, ऑस्ट्रेलिया, न्यूजीलेण्ड और दक्षिण

अफ्रिका इग्लैण्ड नई पहल करे, यह चाहते थे।

इसी समय कई धनवान अमेरिकी भारत की यात्रा पर आना चाहते थे। इससे सामान्य रूपसे नीति का पालन करनेवाला लिनलिथगो अत्यत व्याकुल हो जाता था। ३१ अगस्त, १९४३ के दिन उसने चर्चिल को लिखा, 'अब मुझे धमकी मिली है कि वेण्डेल विकी और शेरवुड एडी यहा आ रहे है, और एडी तो मामले मे हस्तक्षेप करके सहायता करने की बात कर रहा है।' (खण्ड २ पृ ६६२) उसको लगता था कि ऐसी भेट से जो दबाव बढता है, वह अपनी सरकार के लिए बहुत हानिकारक है। वास्तव मे, 'उनकी व्यक्तिगत बातचीत मे और मुलाकातो मे एक ही प्रकार की बाते होने के कारण वातावरण दूषित रहता है,' और उसने चर्चिल से प्रार्थना की कि 'एडवर्ड हेलीफेक्स को इन भावनाशील शुभेच्छको के प्रवाह को रोकने के लिए कहा जाय, जिससे हम यहा अपना काम कर सके।' बेचारे लिनलिथगो को आमेरी ने लिखा, 'तुम्हारे निवेदन के प्रति मुझे सहानुभूति है' और यदि विकी और एडी को भारत आने से रोका न जा सका, तो सूचित किया कि 'विकी बहुत उमदा और शौकीन आदमी है और विन्स्टन कहता है कि उमदा शेम्पेन उसको बहुत पसन्द है। एडी तो ऐसा आदमी है जो आबेडकर के साथ अस्पृश्यता के विषय मे बात करेगा तो खुश हो जाएगा।' (खण्ड २ पृ ६७३)

चर्चिल अमेरिकनो को नाराज नहीं करना चाहता था, इसलिए वाइसरोय को शान्त करने के लिये उसने लिखा,

'हम श्री वेन्डेल विकी और शेरवुड एडी को भारत आने से रोकने के लिए वॉशिग्टन को अवश्य कह सकते है। परन्तु दूसरे प्रकार से यह भी विचारणीय है कि यदि आवश्यक हो तो तुम उसको खुश करके उसका मत परिवर्तन कर सकते हो या नहीं। वेन्डेल विकी जब वहा था, तब मुझे ऐसा करने मे बहुत सफलता मिली थी। मैने इसके लिए बहुत मुसीबते झेली थीं। भोजन में वह उत्तम साथ निभाता है और हमारी दृष्टि से देखना उसको अच्छा लगता है। इस देश को और हमारे मित्रराष्ट्र को जोडने के लिए यह अच्छा मित्र है।'

'मैं शेरवुड एडी को जानता नहीं हू, परन्तु प्राप्त जानकारी ऐसी है कि वह मित्रता के भाव से युक्त है। मै हमेशा ऐसे अग्रणी अमेरिकनो को मिलने का अवसर प्राप्त कर लेता हू और उन पर अच्छा प्रभाव हो इसका ध्यान रखता हूँ। इसके परिणाम हमेशा अति सन्तोषकारक मिले है। तुम इस विषयमे क्या सोचते हो सूचित करो।

'किसी भी स्थिति मे किसी भी विदेशी को अन्दरूनी व्यक्तियो से मिलने नहीं दिया जाए।' (खण्ड २ पृ ७००)

लिनलिथगो के ऊपर बहुत दबाव था। गाधीजी के अनशन और कॉग्रेस के प्रति कठोरता के कारण हिन्दू आइ सी एस अधिकारियो की दुविधा बढ रही थी। (खण्ड ३ पृ ६८१)

सेना के कुछ लोगो ने 'कोग्रेस के विरुद्ध की किसी भी कार्यवाही मे सक्रिय रूप से भाग लेने से मना कर दिया था।' (खण्ड २ पृ ६७२) फिर भी वह समझौता न करने के निर्णय मे कायम था। बाद मे जिसका लिनलिथगो के अनुगामी के रूप मे विचार हुआ था, उस रिचार्ड लॉ जैसे लोगो ने अमेरिका के अभिप्राय पर विचार करने का परामर्श दिया था और मेकेन्जी किग ने सहायता करने का प्रस्ताव रखा था, फिर भी लिनलिथगो अडिग रहा।'

गाधीजी का अनशन

इन दस्तावेजो मे कुछ ऐसी जानकारियॉ है जिन पर हॅसी आती है। गाधीजी के अनशन काल मे चर्चिल निरन्तर पूछता रहता था, 'मैने सुना है कि गाधी जब इस अनशन का सहारा लेता है, तब वह पानी के साथ ग्लुकोज पीता है। क्या इस बात की जानकारी मिल सकती है ?' (खण्ड ३ पृ ४६३) वाइसरोय ने उत्तर भेजा, 'कदाचित् ऐसा हो, परन्तु उनके सेवको को विश्वास नहीं है। इस बार के (यूरोपीय) डॉक्टर कहते हैं कि इससे पूर्व के अनशन के समय गाधीजी ने सावधानी रखी थी कि उनके पानी मे ग्लुकोज न मिलाया जाय। मुझे कहा गया है कि कल ही उनके वैद्यकीय परिचारको ने उनको ग्लुकोज लेने के लिए समझाया था। आज भी आग्रह किया था, परन्तु उन्होने स्पष्ट इनकार कर दिया।' (खण्ड ३ पृ ४७०)

२५ फरवरी को चर्चिल ने पुन तार भेजा, 'गाधी के अनशन के विषय मे सन्देह अवश्य है। कोई गोलमाल पकडा जाय तो अच्छा होगा। निश्चित रूप से आसपास मे जब इतने अधिक हिन्दू डॉकटर हो, तो छिपकर उन्हें ग्लुकोज पिलाना बहुत सरल है। (खण्ड ३ पृ ५३८) इस समय वायसरोय ने अनुकूल हो कर दूसरे ही दिन तार भेजा, 'सरकारी डॉकटरो की जानकारी के बिना उनको ग्लुकोज अथवा दूसरी कोई भी वस्तु पहुॅचाना जरा भी कठिन नहीं है।' फिर लिखा, मैं कई अमेरिकी पत्रकारो को चतुरतापूर्वक सूचित करता हू कि यह कोई उनके हृदय को पिघलाने वाली बात नहीं है, उनके पैर खींचनेवाली बात है। (खण्ड ३ पृ ५४६) ये समाचार योग्य रीति से लिखवाकर पूरी दुनिया मे प्रसारित किए गए, साम्राज्य के दूसरे देशो मे एटली ने भेजे, और लिनलिथगो का तार मिला, उसी दिन चर्चिल ने स्मट्स को तार भेजा,

'मुझे नहीं लगता है कि गाधी मरना चाहते है, मैने पिछले सप्ताह खाया था, उससे भी अच्छा भोजन वे ले रहे है। अब ऐसा लग रहा है कि उनके अनशन की पोल खुल जायेगी। इन सब झूठी बातो को तथा तमाशो को सत्य मानने वाले हम कितने मूर्ख हैं। यहा का अभिप्राय बिलकुल स्थिर है और वायसरोय बिलकुल सही है। उपवास प्रारम्भ होने से पूर्व हमे विश्वास था कि चौथा दिन मुसीबत वाला होगा। बाद मे ग्यारहवा दिन आया और हमे कहा गया कि हम यदि उनका अनशन नहीं छुड़वायेगे, तो बहुत देर हो जाएगी और गाधी जीवित नहीं रह सकेगे। अब आज तो सोलहवॉ दिन है। उसने जब देखा कि यहा तो कोई ढीलापन नहीं दिखाई दे रहा है, तब उन्होने अपनी तरफ से व्यवस्था कर ली, इस विषय मे मै क्या मानता हू, वह स्पष्ट शब्दों मे कागज के ऊपर नहीं लिख सकता हूँ। यह तुम समझ सकते हो।' (खण्ड ३ पृ ५४७)

२८ फरवरी को चर्चिल ने लिनलिथगो से कहा, 'अब तो मुझे निश्चित रूप से ऐसा लगता है कि यह बुड्ढा बदमाश इस अनशन से अधिक ताजा हो कर बाहर आएगा।' (खण्ड ३ पृ ५५३)

नये वायसरॉय का चयन

खण्ड ३ मे अनेक दस्तावेज लिनलिथगो के अनुगामी के प्रश्न की चर्चा करते हैं। चर्चिल को छोड सबका ही, एटली और आमेरी सहित, इस पद के लिए कभी कभी (अक्टूबर १९४२ से जून १९४३ तक) विचार हुआ था। १९३० मे गाधी इरविन करार के एक पक्षकार के रूप मे हेलिफैक्स का नाम भी वायसरोय पद के लिए सोचा गया था। एडन को इस कार्य को स्वीकार करने के लिए लिखते हुए आमेरी ने कहा, 'आगामी पाच वर्ष भारत के लिए ही नहीं, तो समग्र साम्राज्य और विश्व के लिए सकटपूर्ण हैं। यदि इन वर्षो मे भारत के लोग आपस मे एकमत न हो, तब भी वर्तमान शासन व्यवस्था और ब्रिटिशरो के साथ किसी न किसी समय या किसी भी रूप मे दुश्मनी बढाई, तो भारत पर किसी भी प्रकार से शासन करना कठिन हो जाएगा और कठिनाइया निर्माण करनेवाली शक्तियो के समक्ष प्रदर्शित हमारी दुर्बलता के कारण वह हमसे अलग हो जाएगा।

हम भारत को खोएँगे, तो सम्पूर्ण मध्यपूर्व मे और हिन्द महासागर के सभी ब्रिटिश देशो मे हमारी स्थिति कमजोर पड जाएगी। इतना ही नहीं तो साम्राज्य से इस प्रकार से अलग हुए भारत मे नागरिक युद्ध प्रारम्भ हो जाएगा। उससे विदेशियो के षड़यन्त्र को लाभ मिलेगा और अन्त मे आक्रमण भी होगा। किसी भी रूप मे एशिया भविष्य के लिए भयजनक क्षेत्र बन जाएगा और भारतीय साम्राज्य के बिखर जाने से

तीसरे विश्वयुद्ध के अलावा किसी भी बात की मे कल्पना नहीं कर सकता हूँ।

यह सब सम्भव है। जो ठीक हो ही नहीं सकता, वहा उचित स्वरूप की दृढता और जो उचित विचार कर सकता हे, उसके साथ विश्वास ओर सहानुभूतिपूर्वक वात करने से भारत को अधिक आशाप्रद मार्ग की ओर मोडा जा सकता है। इसलिए मैं विपरीत परिस्थिति को अनिवार्य नहीं मानता हूॅ। भारतीयो को यदि समझाया जा सके कि उनके भविष्य के विषय मे हम प्रामाणिकता से व्यवहार कर रहे हे और उनके साथ मिलकर एक ऐसे सविधान को बनाने के लिए सहमत किया जा सके, उनके लिए सहजीवन सम्भव बनाए और दुनिया का मुकाबला कर सके, तो आधा युद्ध तो हम जीत ही जाएगे। एक बार उन्हे साथ की आवश्यकता प्रतीत होने लगेगी, तो उन्हे इग्लैण्ड के साथ सम्बन्ध बनाए रखने के लाभ समझ मे आयेगे। इस मार्ग मे अडिग रहने के लाभ अधिक से अधिक स्पष्ट होते जायेगे ओर मुक्त होने का हेतु मनोवैज्ञानिक ढग से दुर्बल होता जाएगा। भारत को बडे भय से बचने के लिए अभी भी कोमनवल्थ के शेष राज्यो की सहायता की आवश्यकता है। ऐसा होते हुए भी वह स्वय भी इस भय का सामना करने मे महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा सकता है। भारत जितना अधिक शक्तिशाली बनेगा, उतना ही वह हमारे लिए शान्ति का स्रोत बनेगा।

'इन सभी विषयो मे व्यक्तिगत प्रभाव अधिक महत्त्वपूर्ण है। अपने भारतीय काउन्सिलरो का आदर, विश्वास और प्रेम जीत सकनेवाला वायसरॉय, जो बिना व्यक्तिगत नियन्त्रण खोए भारतीयकरण का विस्तार कर सके, जो भारत को यह मानने के लिए प्रेरणा दे कि भविष्य के स्वराज के लिए तैयारियॉ प्रामाणिकरूप से हो रही है और नैतिक और बौद्धिक समस्याऍ उसे स्वय ही हल करनी है। इस प्रकार के विचारो मे उनकी रुचि उत्पन्न कर सके और फिर भी सरकार की सत्ता अबाधित रख सके, वही इन पाच वर्षो से भी कम समय मे सपूर्ण परिस्थिति को पूर्ण रूप से परिवर्तन कर देगा।' (खण्ड ३ पृ ६८५)

एडन को भेजने का अन्तिम बार प्रयत्न करते हुए आमेरी ने चर्चिल से कहा कि एडन के जाने से भारत के वातावरण मे परिवर्तन आएगा और ऐसा कोई उपाय मिलेगा, जिससे भारत मे व्याप्त अनवस्था रुके और तीसरे विश्वयुद्ध का भय उत्पन्न न हो। अर्थात् कोमनवेल्थ के अन्तर्गत एक स्थिर भारतीय सरकार बनाई जाएगी।' (खण्ड ३ पृ ७६३) एक बार तो एडन इस विचार को स्वीकार करने के लिए तैयार हो गया, फिर भी चर्चिल और राजा ज्योर्ज षष्ट ने आशका व्यक्त की कि ऐसे समय मे विन्स्टन (चर्चिल) ऐसे महत्त्वपूर्ण अधिकारी को निलबित नहीं कर सकता है।' (खण्ड ३ पृ ६८८)

आमेरी ने बाद मे लिनलिथगो को लिखा, 'जानता हू कि राजा को लगता है, और विन्स्टन ने उनसे कहा है कि विन्स्टन को कुछ हो जाए तो एडन उसका अनुगामी है।' भारत की स्थिति मे इस समय कोई बडा परिवर्तन आवश्यक नहीं लगता था। इसलिए वायसरोय के रूप मे वेवेल का चयन हुआ॥

दो प्रवाह

उपरोक्त सक्षिप्त निरूपण से जानकारी मिलती है कि 'भारत सत्ता का हस्तातरण' के तीन खण्डो मे प्रकाशित दस्तावेजो मे भरपूर नाट्यपूर्ण सामग्री समाहित है, और आज के किसी राजकीय उपन्यास से भी अधिक उसको पढने मे आनन्द आएगा। बेचारे लिनलिथगो पर परामर्श की वर्षा हो रही है। उसको चिन्ता है कि वेन्डेल विकी को किस प्रकार शान्त किया जाय और शेरवुड एडी को किस प्रकार दूसरी दिशा मे मोडा जाय। वास्तव मे चिन्ता है बिवरली निकोलस की पत्रकारिता की प्रतिभा का योग्य उपयोग किस प्रकार किया जाय। इससे अधिक चिन्ता है सुन्दरवन क्षेत्र के दुष्ट लोगो को अपने लाभ मे उपयोगी बनाने के लिए और जपानियों के लिये उपयोगी बनने से रोकने के लिए जयप्रकाश नारायण के साथ किस प्रकार कार्य किया जाय। (खण्ड ३ पृ ३७५) लिनलिथगो को चारो ओर से अनेक प्रकार से परामर्श मिलता था, उसने इन सुझावो को अधिक महत्त्व नहीं दिया। उसका मानना था कि जयप्रकाश नारायण को छोड़ दिया जाय, तो उनकी क्षमता के बावजूद गेरिलाओ को प्रशिक्षण देने के प्रस्ताव से वह सहमत नहीं होगा।' (खण्ड २ पृ २४८)

इतिहासकार एडवर्ड थोम्पसन की चर्चा से इन सुझावो का जन्म हुआ था। आमेरी भी इससे सम्मत था कि जब हम स्वय उसके विरोध मे खड़े होगे, तब हमको स्वय नए सिरे से हमारी अपनी धारणाओ की समीक्षा करनी होगी और जिनको वश मे करना चाहिये, ऐसे बदमाश कौन है, और जिनका उपयोग हो सकता है, ऐसे बदमाश कौन है, अथवा जिनको उकसाना पडेगा, ऐसे बदमाश कौन है, यह निश्चित करना पडेगा। परन्तु दस्तावेजो मे भारतीयो की रुचि उत्पन्न हो, ऐसी बात तो यह है कि भारत का भविष्य बनाने के लिए ब्रिटिशरो का दिमाग किस प्रकार काम करता है, यह समझने के लिए इसमे सामग्री मिल जाती है।

भारत मे ब्रिटिश शासन भविष्य मे किस प्रकार का होगा, इस विषय मे दो प्रकार के विचारप्रवाह इन दस्तावेजो मे देखने को मिलते है। इसी के परिणाम स्वरूप इग्लैण्ड और भारत के सम्बन्धो का प्रवाह किस मार्ग से मुडेगा, इस विषय की दो धाराये भी पहचानी जा सकती है।

पहला दृष्टिकोण वाइसरॉय लिनलिथगो का है। यही मत उसके साथ काम करने वाले उसके सहयोगियो का और चर्चिल का भी है। लिनलिथगो के मतानुसार 'भारत और बर्मा का साम्राज्य के साथ स्वाभाविक मेल नहीं है। धर्म, इतिहास और वश की दृष्टि से वे साम्राज्य से बिलकुल भिन्न है। इसलिए उन दोनो मे से एक को भी साम्राज्य के लिए स्वाभाविक स्नेह नहीं है। वे साम्राज्य के अदर है , क्योकि दोनो जीते गए देश हैं और जबर्दस्ती साम्राज्य मे मिलाए गए है। उनको हमारे नियन्त्रण मे रखा गया है और आज तक हमारे सरक्षण के अन्तर्गत है। मुझे सन्देह है कि जिस क्षण हम युद्ध मे पराजित होगे, उसी क्षण ये देश हमारी बलि देकर विजेताओ के साथ सन्धि करेगे। अभी हमारे आदर्शो के कितने भी गुणगान करते हो, तब वे हमारे साथ खड़े नहीं रहेगे। (खण्ड १ पृ २३)

इस के ठीक विपरीत दृष्टिकोण था एटली का। आमेरी तथा क्रिप्स सहित अनेक लोग उससे सहमत थे। लिनलिथगो का उपरोक्त मत सुनकर एटली ने आवेशपूर्वक कहा,'वायसरोय ऐसा निवेदन करता है, यह अत्यन्त आश्चर्यजनक है। यह तो साम्राज्य के विरुद्ध मे प्रचार के भाषण से उद्धृत किये जैसा लगता है। यदि यह सत्य है तो हमारा भारत का शासन निश्चित रूप से आलोचना के योग्य माना जाएगा और भारत के किसी भी अन्तिमवादी का कार्य उचित माना जाएगा।' परन्तु एटली के मतानुसार 'यह सम्पूर्ण सत्य नहीं था।' उसके मतानुसार सत्य यह था कि,

'समग्र भारत विजय का फल नहीं था। अधिकाश भारत तानाशाही और अनवस्था से उबरने के लिए हमारी शरण मे आया था। १५० वर्ष के इतिहास मे इग्लैण्ड और भारत मे घनिष्ठ सम्बन्धो का निर्माण हुआ है।'

'भारत मे हमारे शासन की यह बहुत बड़ी उपलब्धि है कि भले ही वे पूर्णरूप से इसको स्वीकार न करते हो, तो भी भारत का शिक्षित वर्ग इग्लैण्ड के न्याय और स्वतन्त्रता के सिद्धान्त को स्वीकार करता है। भारत के लोग अपने मापदण्डो से हमारा तिरस्कार नहीं करते है। इसके लिए वे हमारे ही मापदण्ड अपनाते है। हमने ही उनको मापदण्ड स्वीकार करना सिखाया है।' (खण्ड १ पृ ६०)

इग्लैण्ड के भारत विषयक इस प्रकार के आपस मे विरोधी दो प्रकार के अभिप्राय होना, इग्लैण्ड के लिए नई बात नहीं थी। भारत मे जबसे ब्रिटिश शासन का प्रारम्भ हुआ, तब से दो प्रकार के अभिप्राय भिन्न भिन्न सन्दर्भो मे अभिव्यक्त होते रहे हैं। लिनलिथगो ने १९४२ में व्यक्त किया, उसी प्रकार का दृष्टिकोण क्लाइव, मनरो, माल्कम, मेटकाफ और अन्य अनेक लोगो ने समय समय पर व्यक्त किया था। मेटकाफ

ने ११ अक्टूबर, १९२८ को अपनी दैनन्दिनी मे भारत मे ब्रिटिश शासन की कमजोरियो के विषय मे टिप्पणी की थी।

दूसरा दृष्टिकोण भी इतना ही पुराना था। डेढ सौ वर्ष तक कोर्नवॉलिस, विल्बरफोर्स, जेम्स मिल और मेकोले जैसे लोग मानते थे कि जैसा भी हो ब्रिटिश साम्राज्य मानवजाति के लिए आशीर्वाद समान था और इग्लैण्ड ने भारत के लोगो को 'तानाशाही और अनवस्था से बचाने के लिये उन्हे न्याय और स्वतन्त्रता के सिद्धान्त सिखाए थे।'

सघर्ष पर जोर

अन्तमे इन अभिलेखो का महत्त्व इस बात मे है कि ये हम मे अस्थायी रूप से ही क्यो न हो , इस बात का प्रमाण देते हैं कि १९४२ के बाद अग्रेज निरन्तर भारत के शिक्षित वर्ग को भारत की रीढ की हड्डी के समान सामान्य भारतीय समाज से अलग करने के प्रयास करते रहे। वास्तव मे अग्रेजो की नीति, जातियो के मध्य नहीं, अपितु प्रत्यक्ष स्वतन्त्रता आन्दोलन मे ही सघर्ष निर्माण करने की थी। जातियो मे सघर्ष के लिए अब कुछ करने की आवश्यकता नहीं थी। अनेक वर्ष व्यतीत होने पर इसने तो स्वय ही गति पकड़ ली थी। भारत के लिए अब स्वतन्त्रता देना किसी भी स्थिति मे अनिवार्य है, ऐसा प्रतीत होते ही अब ऐसे लोगो के हाथ मे सत्ता देनी चाहिए, जो विचार और दृष्टिकोण मे ब्रिटिशरो के अधिक से अधिक नजदीक हो यही काम सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बन गया। अब यह उनका उद्देश्य था कि महात्मा गाधी और उनके समान विचार रखने वाले लोगो को किसी भी प्रकार से प्रभावकारी और अधिकारवाले पदो से दूर करना चाहिए। इस विषय मे ब्रिटिशरो को अमेरिका का पूर्ण सहयोग मिला। रुझवेल्ट के कथनानुसार अमेरिका का लक्ष्य भी यही था कि,

'इनको ऐसी कोई व्यवस्था पर विचार करना चाहिए, जिससे भारत का स्थान यूरोप और अमेरिका के साथ हो, अर्थात् वह एशिया की नहीं परन्तु पश्चिम की भ्रमण कक्षा मे रहे।' (खण्ड २ पृ ४२४)

इस दृष्टिकोण के समर्थन अथवा विरोध के लिए 'सत्ता का हस्तान्तरण' के शेष सात खण्डो का प्रकाशन होने तक प्रतीक्षा करनी पड़ेगी।

---

* ८ जुलाई १९७२ को दिल्ली के 'मेन स्ट्रीम (Main Stream)' में प्रथम प्रकाशित 'इण्डिया द ट्रान्सफर ऑव पावर, खण्ड १, २, ३ (जनवरी १९४२ से जून १९४३), एचएमएसओ, लन्दन (India The Transfer of Power, Vol I, II, III (January 1942 to June 1943) HMSO, London) पर टिप्पणी।

३. आधुनिक भारत में मापदण्डों और गौरव का क्षरण

(अठारहवी शताब्दी का उत्तरार्ध और उन्नीसवी शताब्दी का परिप्रेक्ष्य)

हमारे योजनाकार दावा कर रहे है कि ग्रामीण क्षेत्रो की आवश्यकताओ को पूरा करने के लिए धन की कोई कमी नहीं है। नाममात्र का ऋण लेने पर भी जब तक वह उसे चुका न दे तब तक देनदार के घर ग्रामवासी दास बनकर रहता था वे दिन अब अतीत की बात बन गई है ऐसी हमारी धारणा बन गई है। सन् १९७८ का राष्ट्रीय बन्धुआ मजदूर सर्वेक्षण का भारत के १० बडे राज्यो का ब्यौरा चौंका देनेवाला है। उसमे दर्शाया गया है कि वैसी ही बन्धक प्रथा अभी भी अस्तित्व मे है। इतना ही नहीं तो ऐसे बन्धक पीढी दर पीढी बन्धक ही रहते है। ऐसे दस राज्यो को मिलाकर ऐसे बन्धुआ मजदूरो की सख्या २६ लाख के लगभग है। जिन राज्यो मे इस प्रकार का सर्वेक्षण नहीं हुआ है वहॉ भी ऐसी ही स्थिति हो सकती है। केवल गॉवो मे ही नहीं अपितु नगरो मे भी ऐसी स्थिति हो सकती है। आज तो अब सब जानते है कि बिहार और पूर्वी उत्तर प्रदेश जैसे अधिक जनसख्यायुक्त राज्यो से हरियाणा और पजाब के खेतो मे काम करने के लिए बड़ी सख्या मे मजूदर जाते है, और वहॉ उनके साथ बडा ही कठोर और दयनीय व्यवहार किया जाता है।

स्वाभाविक रूप से प्रश्न उठता है कि भारत मे ऐसा कैसे हो सकता है ? अहवाल मे जिसका विस्तृत वर्णन किया गया है वैसी वर्तमान स्थिति का उद्‌गमस्थान कहॉ हो सकता है ? ऐसी स्थिति से निपटने के लिए किसी भी प्रकार की योजना करे उससे पहले उस स्थिति से इस बात पर विचार करना पडेगा कि क्यो ऐसी भयकर दशा और ऐसे अमानुषी व्यवहार को मान्यता दी जाती है। विचारहीन प्रगतिशील लोगो मे बहुत प्रिय ऐसा एक मन्तव्य यह होता है कि ऐसी बर्बर स्थिति और व्यवहार तो भारत मे प्राचीनकाल से ही रहा है। उनके मतानुसार गरीबी, अज्ञान, रोग भी पुरातनकाल से भारत के जीवन के अविभाज्य अग ही रहे हैं।

हम अगर सुझावो के सन्दर्भ मे सचमुच गभीर है, तो ऐसे अभिप्रायो और अर्थघटनो की गहराई से छानबीन करने की आवश्यकता है। क्यो कि ऐसे अर्थघटन

अधिकतर कर्णोपकर्ण सुनी हुई बातो के आधार पर ही किये जाते है, न कि ऐतिहासिक तथ्यो के आधार पर। अभी हम जिस प्रथा और उससे सम्बन्धित अभिप्रायो की चर्चा कर रहे है वह भी ऐतिहासिक प्रमाणो के अभाव मे ही कर रहे हे। ये ऐसे क्षेत्रो से आयात हुए है जहॉ भूमिदास 'कुर्वी' जैसी प्रथा आज भी अस्तित्व मे है।

यह लेख दो सौ वर्ष पूर्व जब भारतीय समाज स्वय के द्वारा निश्चित किए गए मापदण्डो के अनुसार चलता था उस समय का यथातथ और विस्तृत चित्र देने के लिए लिखा गया है। एक व्यक्ति का सम्मान तथा किसान, रोजिदा मजदूर आदि की स्थिति उस समय कैसी थी और समयानुसार उसमे किस प्रकार परिवर्तन आते गए और स्थिति कैसे बिगड़ती गई उसका पूर्ण निरूपण करने का इस लेख का उद्देश्य है। जिस ऐतिहासिक जानकारी के आधार पर यह लेख आधारित है वह बताती है कि बन्धुआ मजदूरो की आज की वास्तविकता केवल १५० से २०० वर्ष पुरानी ही है। उस समय भारत के लोगो की मजदूरी पर सर्वाधिक कर वसूल किया जाता था। सम्पत्ति और उसकी व्यवस्था विदेशी सिद्धान्तो के आधार पर की जाती थी। परिणामस्वरूप समाजव्यवस्था सर्वथा टूट सी गई थी। ऐसे समय मे राज्य की नीति और आवश्यकताओ के विभिन्न कारणो से अधिकाश सामान्य भारतीय मजदूरी करने की स्थिति मे आ जाते थे और अधिक धनहीन लोगो को तो और भी कठिन मजदूरी करनी पडती थी।

एक से अधिक पीढियो तक ऐसे विदेशी मापदण्ड थोपे जाने के कारण शासन व्यवस्था और उसकी आनुषगिक अन्य व्यवस्थाये और उसके अधीनस्थ कार्य करनेवालो का मानस ऐसा बन गया कि ग्रामीण क्षेत्र हो या नगरीय सभी को यह बात गौरवपूर्ण लगने लगी। उस अवस्था ने शासक वर्ग को बहकाया, सामान्य मनुष्य को असहाय बना दिया और कुल मिला कर मनुष्य का गौरव खण्डित कर दिया। शतको से जिन मापदण्डो के आधार पर भारत के लोगोने एक दूसरे का आदर और सम्मान करते हुए अपनी समाजरचना वनाई थी उन्हीं मापदण्डो का इस थोपी हुई प्रणाली से ध्वस हो गया। सच कहा जाय तो बन्धुआ मजदूरी की यह प्रथा भारतीय सर्व सामान्य मनुष्य का गौरव खण्डित करने की और समाज को अस्तव्यवस्त कर देने की एक बडी योजना का एक छोटा सा उदाहरण है।

इस बन्धुआ मजदूरी की प्रथा और उसी प्रकार के अन्य दूषणो को नष्ट करने के लिए सर्व प्रथम तो दो शताब्दियो से चली आ रही प्रक्रिया को पूर्णरूप से उलट देनी पडेगी, और बन्धको, गरीबो और सहन करना ही जिसका एक मात्र जीवनकम बन गया

है ऐसे सभी लोगो का आत्मगौरव पुन प्राप्त करने की योजना बनानी पडेगी। भारत की पूर्ण सम्पत्ति की पुनर्व्यवस्था भी इस प्रकार से करनी पड़ेगी जिससे ऐसे लोगों को भारत की एकात्मता, समृद्धि और गौरव प्राप्त करने की सभी योजनाओ मे स्वय की भागीदारी का अनुभव हो।

कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि ये सभी वर्ग (भारत की जनसख्या का बड़ा भाग) एक दूसरे के साथ लड़ते नहीं है अथवा आपस मे ही असहिष्णु नहीं बनते हैं। परन्तु आज परिस्थिति अत्यन्त दूषित बन गई है। दुष्ट परन्तु बलवान के हाथो यह बडा वर्ग एक कठपुतली जैसा ही है। अनेकानेक कृत्य करने के लिए इसका उपयोग किया जाता है। ऐसी अवस्था मे उनसे सदाचार की अपेक्षा करना असम्भव को सम्भव बनाने जैसी बात है। उसी प्रकार उनकी दयनीय स्थिति के विषय मे शाब्दिक सहानुभूति व्यक्त करने का भी कोई अर्थ नहीं है। इतना ही होगा कि यह विषय चर्चा मे रहेगा। हम मे से ही जिन लोगो के पास थोड़ी बहुत सुविधा है वे सभी बन्धुआ मजदूरो के मालिको जैसे ही है। हम बहुत सभ्य लग रहे है परन्तु अपनी व्यवस्था और व्यवहार के प्रकार उनसे भिन्न नहीं है।

प्रश्न उपस्थित होना उचित ही है कि दो सौ वर्ष पूर्व किसान और मजदूरो की स्थिति सम्पन्न, सहज और गौरवपूर्ण थी तो फिर यह अचानक और इतनी सम्पूर्णत यूरोपीय आधिपत्य के नीचे कैसे आ गई ? (सन् १७८० के आसपास बिहार और वाराणसी के लोकजीवन के निरूपण के लिए इस अध्याय के अन्त मे जोडा गया परिशिष्ट 'क' देखे) इस प्रकार के परिवर्तनो की पार्श्वभूमि की कारणपरम्परा किंचित् जटिल है, परन्तु विश्व के इतिहास मे अनेक देशो मे ऐसा देखा गया है। भिन्न भिन्न समय पर भिन्न भिन्न देशो मे ऐसा होता रहा है। यूरोप मे भी ऐसा हुआ है। सन् १७५० के बाद इग्लैण्ड का भारत मे आधिपत्य हुआ। लेकिन वह स्वय भी ग्यारहवीं शताब्दी मे छोटी सी नोर्मन जाति के द्वारा परास्त हुआ था। उनके नेता विलियम (विजेता विलियम)का आधिपत्य वहाँ प्रस्थापित हुआ। परन्तु इस नोर्मन जाति की परम्परा और जीवनशैली वहाँ स्थापित हुई और मूल इग्लैण्डवासी बिलकुल कगाल स्थिति मे आ गये। ऐसी स्थिति वहाँ लगभग ८०० वर्ष तक रही। उसी प्रकार सन् १७५० के बाद विभिन्न राजकीय, धार्मिक और आध्यात्मिक प्रकार के भारत को सरलता से इग्लैण्ड के आधिपत्य का शिकार बना दिया। उसके बावजूद भी १७५० से १८५० का समय ब्रिटिशरो के लिए पूर्ण विश्रान्ति का नहीं था। इन सौ वर्षों के समय मे भारत मे स्थान स्थान पर अस्वस्थता की स्थिति थी। इसके बावजूद भी बन्धुआ मजदूरी के इस प्रश्न के सम्बन्ध मे सर्वथा भिन्न प्रकार

के विश्लेषण की आवश्यकता है। वर्तमान प्रचलन के लिए अल्पावधि का विश्लेषण उपयुक्त नहीं होगा।

१

पश्चिम, और विशेष कर के इग्लैण्ड से सर्वथा विपरीत भारत मे प्राचीन काल के समाज की रचना के मूल मे व्यक्ति नहीं परन्तु जाति रही है। इसका अर्थ यह नहीं है कि भारत मे व्यक्ति का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। वास्तव मे तात्त्विक रूप से तो व्यक्ति अनादिकाल से सर्वश्रेष्ठ स्थान रखता ही है। फिर भी सामाजिक स्तर पर अभी तक, और यूरोपीय आधिपत्य स्थापित किया गया तब तक व्यक्ति स्वय की स्वाभाविक स्वतन्त्रता को सुरक्षित रखते हुए स्वय की अपेक्षा व्यापक ऐसे समाज का एक अविभाज्य अग बनकर ही रहता था। परिवार के अग के तौर पर व्यक्ति, कुल के अग के तौर पर परिवार, जाति के अग के तौर पर कुल और ऐसी विभिन्न प्रकार की अगागी भाव की रचना से समाज का अस्तित्व बना रहता था। इसी प्रकार परिवार, कुल इत्यादि विभागो का भौगोलिक रूप से भी मुहल्ला, ग्राम, नगर और वाराणसी, मदुराई, तजावुर, पाटलीपुत्र (वर्तमान पटना) जैसे महानगरो की बस्तियो के रूप मे समायोजन होता था।

वर्षो तक विश्व के अन्य देशो की तरह भारत मे भी राजकीय अनवस्थापूर्ण समय आया और अनायास ही रचनागत परिवर्तन हुए। ये परिवर्तन सास्कृतिक सकल्पनाओ के और उनकी अभिव्यक्ति के क्षेत्र मे भी थे। सम्भव है कि महाभारत के समय का भारत, और महाभारत के समय के विषय मे मतैक्य नहीं है तो चन्द्रगुप्त मौर्य के समय का, गुप्त युग का या हर्षवर्धन के समय का भारत आज के भारत से बहुत भिन्न था। भारत के इतिहास मे किसी समय मनुसहिता के अनुसार देश चलता था। मनुसहिता मे सामाजिक, आर्थिक, राजकीय जीवन के विभिन्न पहलुओ के विषय मे नियम और सूत्र दिए गए हैं। देश के कई भागो मे या सम्पूर्ण देश मे मनुसहिता का नियम चलता था। परन्तु अन्य देश और अन्य सभ्यताओ के इतिहास को देखे, तो मनुसहिता जैसे ग्रन्थो मे जिस विस्तार और सावधानी पूर्वक समाजरचना का विवरण दिया गया है, उसके मूल तत्त्वज्ञान मे बहुत गहरे नहीं हैं, और अपेक्षाकृत आधुनिक ऐसे अनेक समर्थ तत्त्वचिन्तको ने जो आदर्श प्रस्तुत किए है, उनसे विशेष अभिन्न नहीं हैं।

अनेक वर्ष पूर्व की समाजरचना और जीवन पद्धति का विचार न करे तो भी सोलहवीं, सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दी मे यह बात सत्य है कि अधिकाश ब्राह्मणो ने अपनी वैदिक और शास्त्रीय परम्परा का अपना ज्ञान, अपना अध्ययन, उसके अनुरूप

अपनी सादगी और उस परम्परा के विषय मे गर्व भी अठारहवीं शताव्दी मे ठीक प्रकार से सम्हाल कर रखा हुआ था। वे लोग प्राचीन परम्परा की तरह अग्रहार, शासन, इत्यादि जैसी भिन्न व्यवस्थाओ मे रहते थे। परन्तु इतिहास मे कभी भी ब्राह्मण भारत की जनसख्या का वहुत बड़ा वर्ग नहीं रहा हे। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध मे दक्षिण भारत मे उनकी सख्या कुल जनसख्या के लगभग ५ प्रतिशत ही थी। समग्र भारत मे भी जिनको परम्परा से द्विज कहा जाता है, ऐसे लोगो की सख्या १५ प्रतिशत से कभी भी अधिक नहीं थी। इसी प्रकार अरब, तुर्क, अफगान, पर्शियन और मध्य एशिया की जातियो के वशजो को छोड़कर जो मुसलमान थे, उनके द्वारा धर्मान्तिरण किए जाने पर भी, उनकी पूर्व की जातियो के साथ उनके अच्छे सम्वन्ध थे। यही बात अभी अभी धर्मान्तरित होकर ईसाई बने हुए भारतीयो पर भी लागू होती है।

२

गत डेढ सौ वर्षो मे हमारे देशमे ब्रिटिश पद्धति का विद्वत् व्यवहार प्रारम्भ हुआ। इसी समय से यह धारणा प्रस्थापित हुई कि ब्राह्मण और ऊँचे घराने के मुस्लिमो को छोडकर सभी, अर्थात् ८०, ८५ प्रतिशत लोग, ब्राह्मण ओर उमरावो के द्वारा किये गये शोषण का ही शिकार बने हुए थे, उनका जीवन अज्ञानमय और अधकारमय था। यूरोप मे ब्रिटिशरो की सन् १८०० से पूर्व ऐसी ही स्थिति थी, इसलिए उन्होने भारत के विषय मे भी ऐसा ही माना। यह बात भी समझने योग्य है कि अठारहवीं और उन्नीसवी शताब्दी मे ब्रिटिश लेखक और विद्वानो के मतानुसार अज्ञान और अधकार का अर्थ भी कुछ अलग ही था। उनके अनुसार कला, कारीगरी, विज्ञान, टेकनोलॉजी आदि अच्छी तरह जानते हुए भी यदि ईसाई पथ और उसकी आध्यात्मिक परम्परा का ज्ञान नहीं है, तो वे अज्ञान और अन्धकार मे पडे हुए है ऐसा ही माना जाना चाहिये। इस परिभाषा के अनुसार जो ईसाई नहीं हुए, ऐसे सभी हिन्दू ही नहीं, अधिक प्राचीन ग्रीक और रोमन लोग भी ज्ञान और प्रकाश से वचित ही थे। होमर, सोक्रेटिस, प्लेटो इत्यादि का भी इनमे समावेश होता था।[२]

परन्तु प्रश्न यह है कि यदि भारत अन्धकार और अज्ञान मे डूबा भी नहीं है और मनुसहिता अथवा उसी प्रकार के किसी धर्मशास्त्र की नींव पर भी आधारित नहीं है, तो फिर इतनी विशाल जनसख्यावाला समाज किस प्रकार व्यवस्थित चलता था। किसान, कारीगर, लुहार, जुलाहे, वैद्य, ज्योतिपी, खगोलवेत्ता इत्यादि अपने व्यवसाय किस प्रकार चलाते थे ओर उनका विकास भी किस प्रकार करते थे ? वस्तुत अठारहवीं शताब्दी की

जो जानकारी मिलती है, उसके अनुसार सस्कृत को छोडकर शेष शिक्षा तो लगभग ८५ प्रतिशत लोगो को प्राप्त थी।[३] इसीके साथ मुबई प्रेसिडेन्सी के भिन्न भिन्न प्रदेशो मे रहने वाली जातियो के रिवाजो के सन्१८२० मे हुए सर्वेक्षण मे विद्वानो के द्वारा निर्दिष्ट शास्त्र भी ऐसे रिवाजो को मान्य करते थे, और जातियो की पचायतो को ही उसमे अन्तिम निर्णय लेने का अधिकार भी था।[४] इसी प्रकार का सर्वेक्षण यदि अन्य विषयो मे किया जाए, तो हमे बहुत ही चौकाने वाली जानकारी मिल सकती है। इस प्रकार के अध्ययन से यह बात भी ध्यान मे आ सकती है कि सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दी के अधिकाश हिन्दू राजा ब्राह्मण नहीं, अपितु इसी प्रकार की अन्य जातियो के थे।

इसका अर्थ यह नहीं है कि सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दी मे ब्राह्मणो का दर्जा श्रेष्ठ नहीं माना जाता था, अथवा वे अपनी जाति को विशिष्ट नहीं मानते थे, अथवा उनका सम्मान नहीं होता था। वस्तुत सम्पत्ति और प्रतिष्ठा के अन्तर नहीं थे ऐसा भी नहीं है। ऐसे लोग भी थे, जिनके पास खूब सम्पत्ति थी और ऐसे भी थे, जो सामान्य रूप मे सुखी थे, फिर भी सामान्य सम्पत्तिवाले ही थे। फिर भी, अमीर हो या गरीब, दैनिक अन्न, वस्त्र आदि के विषय मे लगभग समानता थी। सत्रहवीं शताब्दी के एक यूरोपीय यात्री के विवरण के अनुसार सम्राट जहागीर भी सामान्य किसान की तरह खिचड़ी खाता था।[५] यह यात्री भारत की बहुत प्रशसा करता था परन्तु डबल्यु एच मोरलेन्ड ने उसके द्वारा वर्णित इस जानकारी का उपयोग भारत की गरीबी सिद्ध करने के लिए किया। अठारहवीं शताब्दी के एक बडे ब्रिटिश अधिकारी का विवरण है कि हैदराबाद राज्य मे बहुत बडे धनवान को उसके नौकर से अलग पहचानने की एक ही निशानी थी - धनवान के कपड़े सफेद धुले हुए होते थे, और नौकर के कपड़े कम सफेद होते थे।[६] वास्तव मे हिन्दू राजाओ के विषय मे ब्रिटिशरो की एक शिकायत यह थी कि वे बहुत सादा जीवन जीते थे और उनकी अधिकाश आय मदिरो, अग्रहारो और छत्रम के लिये खर्च होती थी। वस्तुत , आय का पर्याप्त अश ऐसी सभी सस्थाओ के लिये खर्च होता था, जो भारतीय जीवनशैली मे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण मानी जाती थीं।

आय के अन्तर के विषय मे देखे तो सन् १७८८ मे ब्रिटिश गणना के अनुसार टीपू सुलतान के सर्वोच्च अधिकारी, चित्रदुर्ग के गवर्नर का मासिक वेतन ९० रूपए था[७] जब कि कम से कम वेतन ८ से ५ रूपये था। प्राप्त जानकारी के अनुसार सन् १८१८ मे राजस्थान मे उदयपुर के महाराजा का व्यक्तिगत भत्ता मासिक १००० रूपए था और पचास वर्ष से उसमे कोई परिवर्तन नहीं था। परन्तु महाराजा को ब्रिटिश शान के अनुरूप ऊपर उठाने के लिए उनका भत्ता दैनिक १००० रूपए किया गया।[८] इससे पूर्व

सन् १७८८ मे गवर्नर जनरल वेलेस्लीने भी यही किया था। टीपू सुलतान स्वय अपने लड़को को देता था, उससे पॉच गुना अधिक भत्ता वेलेस्ली ने देना प्रारम्भ किया।[९]

सन् १७५० के आसपास दक्षिण भारत मे यूरोपीयो का आधिपत्य प्रारम्भ होने लगा। सन् १७५७ के बाद बगाल, बिहार और उड़ीसा के जनजीवन मे आमूल परिवर्तन होने लगा। ऐसा नहीं था कि यूरोपीयो ने इस प्रकार का परिवर्तन करने की कोई निश्चित रूपरेखा बनाई थी। उन्होने तो यूरोप मे, और प्रमुख रूप से इग्लेण्ड मे अपने लोगो के लिए जो किया, वही सब भारत मे करने का प्रारम्भ किया। इग्लैण्ड के समान चढती उतरती श्रेणिया, श्रेष्ठ और कनिष्ठ सामाजिक वर्ग, उसी प्रकार की सिद्धान्त प्रणाली का यहॉ भी प्रारम्भ किया। उदाहरण के लिये, एडम स्मिथ ने कहा, 'इग्लैण्ड' मे आज एक मजदूर के परिवार के पोषण के लिए जो आवश्यक हे, उससे अधिक मजदूरी चुकाई जाती है, परन्तु यहॉ भारत मे तो जिसको सार्वत्रिक रूप से मान्य किया जा सकता है, ऐसी निम्नतम मजदूरी की श्रेणी कहीं नहीं है।'' उसका कहना था कि विजेताओ की अपने प्रदेश मे जो श्रेणी है, वही जीते गए प्रदेशो मे भी होनी चाहिए। अन्तर है तो इतना ही कि विजेताओ का प्रमुख उद्देश्य जीते गए प्रदेश से अधिकतम सम्पत्ति अपने देश मे ले जाना था। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये मजदूरो को अधिकतम काम करना पड़ेगा और उनका जीवन टिक जाय उतनी ही, अर्थात् न्यूनतम मजदूरी देनी होगी।[१०] किसी कारण से यदि यह सम्भव नहीं है, तो अमेरिका और ऑस्ट्रेलिया मे हुआ, उस प्रकार जीती गई प्रजा नि शेष हो जाएगी और विजेताओ के निवास वहॉ स्थापित हो जाएगे।[११]

परन्तु भारत मे यूरोपीय लोगो के निवास के लिये जलवायु अनुकूल नहीं होने के कारण से यहा की अधिकतम सम्पत्ति मजदूरो के कठोरतम परिश्रम से ही यूरोप ले जाना सम्भव था। अत मजदूरो के प्रति कोई दया दर्शाई नहीं जाती थी। यदि अति श्रम अथवा मजदूरी के कारण अधिक मात्रा मे लोग मृत्यु को प्राप्त हो, तो उससे शासकों को कोई अन्तर नहीं पडता था। बगाल मे सन् १७६९ में लगभग एक तृतीयाश जनसख्या मृत्यु को प्राप्त हुई।[१२] भारत के अन्य भागो मे भी थोडे थोड़े वर्षो के अन्तराल मे इसी प्रकार बड़ी सख्या मे लोग मृत्यु को प्राप्त हुए।[१३]

नई राजकीय पद्धति मे जो कदम उठाये गए, उनमे प्रमुख इस प्रकार थे। (१) राजस्व मे वृद्धि और केन्द्रीकरण, (२) भारत के लोगो की व्यवसाय आधारित अथवा प्रदेश आधारित जातिभावना का विघटन - जाति के स्थान पर व्यक्ति आधारित व्यवसाय रचना, (३) करों मे वृद्धि और रोजगार मे कमी के कारण उनकी उपभोग क्षमता मे कमी, (४) सम्पत्ति के अधिकारो और कानून की परिभाषा मे परिवर्तन (ऐसे

परिवर्तनो के लिये भारतीय शास्त्रो एव परम्पराओ मे प्रमाण ढूढकर उन्हे न्याटय ठहराने की युक्ति उपयोग मे ली जाती थी जिससे वह विदेशी न दिखे अपितु भारत की ही सामाजिक परम्परा का सहज परिणाम माना जाय।)

३

राजस्व की गणना का प्रतिशत और केन्द्रीकरण, ये दोनो ऐसे बडे विषय है कि उनका स्वतन्त्र अध्ययन करना पड़ेगा। परन्तु इग्लैण्ड के विचार और व्यवहारपद्धति लागू करनी है, भारत को जीत लेना है और उस जीत को टिकाए भी रखना है, तो प्रथम उसकी अपनी राजस्व तथा धन से सम्बन्धित अन्य व्यवस्थाओ को तोड़ देना आवश्यक है। भारत की पद्धति प्रमुख रूप से विकेन्द्रित थी। अधिकाश राजस्व की आय, जहॉ से वह प्राप्त होती थी, वहीं पर उसका उपयोग करने के लिए दे दी जाती थी। उसका उपयोग व्यवस्था और अन्य आर्थिक विषयो, पुलिस और स्थानिक सेना तथा सास्कृतिक और धार्मिक केन्दो के लिए होता था। ब्रिटिश शासन मे अधिकाश व्यवस्थाएँ नष्ट कर दी गई। जो कोई शेष रह गईं थीं, उनको कम कर दिया गया था। राजस्व का प्रतिशत कुछ नए सिद्धान्तो और परिभाषाओ के अनुसार दुगुना या तीन गुना बढा दिया गया। ब्रिटिश दफ्तर के अनुसार जब उन्होने शासन की बागडोर सम्हाली, तब भारत की व्यवस्था के अनुसार किसी एक स्थान पर किसी एक प्रकार की जमीन पर कुल पैदावार का बारहवा अश राजस्व के रूप मे निश्चित किया जाता था, तो कहीं वह बढकर एक तृतीयाश होता था। उसकी निम्न और ऊपरी सीमा इस प्रकार थी, परन्तु ब्रिटिशरोने इन सभी श्रेणियो को समाप्त कर दिया और कुल पैदावार का आधा राजस्व निश्चित किया। वह भी पैदावार मे नहीं, अपितु पैसो के रूप मे भरना पडता था। और एक बार निश्चित करने के बाद हर वर्ष नियमित रूप से भरना पड़ता था। वह भी स्थानिक रूप से नहीं, अपितु राज्य को भरना पड़ता था।[१४] इग्लैण्ड मे एक किसान अपने जमीनदार को आधी अथवा चौथे भाग की उपज दे देता था, इस आधार पर उपरोक्त अनुपात न्यायपूर्ण माना गया,[१५] साथ ही अलाउद्दीन खिलजी के समय की कोई एक पुरानी पाण्डुलिपि खोज ली गई, जिसमे भूतकाल मे भी भारत मे ऐसी ऊँची गणना होने की जानकारी थी।[१६] सन् १८५८ मे जोन स्टुअर्ट मिल जैसे उच्च अधिकारी ने लिखा है कि भारत की विजय और उसकी सम्पूर्ण अधीनता का सम्पूर्ण खर्च भारत से वसूल किया गया था, और सन् १८५० तक सेन्ट हेलेना से चीनी समुद्र तक का पूरा क्षेत्र भारत ही गिना जाता था।[१७]

राजस्व बढाने के लिए और केन्द्रीकरण करने की प्रक्रिया मे नई व्यवस्थाएँ

निर्माण की गई। इनमे एक थी जमीनदारी प्रथा और दूसरी थी रयतवारी। दोनो प्रथाओ मे राज्य को सबसे वरिष्ठ जमीनमालिक के रूप मे स्वीकार किया गया था। प्रजा जब सम्पूर्ण रूप से अधीन हो गई थी, तब ऐसी अधीनता की स्थिति मे प्रथम बगाल, बिहार और बाद मे देश के अन्य भागो मे जमीनदारी प्रथा प्रारम्भ की गई।[१८] सैद्धान्कि रूप से भारत की जमीनदारी सकल्पना बिटिश जमीनदारी के समान ही थी। अनेक राजाओ को उनकी राजकीय सत्ता छीन लेने के बाद जमीनदार बना दिया गया। परन्तु ब्रिटिश और भारतीय जमीनदार मे अन्तर इतना था कि ब्रिटिश जमीनदार स्वय को प्राप्त होने वाले राजस्व का दस प्रतिशत राज्य को किराये के रूप मे देता था, जबकि भारत के जमीनदार को ९० प्रतिशत देना पड़ता था। राजस्व का प्रतिशत तो बढाया हुआ था ही।

शताब्दियो की परम्परायुक्त पुराने प्रतिशत वाली राजस्व पद्धति के स्थान पर स्थापित नयी पद्धति के ऊँचे प्रतिशत के कारण राजस्व वसूली का काम लगभग असम्भव बन गया। परिणाम स्वरूप जमीनदार बनने के १०-१५ वर्षो मे तो बगाल और बिहार के जमीनदार दिवालिये बन गए। राजस्व वसूल करने का कार्य सरल बनाने के लिए पुरानी प्रथा के स्थान पर नई व्यवस्थाएँ की गई। तदनुसार यदि किसान राजस्व नहीं दे सकता है तो पीढियो से जो खेत जोत रहा है, उस खेत को किसान से छीन लेने और उसकी सम्पत्ति एव मकान आदि को नीलाम करके पैसा वसूल करने का जमीनदारो को अधिकार दिया गया। यह अमानवीय प्रथा जहाँ आय का दस प्रतिशत ही किराया देना पड़ता था ऐसे इग्लैण्ड मे प्रचलित थी, इसलिए भारत मे भी प्रारम्भ की गई। परन्तु भारत मे तो ऐसी प्रथा की कोई कल्पना भी नहीं कर सकता था।[१९] (चर्चा के लिए देखिए परिशिष्ट ब) किसानो के अधिकार के विषय मे सन् १८१२ मे ब्रिटिश ससद की चयन समिति ने कहा, ''इग्लैण्ड मे जिस प्रकार जमीन पर जोतने वाले का कोई अधिकार नहीं होता है, उसी प्रकार भारत मे भी वशपरम्परा के अधिकार से जमीन जोतने वाले का कोई अधिकार नहीं हो सकता है।'' इसलिए गॉव मे मिराशी प्रथा की परिभाषा ऐसी की गई कि ''किसान को वशपरम्परा के अधिकार से उसकी जमीन जोतने के लिए वरीयता दी जाएगी, परन्तु जोतने देने का या न देने का निर्णय करने का अधिकार तो राज्य का ही रहेगा, क्यो कि राज्य ही सम्पूर्ण जमीन का स्वामी है।'[२०]

४

प्रारम्भमें वर्णित है, उस प्रकार जाति (भौगोलिक, व्यावसायिक या पारिवारिक) ही भारत मे समाज व्यवस्था की प्रमुख इकाई थी। ब्रिटिश काल मे उसके स्वरूप मे इस

प्रकार के परिवर्तन किये गये जिससे अनेक प्रकार की विकृतिया निर्माण हुई। फिर भी पारिवारिक इकाई तो अभी भी कदाचित् बनी हुई है। इसलिए अठारहवी शताब्दी मे वह कैसी थी उसका वर्णन करने की विशेष आवश्यकता नहीं है, परन्तु भौगोलिक और व्यावसायिक इकाइयाँ तो पूर्ण रूप से टूट चुकी है और आज कहीं दिखाई नहीं देती है, इसलिए उसके विषय मे थोडी जानकारी प्राप्त करना उपयुक्त है।

सभी प्रकार के समुदायो मे सबसे प्रचलित और सबसे प्रभावी और अधिक परिचित था ग्राम समुदाय। ग्राम समुदाय का स्वरूप विभिन्न क्षेत्रो मे विभिन्न रहता था। उनमे दो स्वरूप महत्त्वपूर्ण माने जा सकते है। एक तो तमिलनाडु क्षेत्र मे, जिसे ''समुदायम''[२१] कहा जाता था और दूसरा आज के उत्तर प्रदेश मे, जिसे ''भाईचारा'' कहा जाता था।[२२] ऐसे विशिष्ट स्वरूप हो या न हो, परन्तु सर्वत्र गॉव के विषय मे, भूमि के क्रय विक्रय या जमीन से सम्बन्धित किसी भी विषय मे निर्णय लेने का अधिकार तो ग्रामसमुदाय का ही था। समुदायम ग्राम हो या भाईचारा ग्राम, गॉव की सम्पूर्ण जमीन का स्वामित्व गॉव का अपना ही था। साथ ही प्रत्येक परिवार को वशपरम्परा से जमीन प्राप्त हुई ही थी। उसकी पैदावार उसकी अपनी ही थी। ब्रिटिशकाल के दफ्तर से, वैसे तो यह स्पष्ट नहीं होता है कि गॉव के प्रत्येक परिवार को समुदाय मे प्रतिनिधित्व प्राप्त था या नहीं, यह सम्भव है कि जमीन के क्रयविक्रय के विषय में गॉव के कुछ परिवारो को प्रतिनिधित्व मिलता होगा, शेष सबको अन्य सामान्य बाते निश्चित करने के लिए मिलता होगा, और मानने मे तो नही आता है, फिर भी ऐसे भी परिवार हो सकते है, जिन्हे ऐसा किसी भी प्रकार का प्रतिनिधित्व मिलता नहीं था। यहॉ इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि जिसको ''बीस बिस्वा'' पचायत (सभी जातियो की परिषद) कहते हैं, वह आज भी राजस्थान मे कहीं कहीं बची हुई देखने को मिलती है।[२३]

ये सभी समुदाय जैसे भी अस्तित्व मे आए हो, और बने हो, सम्पत्ति की नई सकल्पनाओ और नए कानूनों के परिणामस्वरूप अब उनका बने रहना, वास्तव मे असम्भव था। कुछ समय जैसे तैसे कैसे भी विकृत स्वरूप मे उनका अस्तित्व बना रहा हो, तब भी अन्ततोगत्वा जमीनदारी, व्यक्तिगत अधिकार और सबके अधिकारो के नष्ट होने की व्यवस्था के सामने वे टिक नहीं सके और सर्वथा हताश हो गए। अब भूमि तथा पैसो की लेन देन पर समुदाय का कोई अधिकार नहीं रहा। परिणामस्वरूप पूरी सम्पत्ति कुछ लोगो के हाथ मे केन्द्रित होने लगी, खेत जोतने वाले किसान कामचलाऊ नौकर माने जाने लगे और कभी पूर्ण न होने वाले ऋण मे डूबने लगे।[२४]

इसी प्रकार व्यावसायिक समुदायो में भी तोड़फोड़ की प्रक्रिया हो रही थी।

जिसमे कुशलता आवश्यक हे, ऐसे कारीगरो क विषय मे यह वात एकदम ध्यान आकर्षित करनेवाली थी। ऐसे ऐसे कानून तथा व्यवस्थाएँ वनाई गई कि पत्येक व्यवसाय का मालिक नौकरी करने वाला बन गया। भारत के जुलाहो के विषय मे तो इससे भी अधिक अपमानास्पद स्थिति थी।[२५] वे सभी ठेकेदारो के मजदूर वन गए। नई व्यवस्था के कारण उनकी आय बहुत कम हो गई। परिणामस्वरूप उनकी कुशलता, कारीगरी, उनके औजार, टेकनोलॉजी इत्यादि सब कुछ नष्ट होने लगा। अब समुदाय जेसा कुछ भी शेष बचा, तो वह रिश्तो और रीतिरिवाज तक ही सीमित था। टेकनोलॉजी और कारीगरो का युग समाप्त हो गया था।

यह सब कुछ ब्रिटिश परम्परा के अनुसरण के रूप मे हुआ था। अठारहवीं शताब्दी मे भी ब्रिटिश शासको को किसी भी प्रकार के महत्त्वपूर्ण कार्यो मे सामान्य लोगो की सहभागिता कल्पना मे ही नहीं आती थी। अठारहवीं शताव्दी के दरम्यान कारीगरो के विभिन्न पकार के मडल बनाने का प्रयास हुआ था, परन्तु शासको ने इन सभी प्रयासो को अनेक उपायो से असफल किया था। उन्नीसवीं शताब्दी मे भी बहुत कठिन सघर्ष के बाद कारीगरो की किसी भी प्रकार की सामूहिक कार्य की रचना सम्भव बनी थीं, फिर भी उन्नीसवीं शताब्दी पूरी होते होते ब्रिटिश शासक इस प्रकारकी किसी भी व्यवस्था को स्वीकार नहीं कर सके थे।[२६]

५

इस प्रकार समुदायो को विच्छिन्न करके दुर्बल बनाने के साथ ही १७५० के बाद ब्रिटिश शासको ने जो पहले से ही कम थे ऐसे मजदूरी के प्रतिशत और भी कम कर दिए । यह कार्य भी उन्होने इग्लैण्ड मे किया था उसी प्रकार किया।[२७]

१७६६ के एक अधिनियम के अनुसार कोलकता मे जो भारतीय यूरोपीयो की नौकरी करते थे, उनका वेतन और भत्ता कम नहीं किया गया। ऐसा भी कहा गया कि ''कोई भी व्यक्ति यदि इस प्रकार का वेतन लेकर नौकरी करने से इनकार करेगा, तो उसकी सम्पत्ति, भूमि इत्यादि छीन ली जाएगी, और उसको कोई आश्रय नहीं मिलेगा। और यदि उसके पास अपने स्वामित्व की कोई जमीन नहीं है, तो ''उसे दण्ड अथवा कैद अथवा शारीरिक दण्ड दिया जाएगा।''[२८] यह भी समझा दिया गया कि अन्त में इस प्रकार की कार्यवाही मात्र यूरोपीय लोगो की नौकरी करने वाले भारतीयों के लिए ही नहीं थी, (अन्य लोगो के लिए भी थी)। प्रतिष्ठा की श्रेणियाँ निर्धारित करने के लिए १७६६ मे और एक अधिनियम बनाया गया कि ''जो कोई निवासी कोलकता में पालकी रखना

चाहते है'' उन्हे , लिए आवेदन करना पड़ेगा, और ''जो लोग नियम का उल्लघन करेगे'' उन्हे जमा करवानी पडेगी, और ऐसे तीन नियमभग होगे, तो पालकी का अधिकार समाप्त ।[२९]

फिर भी वेतन और की दरे कम कर देना, लोगो की सहभागिता समाप्त कर देना, उनकी गरीबी करना इतना ही पर्याप्त नहीं था। जमीन और सम्बन्धी राजस्व नीतियाँ, इसके मूल मे थीं। साथ ही कारीगरो का, मनुष्यो और वस्तुओ को लाने ले का, सरकारी या यूरोपीयो के घर मे काम करने वालो का और की मजदूरी का प्रतिशत कम करते ही रहने का क्रम तो शताब्दी मे निरन्तर बना ही रहा। एकदम ध्यान आकर्षित उदाहरण बगाल के मिदनापुर जिले का है। १८४७ मे मिदनापुर मे लोक विभाग मे लगभग ५० वस्तुओ के भाव घटा दिए गए, जिसमे मजदूरी का भी ता था। यह कमी एक ही वर्ष के अन्दर लगभग ६० प्रतिशत जितनी थी। रकार ने इस कमी को मान्य किया, इतना ही नहीं, वह दूसरे विभागो मे भी कारी दी। इस कमी का परिणाम यह हुआ कि १८४४ मे जितनी घनफीट वार बनाने के लिए ११ आने मजदूरी चुकाई जाती थी, उतनी ही दीवार के ९ मे पॉच आने और १ पाई चुकाई जाने लगी।[३०]

प्रकार मापदण्ड तोड देने से, व्यवस्था बदलने से, आय और मजदूरी मे से और इस प्रकार के अगणित छोटे बड़े उपायो से भारतीय समाज के लोगो की सामाजिक और आर्थिक स्थिति अत्यन्त बिगड गई। उन्नीसवीं अन्त मे बिहार के विभिन्न जिलो मे (उदाहरणार्थ हजारी बाग) भूमिहार की पैमाने पर प्रारम्भ हुई। इस पद्धति को कमियाज कहा जाता था। यही प्रकार डेन्सी के अनेक जिलो मे भी प्रारम्भ हुआ।[३१] मद्रास प्रेसिडेन्सी के विवरण के ाम जिले के अधिकाश क्षेत्र के खोड लोगो को उनकी सम्पत्ति गवानी पडी थी र जो उनके ही स्वामित्व मे थे, ऐसे खेतो मे गणोत भी नहीं, तो कुली के रूप ने की मजबूरी आ पड़ी थी। इसी प्रकार की परिस्थिति चेगलपट्टु, दक्षिण ाजोर, मलबार इत्यादि क्षेत्रो मे भी निर्माण हुई थी।[३२] १८१४ के एक नुसार चेगलपट्टु जिले के पचम लोग प्रथम तो बिना जमीन के हो गए और ो स्थिति अत्यत दारिद्र्यग्रस्त हो गई थी। १८८० की उनकी स्थिति से भी हीनतर स्थिति थी।[३३]

गत पचासों वर्षों का अध्ययन विजित लोगों के लिये आत्मबोध का साधन बनेगा और अपनी सामाजिक, सास्कृतिक एव आध्यात्मिक पहचान करने मे सहायक सिद्ध होगा।

६

इस प्रकार भारतीय समाज मे प्रचलित और प्रतिष्ठित मापदण्ड, नियम, वरीयताएँ - सब बदल दिया गया और उसके परिणामस्वरूप व्यक्ति के गौरव को और समाज की व्यवस्था को अत्यधिक हानि पहुँची और सब विच्छिन्न हो गया। यह सब करने के लिए एक प्रेरणा तो, इग्लैण्ड मे प्रचलित थी उसी पद्धति को भारत मे भी लागू करने की इच्छा थी। परन्तु सेना के बल का या सेना की कार्यवाही का प्रयोग किए बिना ही इग्लैण्ड की सर्वोपरिता और हुकमशाही प्रस्थापित हो सके, ऐसी स्थिति और व्यवस्था का निर्माण करने की भी बहुत बड़ी प्रेरणा थी।

कोलकता उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश, प्रख्यात प्राच्य विद्या विशारद विलियम जोन्स के एक भाषण मे इन बदले हुए मापदण्डो का एक उदाहरण देखने को मिलता है। मालिक अपने नौकर अथवा कारीगर के होश ठिकाने लाने के लिए उचित सजा किस प्रकार कर सकता है, इस विषय पर मार्गदर्शन करते हुए उन्होने कहा कि यदि यह सजा उचित है तो भी नौकर की मृत्यु होती है तो उसमे मालिक का दोष नहीं है।[३४] (उस समय इग्लैण्ड मे उचित सजा ३० से ५० कोड़ो की होती थी। ब्रिटिश सेना मे गम्भीर प्रकार के अपराधो के लिए १५०० से २००० कोड़े लगाए जाते थे, जिसको कठोर सजा मानी जाती थी) यह कहने की कदाचित् ही आवश्यकता है कि ऐसी सजा भोगने वालो की सख्या पर्याप्त थी और कोड़े खाकर लोग मर भी जाते थे। १७९७ मे चेगलपट्टु के एक जिलाधीश द्वारा दी गई ऐसी सजा का उदाहरण प्रसिद्ध है। उस जिलाधीश ने समुदाय के मुखिया को ही ऐसी सजा दी थी और उसकी मृत्यु हुई थी।[३५]

केवल घरेलू नौकरो को अथवा गॉव के जिद्दी मुखिया को ही ऐसी सजा दी जाती थी, ऐसा नहीं है। गर्भपात को आज के जाग्रत समाज मे प्रगति का लक्षण माना जाता है। उस समय के भारत मे इसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती थी। यदि ऐसी घटना घटती, तो परिवारो मे और समुदायो मे उसका अलग प्रकार से विचार किया जाता था, परन्तु ब्रिटिश शासन मे वह गम्भीर अपराध माना जाता था[३६] और उसके लिए १५०० कोडो की सजा थी।[३७] यदि ऐसे अत्याचारो का विरोध भारतीय परम्परा के अनुसार आन्दोलन आदि से किया गया तो उसको भी अपराध मानने के कानून बनाए गए थे।[३८] इससे पूर्व जो लोग गॉव के पुलिस विभाग मे अथवा सेना मे थे, उनकी नौकरी पूर्ण रूप से छीन ली गई थी, इसलिये उन्होने ब्रिटिश शासन का जब विरोध किया, तो बगाल मे उनको डाकू मान लिया गया, पकड़ लिया गया, और नए बनाये हुए १७७३ के बगाल के कानून के

अनुसार उनके वतन के गॉव मे ले जाकर गॉव के लोगो के सामने ही उनका वध किया गया था और उनके सगे सम्बन्धियो को राज्य के गुलाम मान कर बेच दिया गया था।[३९]

नए कानूनो का पालन इतने से रुका नहीं। समय बीतने पर व्यक्तिगत, सामाजिक, धार्मिक, राजकीय आदि भारतीय जनजीवन के सभी पहलुओ को ये कानून अपना शिकार बनाने लगे। इन कानून और व्यवस्था की सकल्पनाऍ और प्रक्रिया पूर्ण रूप से ब्रिटिश थीं, परन्तु शब्दावली भारतीय थी, ऐसे शास्त्रग्रन्थ और उनकी ऐसी बाते, जो उनके हेतु को पुष्ट करने योग्य लगती थीं, उन सबका अग्रेजी अनुवाद किया गया और उन्हे अधिकृत स्वरूप दे दिया गया। यह अनुवाद भी बहुत सुविधाजनक और जबर्दस्ती किया गया था, यह कहने की आवश्यकता नहीं है। अर्थात् वे जो कुछ करते थे, वह सब भारत की ही व्यवस्था के अनुसार करते थे, ऐसा बताने का उनका इरादा था। समय बीतते भारत के नवशिक्षित भद्रवर्ग ने यह परिवर्तन इस प्रकार स्वीकार कर लिया, मानो अनादि काल से भारत मे ऐसा ही हो रहा हो। १७८० के आसपास बगाल के सरकारी अधिकारियो और उनके निकटवर्ती समूह मे तो ऐसा ही माना जाता था कि वाराणसी के पण्डितो की अपेक्षा विलियम जोन्स का भारत के शास्त्रो का ज्ञान अधिक था।[४०] १७८० के आसपास वाराणसी के एक ब्राह्मण पर हत्या का आरोप लगाया गया। वहॉ के ब्रिटिश रेसिडेन्ट जे डकन को वाराणसी की ब्राह्मण सभा ने परामर्श दिया कि उस हत्या के आरोपी ब्राह्मण के मस्तक पर काला टीका लगाना चाहिए और उसका देशनिकाला करना चाहिए। परन्तु डकनने उस विषय मे कोलकता मे विलियम जोन्स से परामर्श किया। विलियम जोन्स ने वाराणसी के रेसिडेन्ट जोनाथन डकन को बताया कि हत्या के आरोपी ब्राह्मण के मस्तक पर काला टीका करके देशनिकाला देना, शास्त्रसम्मत अवश्य है, परन्तु यह काला टीका तपाये हुए लोहे के छड से दिया जाने वाला दाग होता है और वह भी सबकी उपस्थिति मे दिया जाता है। यह उल्लेखनीय है कि तपाये हुए लोहे के छड से दाग देने की प्रथा उस समय इग्लैण्ड मे प्रचलित थी। वस्तुत , वाराणसी के ब्राह्मण ने स्वय हत्या नहीं की होगी, अपितु अपने ही अथवा अन्य किसी के दोष का प्रायश्चित मागा होगा। परन्तु ब्रिटिश शासन मे इसको हत्या मानना और इग्लैण्ड के प्रचलन के अनुसार दाग देना प्रारम्भ हुआ।

उस समय मे यह सब रूपान्तर किस प्रकार से हुआ, उसकी प्रक्रिया का यदि गहराई से अध्ययन किया जाय, तो इस विषय मे भी आश्चर्य नहीं होगा कि व्यक्तिगत और सम्पत्ति के विषय मे स्त्रियो को पुरुषो के समान ही अधिकार थे।[४१] हिन्दुओ की अधिकाश जातियो मे दहेज जैसी प्रथा ही नहीं थी[४२] और सती प्रथा भी किसी छोटे

समुदाय मे, किसी छोटे गॉव मे अपवादस्वरूप घटने वाली घटना थी।[४३] इस अध्ययन से यह समझ मे आता है कि आर्थिक, सामाजिक और राजकीय जीवन मे ब्रिटिश पद्धतियॉ जबर्दस्ती थोप दी गई थीं, इतना ही नहीं बल्कि व्यक्तिगत जीवन मे भी इग्लैण्ड की मान्यता के अनुसार जो अधिकृत और सन्माननीय माने जाते हो, और कानून की दृष्टि से जो स्वीकृत हो, उसका ही आग्रह रखा जाता था। सक्षेप मे, भारतीय जीवन उसकी स्वाभाविक विविधता खो करके सर्वथा एकविध बन गया। व्यक्तिगत और सार्वजनीक जीवन मे आई एकविधता एकदम् यान्त्रिक और निर्जीव थी।

७

अन्य देशो को जीतने मे यूरोप का प्रमुख उद्देश्य धन एकत्रित करके यूरोप मे ले जाने का था। नोर्मन विजय के समय से धन इकट्ठा करना और उसमे वृद्धि करते रहना, यही ब्रिटिश शासन पद्धति का प्रमुख सिद्धान्त था।[४४] यूरोप ने अमेरिका पर अधिकार किया और बाद मे अमेरिका मे मजदूरी के लिए लोग चाहिए, इसलिए अफ्रीका जीत लिया, इसके पीछे भी प्रमुख उद्देश्य धन प्राप्त करना ही था। ज्होन लॉक जैसे चिन्तक ने इस धनसग्रह की वृत्ति को तात्त्विक रूप मे प्रस्तुत किया। उसने कहा कि मनुष्य अपनी इच्छानुसार ही इन सभी सामग्रियो को इकट्ठा करता रहेगा। यदि वह अधिक सम्पत्ति इकट्ठा करता है तो कुछ भी गलत नहीं करता है। परन्तु यदि वह बेकार मे खर्च कर दे, तो वह गलत कहा जाएगा।[४५]

अपनी दुनिया जीत लेने की प्रवृत्ति और उद्देश्य को उचित सिद्ध करने के लिए इग्लैण्ड के अनेक विचारको ने बहुत लिखा। ज्होन स्टुअर्ट मिल ने १७६६ मे लिखा, ''भारत से जितनी अधिक सम्पत्ति इकट्ठा करके लायी जा सकती है, उतना अधिक अच्छा''।[४६] भारत से किस प्रकार इग्लैण्ड मे सपत्ति लाना - ईस्ट इण्डिया कपनी के माध्यम से या किन्हीं व्यक्तियो के माध्यम से या राजकीय व्यवस्था के माध्यम से उस विषय की चर्चा के समापन मे उसने कहा, ''भारत मे इस कार्य को कौन करेगा इस सन्दर्भ मे तो बहुत खींचातानी होगी, परन्तु जिस प्रकार भी धन भारत से इग्लैण्ड मे आए, किसी भी व्यक्ति ने अपने अधिकार के रूप मे उसका उपभोग करना उसे खोने जैसा होगा।[४७] एडिनबरो यूनिवर्सिटी के प्राध्यापक एडम फर्ग्युसन ने अधिक स्पष्ट शब्दो मे लिखा। अपने विद्यार्थी ज्होन मेकफरसन को १७७३ मे फर्ग्युसनने लिखा, ''बारह महीने में कम्पनी को कुछ नुकसान हुआ है। अभी भी उसका खतरा दिखाई देता है, परन्तु मुझे लगता है कि बहुत नुकसान नहीं होगा। कपनी के लोगो को (व्यक्तियो को)

उचित मार्ग से धन एकत्रित करने से नहीं रोकना चाहिए, क्यो कि अन्ततोगत्वा भारत का धन इग्लैण्ड मे लाने का यही सबसे सरल और स्वाभाविक मार्ग है। शासन ने कम्पनी को अपने तरीके से काम करने देना चाहिए। भारत मे कोई भी जो कुछ भी करे, उसका दायित्व उसका ही होना चाहिए। परन्तु अधिक से अधिक धन वे इग्लैण्ड मे लाये, ऐसा करना चाहिए। इस हेतु वे जो कुछ करे, उसे मान्य करना चाहिए।[४८]

भारत मे जो भी व्यवस्थाएँ स्थापित हुई, योजना बनी, कानून बने, नीति निर्धारण हुआ, सब धन प्राप्त करके इग्लैण्ड ले जाने के लिए हुआ। इसके लिए एक स्पष्ट एव निर्दोष उपाय नागरिक सेवा और सेना में जुडने के लिए इग्लैण्ड से आए हुए लोगो के वेतन और भत्ते बहुत अधिक रखने का विचार था। ऊँचे वेतन से आकर्षित हो कर इग्लैण्ड से अधिक से अधिक लोग भारत मे आने लगे। चर्च मे काम करने के लिए, सेना मे भर्ती होने के लिए, लेखक के रूप मे आनेवाले लोगो का अविरत प्रवाह चला। लेखक के रूप मे आए हुए लोग तो आगे चलकर जिलाधीश बन गए। उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ मे १६-१७ वर्ष की आयु मे लेखक के रूप मे कार्य प्रारम्भ करने के लिए ५००० पाउन्ड देने पडते थे।[४९] लेखक के रूप में नियुक्ति प्राप्त करने के लिए सब इतनी बडी राशि देते थे ऐसा नहीं था। अनेक लोग तो नियुक्ति करने का अधिकार रखने वाले लोगो के या तो सम्बन्धी होते थे अथवा आश्रित होते थे।

धन कमाने के लिए, भारत आने के लिए जहोन लोक अथवा फर्ग्युसन से परामर्श लेने की चिन्ता भी कोई नहीं करता था। इससे पहले भी भारत मे आने का सिलसिला प्रारम्भ हो गया था। प्रारम्भ के वर्षो मे आने वालो मे एक था टॉमस पिट। टॉमस पिट भारत मे मद्रास का गवर्नर रहकर १७०० मे तो इग्लैण्ड वापिस लौट गया था। पिट परिवार की विशाल सपत्ति उसीने बनाई थी। वह लॉर्ड चेथाम का दादा और विलियम पिट का परदादा था। लोर्ड चेथाम और विलियम पिट अठारहवीं शताब्दी मे इग्लैण्ड मे प्रधानमन्त्री बने थे। टॉमस पिट के बाद तो भारत मे आनेवाले महत्त्वाकाक्षी लोगो का ताता बध गया था। बदमाश रोबर्ट क्लाइव और वॉरन हेस्टिंग्स तो ऐसे थे, जिन्हे इग्लैण्ड की सज्जनता सिद्ध करने के लिए किसी की मारपीट करने की आवश्यकता पड़ने पर अपराधी के रूप मे बलि का बकरा बनाया जा सकता था।

धन सम्पादन करने के लिए कुछ भी करने की छूट होते हुए भी भारत मे आए हुए ब्रिटिशर इग्लैण्ड के नियमो को देख करके तो कुछ कर नहीं सकते है। विलियम जोन्स और टी बी मॅकोले जैसे तो नहीं करेगे। फिर भी विलियम जोन्स, और मॅकोले जैसे लोगो का भी मूल उद्देश्य तो भारत मे आकर कुछ ही वर्षो मे इतना धन कमाने का था

जिससे इग्लैण्ड लौटने के बाद शेष जीवन अपने स्वाभिमान, ऐश्वर्य और प्रतिष्ठा के अनुरूप आराम से बिताया जा सके।[५०] यही बात बाद मे आए हुए गवर्नर जनरल और वाइसरॉय को भी लागू थी। जब भारत आने का प्रस्ताव रखा जाता था, तब वे भारत मे रहते हुए कितना धन अर्जित किया जा सकेगा उसी की गणना सर्व प्रथम करते थे। गवर्नर जनरल के रूप मे भारत मे आए लॉर्ड एमहर्स्ट ने १८२० मे कहा था कि उसके भारत मे आने से पहले उसे बताया गया था कि वह अपनी आय का ५० प्रतिशत बचा सकेगा। परन्तु यहॉ आने के बाद उसका अनुभव था कि वह ६० प्रतिशत बचा सकता था। उसने अपने मित्र अर्ल मोरले से लिखा, ''मे स्वय से यह नहीं पूछता हूँ कि मैं कितना बचा सकूँगा, परन्तु यह पूछता हूँ कि आराम और वैभव मे जीवन यापन करने के लिए मुझे कितनी आवश्यकता रहेगी। इन दो सूत्रो को समक्ष रखते हुए मं किसी भी वस्तु के बिना चला नहीं लेता हूँ। यदि मैं पूरी अवधि तक अर्थात् पाच वर्ष भारत मे रहूँगा, तो प्रति वर्ष ३००० पाउण्ड मिलेगे। इतना धन अपने साथ लेकर इग्लेण्ड आऊँगा।[५१]

मोस्टुअर्ट एल्फिन्स्टन मुबई का गवर्नर था। उसकी राजनयिक कुशलता प्रसिद्ध थी। उसकी आर्थिक महत्त्वाकाक्षा उचित दायरे मे थी। उसकी महेच्छा थी कि उसके इग्लैण्ड वापिस लौटते समय उसके पास ३ लाख पाउण्ड हो, जिससे वह प्राचीन कवियो के काव्यग्रन्थो और नए प्रकाशनो को पढ सके।[५२] उसके मित्र स्ट्रेची ने उसे परामर्श दिया कि ६० हजार पाउण्ड की बचत होने तक भारत मे रहना चाहिए । परन्तु वह परामर्श उसे आजीवन कारावास के दण्ड समान लगा।[५३] फिर भी वास्तव मे वह स्ट्रेची के परामर्श के अनुसार ही बचत कर सका।

टॉमस मनरो भी एल्फिन्स्टन के समान तेज था। उससे भी अधिक समय वह भारत मे रहा। नवरचित केनेरा जिले के जिलाधीश के रूप मे उसकी नियुक्ति हुई, परन्तु उसे लगा कि वह प्रतिष्ठा को हानि पहुँचायेगी,[५४] क्यो कि इस जिले मे कमाई करने की सम्भावना बहुत कम थी। फिर भी उसने यह नियुक्ति स्वीकार कर ली। उसने जिले की राजस्व की आय बढाने के हर सम्भव प्रयास किए, जिले मे व्यवस्था बनाई और पन्द्रह महीनो मे ही, दूसरे अच्छे जिले मे अपना स्थानान्तरण करवा लिया। यह स्थानान्तरण उसे अच्छा कार्य करने के परिणामस्वरूप मिला था। जिस जिले मे उसका स्थानान्तरण था, वह वर्तमान रायलसीमा क्षेत्र था और ब्रिटिशरो ने उसे निजाम से १७९९ मे प्राप्त किया था। इस नए जिले मे उसके लिए पूर्ण स्वतन्त्रता थी। उसने राजस्व खूब बढा दिया। जो राजस्व नहीं देते थे, ऐसे लोगो पर १५ प्रतिशत आयकर डाल दिया।[५५] उस समय की सिचाई व्यवस्था की पूर्ण उपेक्षा की। आज दो शताब्दियो

के बाद भी उसके द्वारा किए गए नुकसान का असर दिखता है। यहाँ विशेष रूपसे उल्लेख करना चाहिए कि ब्रिटिशरो के द्वारा राजस्व निर्धारित किये जाने के बाद लगभग २० से ३० वर्ष तक उस राजस्व का एक निश्चित अश जिलाधीश को कमिशन के रूप मे मिलता था।[५६]

१७७३ के ब्रिटिश ससदीय कानून के अनुसार गवर्नर जनरल, गवर्नर, उनकी काउन्सिल के सदस्य, उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश इत्यादि का मानधन इग्लैण्ड मे ही निर्धारित होता था, परन्तु शेष अधिकारियो का मानधन लॉर्ड कोर्नवॉलिस ने हमेशा के लिए निर्धारित कर दिया था। उसके द्वारा निश्चित किया गया सिद्धान्त इस प्रकार था, ''ऐसे सभी वरिष्ठ अधिकारियो का वेतन इतना होना चाहिए कि निर्धारित समय तक अपना कर्तव्य पूर्ण करने के बाद, वे जब इग्लैण्ड वापिस लौटे, तब अपनी प्रतिष्ठा के अनुरूप अच्छा जीवन बिताने के लिये पर्याप्त धनराशि बचाकर अपने साथ ले जा सके।''[५७] इससे निम्न श्रेणी के अधिकारियो के लिए कॉर्नवोलिस का विचार यह था कि ऐसे लोगो को सेवानिवृत्ति के बाद जीवन मे आर्थिक चिन्ता न रहे, और वे लोग एक सभ्य नागरिक का जीवन बिता सके, और अपनी सूझबूझ और कुशलता से राज्य का हित करते रहे।

नागरिक सेवाओ की अपेक्षा सेना की सेवाओ मे कार्यरत लोगो की सख्या बहुत बडी थी। उनकी भी स्थिति ऐसी ही थी। भारत मे आने का मुख्य उद्देश्य अधिक पैसा कमाने का ही था। एक बात स्पष्ट है कि १८६० तक एन्साइन से लेकर कर्नल के पद तक की नियुक्तियाँ निश्चित राशि से खरीदी जा सकती थीं।[५८] निश्चित की हुई प्रारम्भिक राशि के उपरात नियुक्ति के बाद भी निश्चित की गई अवधि के अनुसार अधिक राशि देनी पड़ती थी। भूमिदल और नौकादल के अधिकारी अपने वेतन के साथ साथ लूट मे भी निश्चित अश प्राप्त करते थे। यह अश उनके पद को ध्यान मे रखकर निश्चित होता था।[५९] लेफ्टेनन्ट से कर्नल तक के अधिकारियो को जिलाधीश और नायब जिलाधीश जैसी नागरिक सेवा का अवसर भी प्राप्त होता था।

इस प्रकार के वातावरण मे येन केन प्रकारेण धन कमाना उचित और प्रतिष्ठापूर्ण उद्देश्य माना जाता था, साथ ही यह भी माना जाता था कि उसमे इग्लैण्ड का भी हित समाया हुआ है, इसलिए धन इकट्ठा करने के सभी रास्ते खुल गए थे। १७५० के दशक मे मद्रास मे और १७५७ के बाद बगाल मे रोबर्ट क्लाइव और उसके साथियो ने विपुल मात्रा में जो भेट प्राप्त की थीं, उनके विषय मे तो बहुत लेख प्राप्त होते हैं। इग्लैण्ड की सरकार का शासन प्रारम्भ हुआ, इसके बाद तो इस प्रथा को मान्यता भी प्राप्त हुई और

उसका अपनी अपनी पद्धति से अधिकाधिक विकास हुआ। प्रारम्भ मे ऐसी अधिक आय निजी व्यवसायो के द्वारा प्राप्त की जाती थी। नमक वनाने का व्यवसाय इसका उदाहरण माना जा सकता है। उस क्षेत्र के सभी जुलाहो का स्वामित्व, सेना ओर नागरिक सेवा के अधिकारियो को व्यापार करने के परमिट ओर स्थानीय कर से मुक्ति जेसे उपाय भी अधिक आय प्राप्त करने के लिए किए जाते थे।

फिर भी इग्लैण्ड का भारत पर पूर्णरूप से आधिपत्य स्थापित होने तक यह ''अधिक आय'' प्राप्त करने के महत्त्वपूर्ण उपाय कुछ कठिन थे। जव कोई एक शासक ब्रिटिश सरकार का सरक्षण स्वीकार करता था तव प्रथम तो ब्रिटिशर उसे अपनी सेना रखने के लिए मजबूर करते थे। यह सेना उन्हे अपनी रक्षा करने के लिए, अथवा नया प्रदेश जीत कर अपने राज्य की सीमा बढाने के लिए चाहिए थी। एसी रक्षा प्राप्त करने का मूल्य उसे देना पडता था। यदि इसके लिए उसके पास पर्याप्त धन नहीं होता था तो उसे ब्रिटिश अधिकारी, व्यापारी, काउन्सिल के सदस्य, स्वय गवर्नर से उधार मिल सकता था। उसके व्याज का प्रतिशत सन् १७५५ से १८०० तक ३६ से ६० जितना था। यह व्याज अथवा मूल राशि लौटाने के लिए पूरा का पूरा क्षेत्र लेनदार को दे देना पडता था। ऐसी जमीन या तो लेनदार के नाम हो जाती थी अथवा उसके कोई सगे सम्बन्धी अथवा नकली नाम हो जाती थी। इस प्रकार का लेनदेन बिल्कुल नीचे के स्तर के अमलदारो तक होता था। १७८५ मे मद्रास प्रेसिडेन्सी के गवर्नर लॉर्ड होबार्ट की निम्नलिखित टिप्पणी से इस पद्धति के विषय मे पर्याप्त जानकारी प्राप्त होती है। (देखिए परिशिष्ट 'च')

''यूरोपीय साहुकार अपने नौकर अथवा चपरारी को गॉव मे भेजता है। उसके पास नवाब के दीवान का आदेश होता है। उसमे गॉव के चौकीदारो को, इस नौकर अथवा चपरासी को सहयोग देने का निवेदन किया जाता था। वह भले ही लेख मे निवेदन हो, व्यवहार मे आदेश होता था। वह चपरासी या नौकर गॉव के लोगो से वसूली करने हेतु जाता है। वसूली करना सरल काम नहीं होता है, इसलिए उसके लिए आवश्यक कानूनी अधिकार भी उसको दिया जाता है। इसके बाद की प्रक्रिया ऐसी होती है यदि रैयत राजस्व देने मे हा ना करती है, तो बिना किसी भी प्रकार की कार्यवाही के उसे बेडियो मे जकडा जाता है, कोडे फटकारे जाते है और चपरासी तथा पहरेदारो का भत्ता चुकाने के लिए बाध्य किया जाता है। इस प्रकार मुझे प्राप्त जानकारी के अनुसार यदि रैयत को १०० चक्रम चुकाने है, तो वह ११० या ११५ चक्रम चुकाने पर ही मुक्त हो सकता है। यदि उसकी साख अथवा धन समाप्त हो जाता है और राजस्व देने की

स्थितिमे नहीं होता है तो उसे अपने पशु और बीज दे देने पडते है।'[६०]

इस पद्धति की चाहे निदा की जाती हो या उसे प्रोत्साहित किया जाता हो या उसकी उपेक्षा की जाती हो, सम्पत्ति किसी भी प्रकार से वह अन्ततोगत्वा इग्लैण्ड तक पहुँच जाती थी।[६१] समय बीतते भारत की सपत्ति इग्लैण्ड तक पहुँचाने के माध्यमो मे अधिक सुधार हुआ। परन्तु इसके परिणामस्वरूप भारत मे गरीबी का जो साम्राज्य स्थापित हुआ, उसके विषय मे बेलारी के जिलाधीश ने १८२३ मे लिखा

"भारत से जो धन प्राप्त होता है वह भारत मे ही खर्च करने पर कानून से नियन्त्रण किया गया। वह धन इग्लैण्ड भेजने के लिए था। इस प्रकार हर रोज भारत का धन इग्लैण्ड जाने के कारण आज की स्थिति का निर्माण हुआ है। (अर्थात् ब्रिटिश शासित प्रदेश बिल्कुल गरीब बन गया है।)[६२]

८

इस प्रकार का व्यवहार व्यापक होने के लिए व्यक्तिगत लोभ और लालच बहुत कारणभूत थे। फिर भी ज्हॉन लॉक और एडम् स्मिथ जैसे लोगो के लेखो से उसे व्यवस्थित रूप प्राप्त हुआ। उस समय इग्लेण्ड मे भी इस प्रकार के मापदण्डो का अस्तित्व था। इग्लैण्ड का समाज इतनी महत्त्वाकाक्षा से भर गया था कि उसके पुत्र समग्र विश्वको इग्लैण्ड की महत्ता का स्वीकार करनेवाला बना दे, इग्लैण्ड की उन्नति के लिए समग्र विश्व का उपयोग करे और पूर्ण विश्व की सम्पत्ति खींच कर इग्लैण्ड मे लाएँ यही उसकी मनीषा थी। इस महत्त्वाकाक्षा ने तो इन अमलदारो के लोभ को अधिक भड़का दिया। ऐसे मनोभावो से प्रेरित होकर समर्थ लोग तब तक इग्लैण्ड लौटने का विचार भी नहीं कर सकते थे जब तक धन इकट्ठा न कर ले, क्योकि यदि वे बिना धन लिए जाएँगे तो इग्लैण्ड के समाज मे उनकी प्रतिष्ठा तनिक भी नहीं रहेगी। केवल मोस्ट्रुअर्ट एल्फिन्स्टन अथवा टॉमस मेकोले की ही यह समस्या नहीं थी, वॉरन हेस्टींग्स जेसे को भी उसके मित्र खजाना इकट्ठा न करे, तब तक इग्लैण्ड नहीं लौटने का परामर्श देते थे, क्यो कि, उस समय के लोगो ने लिखा है कि अठारहवीं शताब्दी मे इग्लैण्ड मे बिना धन के जीवन बहुत कठिन था।[६३]

इस प्रकार सम्पत्ति और उससे सम्बन्धित विषयो की इतनी अधिक महत्ता होने के कारण से भारत के सामान्य लोगो का जीवन बहुत कठिन हो गया। एक तो इनको परतन्त्र बना दिया गया था, कामकाज मे उनको कुछ नहीं पूछा जाता था, सामाजिक, धार्मिक, सास्कृतिक विषयो मे स्वतन्त्रता नहीं रही थी और इसके उपरान्त उनके साथ

आत्यन्तिक रूप से मानवताहीन व्यवहार किया जाता था। ऐसा तो नहीं था कि लोगो ने इसका सहज रूप से स्वीकार कर लिया। जहॉ भी सम्भव हुआ, वहाँ उन्होने विरोध किया। जिन को भी गेरिला युद्ध करना आता था उन्होने वह किया।[६४] किसानो ने तथा नगर के लोगो ने भी विरोध प्रदर्शित करते हुए बड़े आन्दोलन किए।[६५] भारत के लोगो को जितने प्रकार से विरोध प्रदर्शित करने का अनुभव था, उतने प्रकार से उन्होने विरोध किया। परन्तु एक अथवा दूसरे कारणो से उन्हे सफलता प्राप्त नहीं हुई। परिणामत ब्रिटिशरो का अत्याचार और बढ गया। अन्ततोगत्वा भारतीय समाज अधिक दब गया, कुचला गया। यह सब दीर्घकाल तक चलते रहने के कारण से भारतीय समाज अन्त मे छिन्नविछिन्न हो कर बिखर गया। जो भी पारम्परिक मूल्य और रिवाज थे, वे सब नष्ट हो गये। पराजित समाज दो भागो मे बॅट गया। एक ओर थोड़े परन्तु समर्थ लोगो का समूह था, जिन्होने समझौता कर लिया और पाश्चात्य शैली अगीकार कर ली। दूसरी ओर भारत का विशाल निर्धन वर्ग था, जो दिन प्रतिदिन निर्धन से निर्धनतर बनता गया, उसका अधिक से अधिक शोषण होता रहा और अन्त मे उसने सभी प्रकार से आत्मविश्वास गवा दिया।

१७७२ मे एडमिरल हारलॅन्ड की टिप्पणी के अनुसार स्थिति अधिक से अधिक जकडनयुक्त बनती गई, साम्राज्य के लिए लोग निचोडे गए और समय बीतते वह भारतीय जीवन का अभिन्न अग तथा भारत के लिए स्वाभाविक स्थिति मानी गई।[६६] आज भारत के बौद्धिक अठारहवीं शताब्दी के भारत की यही स्वाभाविक स्थिति मानते है।

९

ज्यो ज्यो ब्रिटिश शासनविस्तार हुआ त्यो त्यो ब्रिटिशरो को अपनी सेना को सतत क्रियाशील रखने की आवश्यकता लगने लगी। सेना को वे मात्र सैनिकी कारणो से ही नहीं, अपितु राजकीय कारणो से सक्रिय रखना चाहते थे। सेना की इस सक्रियता का क्षेत्र निझाम के राज्य से लेकर सौराष्ट्र के एक छोटे से राज्य तक था, क्यो कि सी टी मेटकाफ और अन्य लोगो ने लिखा है कि भारत पर इग्लैण्ड का आधिपत्य तभी बना रह सकता है, जब तक भारत की प्रजा को लगता है कि इग्लैण्ड की सेना अजेय है तथा भारत मे सर्वत्र फैली हुई है।[६७] यह धारणा बनाए रखने के लिए वे सेना को हमेशा घुमाते रहते थे। अत भारत के मार्गों पर सेना की टुकड़ियॉ हमेशा कूच करती हुई दिखाई देती थीं। प्रारम्भ मे सेना की इस प्रकार की हलचल वास्तव मे युद्ध के कारण से ही होती थी, क्योकि अपना प्रदेश बढाने के लिए युद्ध आवश्यक थे, परन्तु १८०३ के बाद ऐसी

हलचल केवल सेना का अस्तित्व बनाए रखने के लिए होती थी।

समय बीतता गया और सेना का कद बढता गया। १८५० तक तो उसका कद ३ लाख सैनिको का था। इनमे एक चतुर्थांश सैनिक यूरोपीय थे। आगे सेना का साज सरजाम भी बढा। सैनिको के साथ साथ अन्य काम करने वालो की सख्या बढी और जिन अधिकारियो को परिवार को साथ मे रखने की अनुमति प्राप्त थी, उनके परिवारो की सख्या भी बढी।

इनके यातायात के लिए वाहनव्यवहार चाहिए। साज सरजाम और मनुष्य बढे तो साथ ही वाहनव्यवहार भी बढा। दक्षिण भारत मे १००० सैनिको की एक रेजिमेन्ट के साथ उसके परिचारक, मजदूर, घोडे, खच्चर इत्यादि के लिए ३०० से ८०० गाडियो की आवश्यकता पड़ती थी।[६८] इसके उपरात ५०० - ७०० मील की कूच के लिए भोजनपानी की भी आवश्यकता पड़ती थी।

इस सैनिक हलचल के कारण प्रजा पर कैसा अत्याचार होता होगा और उनको कैसी कठिनाइयो का सामना करना पड़ता होगा, उसकी कल्पना की जा सकती है। परन्तु लगभग एक पूरी की पूरी शताब्दी की अवधि मे प्रजा की कठिनाइयाँ जानने के लिए कल्पना की आवश्यकता ही नहीं है। ब्रिटिश दफ्तर की टिप्पणियाँ और विवरण बहुत विस्तृत और स्पष्ट है। सैनिक हलचल और उसके परिणाम स्वरूप निर्माण होने वाली प्रजा की कठिनाई ब्रिटिश शासन के लिए भी कभी कठिनाई पैदा कर देती थी। हाउस ऑव कोमन्स सिलेक्ट कमेटी का १८५८ का विवरण सूचित करता है,

''भारत के कुछ भाग मे बेगार प्रथा प्रचलित है, परन्तु प्रजा को सेना की ऐसी बेगार से मुक्त करना चाहिए। इस रूप मे सत्ता का कृत्रिम प्रदर्शन किया जाएगा, तो समस्या होगी। प्रजा की स्थिति के उदाहरण इस विवरण मे दर्शाए गए है। बिचौले अधिकारियो का अत्याचार इससे भी बढ जाएगा। अन्त मे सरकार को ही नुकसान होगा, क्यो कि लोग तो उसको सरकार के द्वारा होने वाला अत्याचार ही मानेगे, जबकि वास्तव मे सरकार को उसकी जानकारी तक नहीं होती है।''[६९]

केवल चार वर्ष पूर्व ही, १८५५ मे ब्रिटिश सरकार के द्वारा नियुक्त बोर्ड ऑव कमिश्नर के एक से अधिक बार अध्यक्ष रह चुके और पूर्व के गवर्नर जनरल लॉर्ड एलनबरो ने नवनियुक्त गवर्नर जनरल लॉर्ड केनिग को १५ वर्ष पूर्व का अपना अनुभव बताया। शिमला के पर्वतीय क्षेत्र के लोगो को सरकारी काम के लिए किस प्रकार पकड करके लाया जाता था, उसका वर्णन करते हुए उसने लिखा,

''शिमला का सेनापति जब मैदानी प्रदेश मे जाने के लिए चला, तब मै उसकी

भेट करने गया था। उस समय मैने वहाँ अत्यधिक सख्या मे लोगो को इकट्ठे हुए देखा। लगभग ३००० लोग मार्ग के दोनो ओर पक्ति बनाकर खड़े थे। ये लोग सेनापति के रसाले का सामान ढोने के लिए बेगार मे पकड़ कर लाए गए थे।''[७०]

एलनबरो के पत्र के साथ शिमला के पूर्व पोलिटिकल एजन्ट केनेडी का एक विवरण भी था। १८१६ के आसपास ब्रिटिश किस प्रकार स्थानीय रूप से लोगो को अनिवार्य कठिन मजदूरी के लिए पकड कर लाते थे, इसके प्रति केनेडी ने एलनबर्ग का ध्यान आकर्षित किया है। १८१८ से १८३२ के बीच उस पर्वतीय क्षेत्र मे चार गज चौडा और ३०० से ८०० मील लम्बा मार्ग, इस प्रकार बेगार मे पकडकर लाए गए मजदूरो से बनवाया गया था। परन्तु इतना मार्ग पर्याप्त नहीं लगने के कारण अभी दूसरा १५० मील का मार्ग इसी प्रकार से बनवाने की योजना थी। इस विषय मे केनेडी ने इन शब्दो मे लिखा था,

''इस पद्धति से अत्यन्त कठिन काम करवाने के लिए जबर्दस्ती के कारण सम्पूर्ण प्रदेश मे सर्वत्र अत्यन्त क्रोध और घृणा व्याप्त हो गई है। मैं उसका ठीक से वर्णन भी नहीं कर सकता हूँ। लोग तथा उनके नेता आत्यन्तिक आक्रोश से भर गए हैं। क्योकि सम्पूर्ण वर्ष भर उन्हे इसी प्रकार से जबर्दस्ती काम करना पडता है। अधिकाश लोग वर्षा मे भीगने के कारण बुखारग्रस्त हुए है।''[७१]

केनेडी इन सभी अत्याचारो का हूबहू वर्णन करता है। प्रतिदिन जो भी ब्रिटिश अधिकारी, सेनानी, सैनिक, उनके परिचारक आते थे, उनकी सेवा करनी पड़ती थी। उनके खाने पीने की सभी प्रकार की सामग्री का प्रबन्ध करना पडता था। उनका सामान उठाना पडता था। उपर से यह सामग्री नि शुल्क देनी पडती थी। इन सभी कामो के लिए बड़ी सख्या मे लोगो को बेगार के लिए पकड़कर लाया जाता था। यह क्रम वर्षो तक अविरत बना रहता था।[७२] यही पद्धति ब्रिटिश सरकार के नौकर तथा अन्य यात्री भी प्रयोग मे लाते थे।

यह बेगार पद्धति इतनी प्रख्यात बन गई थी कि अन्य स्थानो मे भी अपनाई जाती थी। कुमाऊँ और गढवाल के कमिश्नर टी एच बेट ने एक बार लिखा कि यह सत्य है कि पद्धति अमानुषी है, परन्तु अब उसको समाप्त करने का तो विचार भी नहीं किया जा सकता है। वस्तुत , शिमला जैसे प्रदेश मे जब वरिष्ठतम अधिकारी इस प्रकार करते हैं, तब दूसरे लोगो को उसके दोष बताना धृष्टता मानी जाएगी।[७३] वस्तुत शिमला के रास्ते और उनके लिए अपनाई गई पद्धति पश्चिम उत्तर प्रदेश की सरकार स्वय भी अपनाने योग्य आदर्श मानती है।'[७४]

इस वर्णन से कदाचित् ऐसा लगता है कि बेगार की पद्धति पहाडी प्रदेशो मे अथवा जहॉ ब्रिटिशर अधिक मात्रा मे निवास करते थे वहीं प्रचलित होगी। परन्तु ऐसा नहीं है। १७७० से १९२० तक बेगारी ब्रिटिश सरकार का एक अविभाज्य अग था। सन् १८०० से १९०० के काल मे तो उसकी मात्रा अपरिमित थी। १८८७ मे भारत सरकार के गृहविभाग के सचिव ने लन्दन के राज्य सचिव को 'समुदाय के हित के लिए व्यक्तिगत कठिनाई को' न्याय्य बताने का प्रयास किया।[७५] अर्थात् ब्रिटिशर स्थापित करना चाहते थे कि राज्य जो कुछ कहता और करता है वह ठीक ही होता है। इसलिए अपनी आवश्यकता के अनुसार वस्तुओ का तथा मजदूरो का समूह बनाया जाए, यह प्रजा का कर्तव्य ही था।

वाइसरॉय लॉर्ड रिपन ने १८८२ के अक्टूबर मे इस बलात् मजदूरी की प्रथा का औचित्य समझाया। आसाम मे चलने वाली बेगार प्रथा का लॉर्ड रिपन ने विस्तार से विश्लेषण किया। उसने लिखा,

तीन प्रकार से इस बलात् मजदूरी करवाने के अवसर उपस्थित होते है -

१ रास्तो के निर्माण और उन्हे सुरक्षित रखने के लिए,

२ यात्री अधिकारी के सामान को लाने ले जाने के लिए, तथा

३ सेना की टुकडियॉ और उनके साजसरजाम को ले जाने के लिए।

रास्तो के निर्माण के विषय मे तो मुझे लगता है कि महत्त्वपूर्ण रास्तो के लिए ''लोक निर्माण विभाग'' यदि ध्यान देता है और अच्छी व्यवस्था करता है, तो मजदूरी की आपूर्ति नि शुल्क की जा सकती है। गॉव के छोटे रास्ते बनाने मे तो मालिक स्वय ही रूचि रखता है, इसलिए वह स्वय ऐसे रास्ते बनवा लेगा। जिला समितियो का तन्त्र इस मे सहायक हो सकता है।

अधिकारियो का सामान ढोने की जबर्दस्ती के विषयमे विरोध होने की सम्भावना है। उसको हम जितनी जल्दी समाप्त कर दे, उतना ही अच्छा होगा। इस प्रथा को समाप्त करने के लिए हमे शीघ्र ही कदम उठाने चाहिए। मै ऐसा सामान ले जाने के लिए हाथी की व्यवस्था का विचार कर सकता हूँ। यदि यह व्यवस्था प्रस्थापित हो जाती है, तो बेगारी प्रथा कुछ ही वर्षो मे समाप्त हो जाएगी।

परन्तु सैनिक व्यवस्था के लिए सबसे अधिक नि शुल्क और बलात् मजदूरी की आवश्यकता रहती है। मै कहीं नागा आक्रमण जैसे अपवाद स्वरूप अभियान की बात नहीं करता हूँ। ऐसे अवसरो पर तो नियम का उल्लघन करके भी कुछ व्यवस्थाएँ करनी पड़ती हैं। मै तो नियमित रूप से होने वाली सैनिक यातायात और पुलिसथानो की

व्यवस्था की बात करता हूॅ। बहुत जल्दी सैनिक अधिकारियो के साथ मिलकर बेगार का विकल्प ढूॅढने का प्रयास करने हेतु मै विचार कर रहा हूॅ। बेगार प्रथा गलत है, यह मनमे बैठ जाता है तो मार्ग निकलना कठिन नहीं है। इस विषय मे सैनिक विभाग और सेना के स्थानीय अधिकारियो के साथ बात करनी चाहिए।[७६]

परन्तु गत एक सो वर्षो से बेगारी जितनी चुस्त और व्यापक रूप से व्यवहार में थी उतने ही प्रबल रूपसे उसके विरुद्ध तर्क, आपत्ति, चर्चा, योजना इत्यादि भी चलते रहते थे। परिणाम शून्य था। पजाब सरकार के सचिव ने १८८७ मे इस प्रथा के विषय मे स्पष्टीकरण देते हुए कहा, ''पजाब मे जो गैरकानूनी और अमान्य पद्धति से चलता है, वही सम्पूर्ण भारत मे भी न्यूनाधिक अश मे चलता है। विना किसी भी प्रकार के कानूनी अधिकार के मनुष्यो को और वाहनो को बेगार मे पकड़ा जाता है।[७७]

ऐसे बेगार मे पकडने के विषय मे अभिलेख १७७० के समय में भी प्राप्त होते है। ये अभिलेख आर्कोट के नवाव के प्रदेश के हैं। २५ सितम्बर १७७२ मे आर्कोट के नवाब के दरबार मे रहने वाला ब्रिटिश अधिकारी एडमिरल हार्लेन्ड लन्दन को विवरण भेजता है,

''नवाब की सबसे बडी शिकायत यह है कि जो बैल खेतो के काम मे जोत मे लगने चाहिए, उन्हींको और मनुष्यो को अनिवार्य रूप से बेगार मे पकड लिया जाया जाता है। यूरोपीय लोगो की यह और इसी प्रकार की अन्य अत्याचारपूर्ण हरकतो के सामने लोगो को कितना अधिक क्रोध है उसकी जानकारी सलग्न विवरण मे भेजी है।''[७८]

परन्तु समय के पवाह मे बेगार प्रथा यूरोपीय लोगो के लिए पूर्ण रूपसे सहज बन गई। एक स्थान से दूसरे स्थान तक उसकी वृद्धि होती ही गई। १८१८ तक तो निझाम के हैदराबाद मे उसका अत्याचार इतना बढ गया कि वहॉ के ब्रिटिश रेसिडेन्ट को इसका विवरण गवर्नर जनरल को भेजना पड़ा। रेसिडेन्ट ने अपने पत्र मे लिखा, ''यदि यह प्रथा इसी प्रकार चलती रही तो सरकार की बहुत बदनामी होगी। एक स्थान से पकडी हुई बेगार को दूसरे स्थान मे मुक्त नहीं किया जाता है। यदि मुक्त किया जाता है तो उसका किराया नहीं चुकाया जाता है। वस्तुत बेगार के लिए किसे पकड कर लाना चाहिए इसका कोई विवेक नहीं रहता है। किसान, व्यापारी, कारीगर, स्थानिक अधिकारी, जो भी हाथ लगता है उसे काम छुड़वा कर सामान उठाने के लिए बाध्य किया जाता है। सामान्य वर्णन करने के स्थान पर ठोस उदाहरण देने से विषय अधिक स्पष्ट होगा।

''ब्रिगेडियर जनरल डोवटन के केन्द्र मे एक टुकडी सामान लेकर जा रही थी।

अभी तो हैदराबाद से वे निकले ही थे। उस समय तो उनके पास पशुओ की कमी नहीं हो सकती। फिर भी उन्होने खेतो मे चल रहे हल छुड़वा दिए और बैलो को उनका सामान ढोने के लिए पकड लिया। कोलकता के एक सज्जन ने यहाँ आने के बाद कहा कि जब वे निझाम के प्रदेश से गुजर रहे थे, तब उन्होने एक गाँव को पूर्ण रूपसे वीरान हुआ देखा। गाव के निवासियोने कुली के रूप मे पकडे जाने के भय से बचने के लिए गाँव छोड़कर भाग जाना पसन्द किया था। इसके बाद तुरत ही एक सिपाही ४० पुरुषों को अधिकारी का सामान उठाने के लिए पकड कर लाया था। पुन एक बार जब वह जालना से निकला, तो उसने देखा कि सिपाही के द्वारा बेगार मे पकड़ कर लाया गया एक व्यक्ति अपना बोज नीचे पटक कर भाग जाने का प्रयास कर रहा था। सिपाही ने यह देखा तो अपनी छडी से वह उसे फटकारने लगा। गत वर्ष एक अधिकारी का सामान ढोने वाले कुलियो को वर्षा के दिनो मे बिना भोजन या आश्रय दिए इतने समय तक रोका गया कि उनमे तीन चार तो मर गए, और इस विषय मे अधिकारी तो अनजान ही थे।'

इन उदाहरणो को देखने पर समझ मे आता है कि रास्ते के किनारे स्थित गाँव बेगार के भय से खाली हो जाने के कारण से अपने ही अधिकारी और उनके रसाले को यात्रा करने मे बहुत कठिनाई होती है। साथ ही निझाम सरकार को भी परेशानी होती है। इस से अधिक कलकित करनेवाली और कोई प्रथा हो सकती है इसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती है।

तीन वर्ष पूर्व ब्रिगेडियर जनरल डोवटन ने मेरी प्रार्थना सुन कर एक आदेश प्रसारित किया कि कुली, बैल या गाड़ियाँ बेगार मे न पकड़ी जाएँ। बहुत अनिवार्य रूपसे उसकी आवश्यकता पड़ने पर उसके पैसे चुकाए जाएँ। आदेश मे पैसे चुकाने का प्रतिशत भी दर्शाया गया था। व्यक्तिगत काम के लिए तो किसी भी प्रकार इन सबका उपयोग नहीं किया जा सकेगा। अपने सैनिक बल का उपयोग कर इस आदेश का कठोरता के साथ पालन हो, यह भी ब्रिगेडियर जनरल ने देखा। परन्तु यात्रा करने वालो ने उस ओर बहुत ध्यान नहीं दिया। कई अधिकारियो ने तो ये पशु नि शुल्क प्राप्त होते थे इसलिए अपने पशु बेच दिए थे और कई सिपाही तो अपने थैले और मशक उठाने के लिए भी कुलियो को पकड़ते थे।''[७९]

ब्रिटिश रेसिडेन्ट ने इस प्रकार का पत्र बगाल तथा अन्य प्रेसिडेन्सी को भी भेजा था। मद्रास प्रेसिडेन्सी ने यह पत्र सभी जिलो के मजिस्ट्रेटो को भेज दिया और इस सम्बन्ध मे आवश्यक जानकारी तथा अपना अभिप्राय देने के लिए कहा। वास्तव मे

प्रत्येक जिले के मजिस्ट्रेट के पास हैदराबाद के रेसिडेन्ट जैसी ही कथाएँ कहने को थीं। कुछ के वर्णन तो इससे भी भयावह थे। अन्त मे सन् १८२९ के अप्रैल मे यह एकत्रित की हुई जानकारी की ओर मद्रास प्रेसिडेन्सी की सरकार ने ध्यान देना प्रारम्भ किया। उस समय का सम्पूर्ण पत्रव्यवहार देखने पर मद्रास के गवर्नर टोमस मनरोने कहा कि बेगार की यह प्रथा 'इतनी व्यापक हो गई है कि हमे उसके अत्याचारो के पचासवे भाग की भी जानकारी नहीं मिलती है।''[८०]

मनरो ने कहा, ''एक भी सैनिक जत्था, एक भी रक्षक, एक भी व्यक्ति ऐसे बेगार मे पकडे गए लोगो के बिना अपने स्थान से हिलता तक नहीं है। इसके लिए गाँव के लोगो पर अत्याचार करने ही पड़ते है। लोग उसके प्रति आक्रोश व्यक्त करते है। राज मार्ग अन्य देशो मे जहॉ से गुजरता है, उन गॉवो के लिए लाभकारी है, जबकि भारत मे इससे उलटा है। यहॉ तो रास्ते के किनारे बसे गॉवो से लोग बेगार मे पकडे जाने के भय से गॉव छोडकर चले जाते है। कहीं कहीं तो पूरा गॉव खाली हो जाता है। गाँव के लोग रास्ते से दूर किसी नये स्थान को निवास के लिए ढूँढ लेते हैं। सेना के जत्थे जहॉ पड़ाव डालते हैं, और मजिस्ट्रेट के लिये आवश्यक खाने पीने की तथा अन्य वस्तुओ को प्राप्त करने के लिए कहा जाता है, तब मजिस्ट्रेट तहसीलदार को अनाज तथा अन्य सामग्री एकत्रित करने का आदेश देता है। तहसीलदार भी दस बारह मील दूर बसे गॉवो से यह सब इकट्ठा कर सकता है। लोग स्वेच्छा से यह सब नहीं देते है, इसलिए जबर्दस्ती लाना पडता है। यही बात मनुष्यो की भी है। उनको भी जबर्दस्ती लाना पड़ता है। वे लोग भाग न जाएँ, इसके लिए अपराधियो की तरह उनको भी कैद मे रखा जाता है। (समूह मे रखा जाता है) यदि जत्थे समय पर नहीं पहुचते है, तो उनके पहुँचने तक इन सबको रोक कर रखा जाता है। उनको पर्याप्त कीमत अथवा मजदूरी कभी चुकाई नहीं जाती है। उन्हें रोककर रखा जाने का लाभ भी नहीं दिया जाता है। उनके घर से पड़ाव के स्थान तक का भत्ता नहीं दिया जाता है। इतना ही नहीं तो जो कुछ चुकाया जाता है, उस से बिचौले अपना भाग छीन लेते हैं। यदि जत्थे के पास पशु कम है, तो जिन बैलो को हल से छुड़ाकर लाया गया है, उन्हीं को जत्थे के साथ भेज दिया जाता है। एक बार गए हुए बैल शायद ही लौटते हैं।''[८१]

मनरो का अभिप्राय था, ''सैनिक जत्थो की अपेक्षा यात्रा करने वाले यूरोपीय लोग अधिक अत्याचार करते हैं।'' इसके बाद सकोच करते हुए उसने यह भी कहा कि इतने बड़े पैमाने पर अत्याचार स्थानिक अधिकारियो की अपेक्षा ''हमारे अधिकारी'' ही अधिक करते है।[८२]

इस प्रकार का कठोर अभिप्राय व्यक्त करने के बाद मद्रास प्रेसिडेन्सी की सरकार ने परिस्थिति मे सुधार करने के लिए कदम उठाना निश्चित किया। नए नियम व्यवहार मे लाए गए। उन नियमो को जिलाधीश, न्यायाधीश और सेनाधिकारियो को भेज दिया गया। फिर भी स्थिति यह थी कि यह बलात् मजदूरी और मुफ्त का अनाज भडार विदेशी शासन मे अनिवार्य विषय बन गया था। आगे चल कर केवल सैनिक जत्थो और यात्रियो के लिए कुली तथा खाद्यसामग्री ही नहीं, तो रास्ते बनाने के लिए, मकान और बाँध बनाने के लिए, मरम्मत करने के लिए इसकी अधिक से अधिकतर आवश्यकता पड़ने लगी। परिवर्तन इतना हुआ कि अब सरकारी दफ्तरो से ''बेगार'' ''बलात् मजदूरी'' जैसे शब्द अदृश्य हो गए। उनके स्थान पर ''नियमानुसार मजदूरी'' जैसे शब्द लिखे जाने लगे।

१८४२ के नवम्बर मे लन्दन स्थित अधिकारियो ने मद्रास प्रेसिडेन्सी की सरकार को फटकार देने वाला पत्र लिखा, क्योकि उन्हे इस प्रकार का विवरण प्राप्त हुआ था कि ''अधिकाश जिलो मे बलात् मजदूरी की प्रथा कभी कभार ही देखने को मिलती थी, और वह भी विशेष आवश्यकता पड़ने पर''।[८३] इस प्रकार की फटकार वाला पत्र सन् १८४४ मे सभी जिलाधीशो को भेजा गया था। उसके उत्तर मे मदुरा के जिलाधीश ने अपने जिले की स्थिति का वर्णन करते हुए राजस्व बोर्ड को लिखा,

''बलात् मजदूरी की प्रथा केवल जहाँ रास्ते बहुत ही खराब हालत मे होते हैं तब उनकी मरम्मत के लिए, और मिट्टी के काम तक सीमित है। मुझे लगता है कि कोर्ट की टिप्पणी इस विषय मे तो नहीं ही होगी, क्योकि जब तालाब विभाग के नए नियम बनाए गए और लोक निर्माण विभाग को भेजे गए, तब उसमे सूचित किया गया था कि यदि गाँव के कुली तालाब के नुकसान को नहीं रोकेगे, तो उनको सजा दी जाएगी। राजस्व बोर्ड को मालूम है कि रास्तों की सुरक्षा के लिए मै रैयत का कितना उपयोग करता हूँ और जब तक इससे अलग कोई आदेश नहीं प्राप्त होता है, तब तक मै वही करता रहूँगा। बोर्ड यदि ऐसा आदेश भेजेगा, तो मै आशा करता हूँ कि बोर्ड उसका विकल्प भी सूचित करेगा।

यह पत्र मैने भेजा नहीं होता और भेजने की आवश्यकता भी नहीं पड़नी चाहिए, परन्तु सरकार जब हम पर अविश्वास दर्शाती है, तब मुझे मेरा कर्तव्य निभाने मे अत्यन्त असुरक्षितता का अनुभव होता है।''[८४]

इसके उत्तर मे बोर्ड ने क्या लिखा, यह भी ध्यान देने योग्य है,

''नामदार कोर्ट की बलात् मजदूरी हेतु फटकार मात्र सामान्य प्रकार के कामो के लिए की जाने वाली बलात् मजदूरी के विषय मे ही है। समयानुक्रम मे होने वाले काम, जैसे कि तालाब के बॉध तथा रास्तो की मरम्मत करना, गटर साफ करना तथा जो भी लोगो की सुखसुविधा के लिए आवश्यक है, उन सभी कार्यो के विषय मे यह फटकार लागू नहीं है। ये सभी काम तो परम्परा से होते आए है, और वे उन्हे आनन्द से करते है।''[८५]

लोग ऐसे काम किस प्रकार आनन्द से करते है, यह भी जानने योग्य है। राजस्व बोर्ड ने सभी जिलाधीशो को परिपत्र भेजा था''। पुरानी वेगार प्रथा को फिर से प्रारम्भ करना, किसी भी प्रकार से मान्य नहीं किया जाएगा।'' इस विषय मे जिलाधीशो से कुछ स्पष्टीकरण मागे गए थे। गजाम के जिलाधीश ने लिखा,

''आपके गत १९ अप्रैल के परिपत्र क्रमाक १९०२ के सन्दर्भ मे सूचित किया जाता है कि इस जिले का राजमार्ग वर्षो से अधूरा पड़ा है। बैलगाड़ियो से तो यात्रा हो ही नहीं सकती है। सिर पर सामान ले जाने की प्रथा सामान्य है, परन्तु कभी कभी वे इनकार कर देते हैं। उस स्थिति मे मैने उनसे कहा कि वे नियमानुसार बोज ढोने वाले ही हैं, इसलिए वे इनकार नहीं कर सकते है। मेरी आग्रहपूर्वक सिफारिश है कि इस व्यवस्था को हमेशा के लिए निश्चित किया जाए, और उसको व्यापक बनाया जाए, तथा जो नाविक भी काम करने से इनकार करे, उन्हे तीस कोड़े मारने की सजा दी जाए''।[८६]

इस प्रकार की बलात् मजदूरी की प्रथा भारत के किसी एक भाग मे नहीं, अपितु सम्पूर्ण भारत मे प्रचलित थी। जैसे जैसे गरीबी बढती गई, वैसे वैसे उसकी भयावहता कम होती गई, क्योकि आर्थिक और राजकीय नीतियो के कारण मजदूरी करने की मजबूरी के कारण मजदूरो की सख्या बढने लगी, लोग इतनी बड़ी मात्रा मे बेकार होने लगे थे कि पेट भरने के लिए दिन के अन्त मे दो चार पैसे मिल जाऍ, इस हेतु वे मजदूरी करने के लिए तैयार हो जाते थे। परन्तु सन् १८४० मे अभी इतनी विकट स्थिति नहीं हुई थी, इसलिए बलात् मजदूरी के सितम ढाए जाते थे।

ब्रिटिश शासन के २७ वर्ष मे ही, अर्थात् सन् १८४२ में उत्तर प्रदेश के कुमाऊँ जिले के निवासी ब्रिटिश शासन के विषय में शिकायत करने लगे। उनकी यह शिकायत सरकारी काम करने के लिए अनिवार्य रूप से करने वाली मजदूरी के विषय में ही थी। कुमाऊँ के कमिश्नर ने ही यह जानकारी दर्ज की है।[८७] उसे जब पूछा गया तब उसने इस प्रकार की जानकारी दी। यह जानकारी वर्ष १८४१-४२ और १८४३ के एक

चतुर्थांश भाग की है। विभिन्न कामो के लिए कितने व्यक्ति रखे गए थे इस विषय की यह जानकारी है।

१	कार्यपालक इन्जीनियर, कुमाऊ को	४,८२८
२	सैनिक अधिकारी, अलमोड़ा (सिपाहियो के लिए घास सहित) को	६,१८६
३	सैनिक और कार्यपालक अधिकारी, लोहाघाट और पिथौरागढ को	९,२६१
४	सरकारी चाय के बगीचे, अलमोड़ा, भीमताल, हवालबाग को	१,९००
५	सरकारी भूमिति सर्वेक्षण के अधिकारी को	३४७
	कुल	**२२,५२२**

''मुझे लगता है कि इस जानकारी से यह समझ मे आएगा कि इस जिले मे बलात् मजदूरी से सम्बन्धित सभी को इस बात की जानकारी है।

इस पद्धति के कारण ग्रामवासियो को बहुत परेशानी उठानी पड़ती है, इस बात से मै भली भाति से परिचित हूॅ, परन्तु मुझे यह भी लगता है कि बिना अधिक खर्च की व्यवस्था किए यह प्रथा शिथिल भी नहीं की जा सकती है अथवा समाप्त भी नहीं की जा सकती है। इसलिए अधिक खर्च करने की अनुमति मुझे नहीं मिलेगी, तो मै अन्य कोई भी सुझाव नहीं दे सकता हूॅ।

वस्तुत मुझे कहना चाहिए कि मुल्की अधिकारी अपने वार्षिक प्रवास के दौरान जिन मजदूरो को साथ मे ले जाते है, उनकी इस सूची मे गणना नहीं की गई है। ये मजदूर मान्यता प्राप्त हो, या न हो, उनकी इच्छा से विरुद्ध ही सिपाहियो के लिए घास लाने का या अधिकारियों के लिए चूना लाने का काम उन्हे करना पडता है।''[८८]

लगभग इसी अरसे मे सन् १८४४ के अगस्त मे उत्तर पश्चिम प्रान्त के न्याय विभाग के अधिकारियो को भेजे गए एक परिपत्र मे निजामात अदालत के रजिस्ट्रारने लिखा, ''माना जाता है कि कमिश्नर की कचहरी के अधिकारी जब बड़े पडाव डालते हैं और वहॉ बहुत जत्थे जमा होते है, तब वे थानेदार से आग्रह रखते है कि व्यापारी और कारीगरो को ऐसे पडावो के साथ काम मिल ही जाएगा यह मान कर मजदूरी की अपेक्षा के बिना जुडे। ऐसी माग को थानेदार बिना शिकायत, बिना उसकी असलियत जॉच किए और उससे होनेवाले अन्याय के प्रति बिना ध्यान दिए सतुष्ट भी करते हैं।''[८९]

सैनिक पडावो के साथ किस प्रकार के कारीगर और व्यापारी चलते थे, उसकी एक सूची उत्तर पश्चिम प्रान्त की सरकार ने सैनिक बोर्ड को १५-६-१८४४ को दी है। वह इस प्रकार है -

(१) आटा और दाल बेचने वाले
(२) मिठाई बेचने वाले
(३) पसारी
(४) फुटकर व्यापारी
(५) नून्दीवाला श्रोफ
(६) तम्बाकू बेचने वाले
(७) तबोली
(८) सूजी बनाने वाले
(९) भठियारा
(१०) रसोइया
(११) कुजडा
(१२) मछुआरा
(१३) बासती
(१४) वाझाज
(१५) तातार
(१६) कसाई
(१७) मास बेचने वाले
(१८) मोची
(१९) सीकलगर
(२०) धोवी
(२१) तेली
(२२) भडभूजा
(२३) मोदी
(२४) ऊँटवाला
(२५) खानसामा
(२६) पायदोस
(२७) लोहार
(२८) सुतार
(२९) सोनी
(३०) मुर्गे पालने वाले
(३१) कुम्हार
(३२) तोडीवाला
(३३) हुक्का बनाने वाले
(३४) चुल्लीगर[९०]

इसके उत्तर मे सैनिक अधिकारियो ने कहा कि ''बाजार अथवा अन्य किसी भी प्रयोजन से लोगो पर किसी भी प्रकार की जबर्दस्ती नहीं की जाती है।''[९१] इस पर निजामात अदालत ने थानेदारो को सूचना दी कि इस प्रकार के कामो मे किसी भी प्रकार की सहायता न दी जाय,[९२] परन्तु इस प्रकार की सूचना देते ही अनेक प्रकार की समस्याएँ पैदा हुईं और कुछ ही दिनो मे वायव्य प्रान्त की सरकारने निजामात अदालत को लिखा,

''अदालत ने जो नियम बनाया है, उसका पालन सामान्य स्थितियो मे तो सम्भव है, परन्तु बडे सैनिक पड़ावो मे अथवा छावनियो के परिवर्तन मे तो मनुष्यो की आवश्यकता पडेगी ही। उस समय थानेदारो का कर्त्तव्य हो जाएगा कि वे ऐसे पड़ावो और ऐसी कूच को हर प्रकार से मदद करें। इन लोगो को अपनी मेहनत का फल अथवा सामान की कीमत मिल जाए, इसके लिए थानेदार अपनी सत्ता और शक्ति का उपयोग कर सकते है।''[९३]

इसी प्रकार अन्य समस्याएँ भी पैदा हुई। यमुना के पश्चिम मे बननेवाली नहर के

कार्यकारी अधीक्षक ने वायव्य प्रान्त की सरकार को निजामात अदालत के इस प्रकार के आदेश से कैसी कठिनाई पैदा होगी, इस विषय मे लिखा। कर्नल के मजिस्ट्रेट, दिल्ली के कमिशनर और अम्बाला के गवर्नर जनरल के नायब सूबे के साथ काम करने मे पैदा होने वाली कठिनाइयो का वर्णन करते हुए उसने आगे कहा,

''कुछ वर्ष पूर्व जब लॉर्ड विलियम बैण्टिक गवर्नर जनरल थे, तब बलात् मजदूरी को प्रतिबन्धित करने हेतु कठोर आदेश दिए गए थे। परन्तु उस सरकार तथा सेना दोनो का अनुभव है कि जब आवश्यकता पडती थी, तब इन आदेशो का उल्लघन करना पडता था। उसके उदाहरण भी हमारे सामने मौजूद हैं। ब्रह्मपुर विभाग की नहर के बगल से जाने वाले रास्ते की मरम्मत के समय और गवर्नर जनरल अथवा सरसेनापति के काफले की कूच के समय इन आदेशो को किनारे करना पडता था। इसलिए यदि अदालत के आदेश को बदला नहीं गया, तो इतनी विकट परिस्थिति निर्माण होगी कि मै मुझे दिया गया दायित्व निभा नहीं पाउगा। यदि नहर की सुरक्षा के कार्य मे इस प्रकार विघ्न पैदा किए जाएगे, तो मेरी यहॉ काम करने की सिद्धता नहीं है।

इसके साथ यमुना के पश्चिम मे स्थित नहर के लिए ३१ अगस्त, १८४४ को पूर्ण होने वाले वर्ष मे ५,१८,२०४ व्यक्ति काम मे लगाए गए थे। मे निश्चित रूप से कह सकता हूँ कि सवार, बरकदाज, चपरासी, खलासी, माली अथवा बेलदार को छोड अन्य किसी को भी इतने लोगो को एकत्रित करने के काम मे लगाया नहीं गया था। अधीक्षक को अपने व्यक्ति न लगाने पडे, इसलिए मुल्की अधिकारियो ने इन लोगो को इकट्ठा करने में सहायता की, यह बात अलग है। यही पद्धति आज भी कायम रखी जा सकती है। यदि मुल्की विभाग को व्यक्ति देने की मनाई की जाएगी, तो नहर काम के अधिकारियो को मासिक ४३,००० व्यक्तियो के हिसाब से रखने का काम स्वय ही करना पड़ेगा। ऐसा नहीं करेगे, तो सरकार का काम बिल्कुल ठप्प हो जाएगा।

सामान्य अदाज से करनाल मे नहर के काम के भाव बढ रहे है। हाल ही मे सैनिक बोर्ड के बहकावे से लोर्ड एलनबरो ने कोलकाता मे एक काम मे ६०० रूपए अधिक खर्च हो जाने के कारण १,००० रूपए दण्ड करार दिया था। यदि सरकार हमारे विरुद्ध इस प्रकार के कदम उठाएगी, तो मै इस विभाग मे रहना पसन्द नहीं करता हूँ। कोलकाता शहर मे मैं चार वर्ष न्यायाधीश के रूप मे रहा, उस समय जेसोर के कमिशनर के सामने एक भी ऐसा किस्सा नहीं हुआ था। २४ परगना जैसे नामचीन इलाके मे भी मेरे काम के सामने कोई आपत्ति नहीं उठाई गई थी। यह सब देखते हुए लगता है कि वर्तमान नियम और व्यवस्थाएँ कैसी भी हो, परन्तु नहर के काम के लिए इच्छित

स्थानिक मजदूर प्राप्त करने के विषय मे मेरे अथवा नहर अधिकारियो के सामने सरकार को कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए।''[९४]

इसी प्रकार मजदूर और बेगार करने वालो को प्राप्त करने की प्रथा मुबई प्रेसिडेन्सी के इलाको मे भी थी। इस प्रथा पर सरकारी मनाई तो थी, परन्तु वह मनाई किसी की जानकारी मे नहीं थी। और होने पर भी कोई उस ओर ध्यान नहीं देता था। मुबई की सरकारने १८४९ के सितम्बर मे लदन कार्यालय को सूचित किया कि १८२७ के अधिनियम १२ के विभाग १७ के क्रियान्वयन के विषय मे जॉच करने की व्यवस्था की गई है। यह अधिनियम कुली और बेगारी की जबर्दस्ती न करने का अधिनियम है। इससे सलग्न उसका विवरण कहता है,

''सदर अदालत के उत्तर से जानकारी होती है कि अहमदाबाद कलेक्टरेट मे बेगारी विषयक अधिसूचनाओ को विभिन्न गॉवो के चौक मे चिपकाया गया था, परन्तु गत पॉच वर्षो मे उन्हे प्रकाशित नहीं किया गया। खेड़ा कलेक्टरेट मे केवल १६ अक्टूबर १८३८ को एक दिन के लिए ही उसको प्रकाशित किया गया था। भरूच, सूरत, पूणे, नगर, सोलापुर, खानदेश इत्यादि कलेक्टरेट मे इस प्रकार के कोई आदेश नहीं दिए गए थे। तन्ना कलेक्टरेट मे केवल एक बार सन् १८३६ मे इस अधिनियम की सार्वजनिक जानकारी दी गई थी। कुली और बेगारी के विरुद्ध मे धारवाड कलेक्टरेट मे केवल दो बार आदेश दिए गए थे। बेलगॉव कलेक्टरेट मे कुली और बेगारी की जबर्दस्ती के विरुद्ध १८४६ फरवरी मे जिले के अधिकारियो को पत्रक भेजा गया था। उसमे जो सवार रास्ते से अपरिचित है उन्हे रास्ता दिखाने के लिए कुलियो को लगाने की छूट दी गई थी। १८३७ के नवम्बर मे बेलगॉव के नायब मजिस्ट्रेट ने वेगुरला की ओर जानेवाले भीडभाड वाले रास्ते मे बेगार पकडने के विरुद्ध आदेश दिए थे।

इस अधिनियम के सन्दर्भ मे जो भी केस चलाए गए थे, उस विषय मे अदालत ने टिप्पणी की कि सभी मजिस्ट्रेटो का कहना था कि एक भी केस अधिकृत रूप से दर्ज नहीं किया गया है। अलग अलग मजिस्ट्रेटो के इस प्रकार के उत्तर हमारे स्व पूर्व प्रमुख को अत्यन्त असन्तुष्ट करनेवाले लगे थे। उनका अभिप्राय था कि गत पॉच वर्षों मे कोई शिकायत नहीं की गई, यह बात ही आश्चर्यकारक है। इससे तो यह विश्वास होता है कि लोगो की रक्षा के लिए बनाए गए अधिनियमो की जानकारी लोगो को होने के लिए कोई कदम नहीं उठाए गए है। क्योकि यदि जानकारी होती, तो केस किये जाते, जॉच होती, स्पष्टीकरण होते।''[९५]

महाबलेश्वर क्षेत्र की स्थिति के विषय मे मुबई सरकार ने लन्दन को सूचित

किया, ''हमे इस विषय मे सूचित किया गया है कि महाबलेश्वर के आसपास के गॉवो के निवासियो को वर्षा प्रारम्भ होने से पूर्व पहाड़ो को छोड़कर जाने वाले यात्रियो के लिए खेतो के काम छुडवाकर बैल, गाड़ियॉ और मनुष्यो को बेगार मे पकड़ कर लाया जाता था। इसलिए सदर अदालत ने तन्ना के मजिस्ट्रेट को स्पष्टीकरण करने के लिए बुलाया था। उनको पूछा गया था कि अधिनियम होते हुए भी ये सारी बाते अदालत के ध्यान पर क्यो नहीं लाई गई।''[९६]

चालीस वर्ष के बाद १८८७ मे इस स्थिति की समीक्षा करते हुए भारत सरकार के गृह सचिव ने उस समय की मुबई सरकार की स्थिति का वर्णन निम्नलिखित शब्दो मे किया,

'मुबई प्रेसिडेन्सी के सभी देशी राज्यो मे जमीनदारो और सरकारी अधिकारियो के लिए लोगो को बेगारी मे पकड कर लाने का रिवाज है। यह विषय अभी न्यायालय के अधीन है। अग्रेजी राज्य मे गॉवो मे यह प्रथा कायम है। वह तहसीलदारो के अधीन है। विशेष करके जमीनदार उससे लाभान्वित होते है। जबकि देशी अधिकारी अथवा जमीनदार इस प्रकार की मजदूरी करवाते है, तब उनको नाम मात्र की, मजदूरी देने का प्रचलन है। इस हेतु उनसे कर जैसा कुछ लिया जा सकता है। ब्रिटिश प्रदेशो मे तो केवल सैनिक जत्थो की हेराफेरी के लिए गाडियॉ मगवाने की या नहरो का निर्माणकार्य अथवा मरम्मत के लिए सिचाई कानून के अन्तर्गत मजदूरो को बुलाने के स्वरूप मे ही यह प्रथा प्रचलन मे है। अधिकारियो के लिए तबू और सामान ढोने के लिए ही गाडियो का उपयोग ब्रिटिश राज मे किया जाता है।'[९७]

८ जुलाई १८३६ के दिन जबलपुर के कमिशनर ने ब्रिटिश अधिकारियो और सेना के वरिष्ठ अधिकारियो के व्यक्तिगत कार्यो के लिए बेगार पर मजदूर लाने के उदाहरण उत्तर पूर्व प्रदेश की सरकार के समक्ष प्रस्तुत किए है। इस वर्णन से लगता है कि यह प्रथा व्यवहार मे बहुत अधिक प्रचलित थी। इसलिए उसका वर्णन यहॉ विस्तार से देना उचित होगा। कमिशनर का विवरण सूचित करता है,

''मुझे सूचित करते हुए दु ख होता है कि ब्रिटिश अधिकारियो का व्यवहार भी उतना ही (देशी लोगो के जितना ही) खराब था। इस पर भी एक अनिष्ट बहुत व्यापक था। एक अग्रेज को अपने आवास मे जो कुछ चाहिए - भेड़, मुर्गी, मजदूर, निर्माण कार्य का सामान आदि, उसके लिए पुलिस और राजस्व अधिकारी को आदेश देकर मगवा लिया जाता था। उसका परिणाम यह होता था कि उचित से बहुत कम कीमत चुकाई जाती थी। सागर मे तो मैंने देखा कि अग्रेज लोगो को गॉव के बाजार से जो कुछ चाहिए,

स्थानिक मजदूर प्राप्त करने के विषय मे मेरे अथवा नहर अधिकारियो के सामने सरकार को कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए।''[९४]

इसी प्रकार मजदूर और बेगार करने वालो को प्राप्त करने की प्रथा मुबई प्रेसिडेन्सी के इलाको मे भी थी। इस प्रथा पर सरकारी मनाई तो थी, परन्तु वह मनाई किसी की जानकारी मे नहीं थी। और होने पर भी कोई उस ओर ध्यान नहीं देता था। मुबई की सरकारने १८४९ के सितम्बर मे लदन कार्यालय को सूचित किया कि १८२७ के अधिनियम १२ के विभाग १७ के क्रियान्वयन के विषय मे जॉच करने की व्यवस्था की गई है। यह अधिनियम कुली और बेगारी की जबर्दस्ती न करने का अधिनियम है। इससे सलग्न उसका विवरण कहता है,

''सदर अदालत के उत्तर से जानकारी होती है कि अहमदाबाद कलेक्टरेट मे बेगारी विषयक अधिसूचनाओ को विभिन्न गॉवो के चौक मे चिपकाया गया था, परन्तु गत पॉच वर्षो मे उन्हे प्रकाशित नहीं किया गया। खेड़ा कलेक्टरेट मे केवल १६ अक्टूबर १८३८ को एक दिन के लिए ही उसको प्रकाशित किया गया था। भरूच, सूरत, पूणे, नगर, सोलापुर, खानदेश इत्यादि कलेक्टरेट मे इस प्रकार के कोई आदेश नहीं दिए गए थे। तन्ना कलेक्टरेट मे केवल एक बार सन् १८३६ मे इस अधिनियम की सार्वजनिक जानकारी दी गई थी। कुली और बेगारी के विरुद्ध मे धारवाड कलेक्टरेट मे केवल दो बार आदेश दिए गए थे। बेलगॉव कलेक्टरेट मे कुली और बेगारी की जबर्दस्ती के विरुद्ध १८४६ फरवरी मे जिले के अधिकारियो को पत्रक भेजा गया था। उसमे जो सवार रास्ते से अपरिचित है उन्हे रास्ता दिखाने के लिए कुलियो को लगाने की छूट दी गई थी। १८३७ के नवम्बर मे बेलगॉव के नायब मजिस्ट्रेट ने वेगुरला की ओर जानेवाले भीडभाड वाले रास्ते मे बेगार पकडने के विरुद्ध आदेश दिए थे।

इस अधिनियम के सन्दर्भ मे जो भी केस चलाए गए थे, उस विषय मे अदालत ने टिप्पणी की कि सभी मजिस्ट्रेटो का कहना था कि एक भी केस अधिकृत रूप से दर्ज नहीं किया गया है। अलग अलग मजिस्ट्रेटो के इस प्रकार के उत्तर हमारे स्व पूर्व प्रमुख को अत्यन्त असन्तुष्ट करनेवाले लगे थे। उनका अभिप्राय था कि गत पॉच वर्षो मे कोई शिकायत नहीं की गई, यह बात ही आश्चर्यकारक है। इससे तो यह विश्वास होता है कि लोगो की रक्षा के लिए बनाए गए अधिनियमो की जानकारी लोगो को होने के लिए कोई कदम नहीं उठाए गए है। क्योकि यदि जानकारी होती, तो केस किये जाते, जॉच होती, स्पष्टीकरण होते।''[९५]

महाबलेश्वर क्षेत्र की स्थिति के विषय मे मुबई सरकार ने लन्दन को सूचित

किया, ''हमे इस विषय मे सूचित किया गया है कि महाबलेश्वर के आसपास के गॉवो के निवासियो को वर्षा प्रारम्भ होने से पूर्व पहाडो को छोड़कर जाने वाले यात्रियो के लिए खेतो के काम छुडवाकर बैल, गाडियॉ और मनुष्यो को बेगार मे पकड कर लाया जाता था। इसलिए सदर अदालत ने तन्ना के मजिस्ट्रेट को स्पष्टीकरण करने के लिए बुलाया था। उनको पूछा गया था कि अधिनियम होते हुए भी ये सारी बाते अदालत के ध्यान पर क्यो नहीं लाई गईं।''[९६]

चालीस वर्ष के बाद १८८७ मे इस स्थिति की समीक्षा करते हुए भारत सरकार के गृह सचिव ने उस समय की मुबई सरकार की स्थिति का वर्णन निम्नलिखित शब्दो मे किया,

'मुबई प्रेसिडेन्सी के सभी देशी राज्यो मे जमीनदारो और सरकारी अधिकारियो के लिए लोगो को बेगारी मे पकड कर लाने का रिवाज है। यह विषय अभी न्यायालय के अधीन है। अग्रेजी राज्य मे गॉवो मे यह प्रथा कायम है। वह तहसीलदारो के अधीन है। विशेष करके जमीनदार उससे लाभान्वित होते है। जबकि देशी अधिकारी अथवा जमीनदार इस प्रकार की मजदूरी करवाते है, तब उनको नाम मात्र की, मजदूरी देने का प्रचलन है। इस हेतु उनसे कर जैसा कुछ लिया जा सकता है। ब्रिटिश प्रदेशो मे तो केवल सैनिक जत्थो की हेराफेरी के लिए गाडियॉ मगवाने की या नहरो का निर्माणकार्य अथवा मरम्मत के लिए सिचाई कानून के अन्तर्गत मजदूरो को बुलाने के स्वरूप मे ही यह प्रथा प्रचलन मे है। अधिकारियो के लिए तबू और सामान ढोने के लिए ही गाड़ियो का उपयोग ब्रिटिश राज मे किया जाता है।'[९७]

८ जुलाई १८३६ के दिन जबलपुर के कमिशनर ने ब्रिटिश अधिकारियो और सेना के वरिष्ठ अधिकारियो के व्यक्तिगत कार्यो के लिए बेगार पर मजदूर लाने के उदाहरण उत्तर पूर्व प्रदेश की सरकार के समक्ष प्रस्तुत किए है। इस वर्णन से लगता है कि यह प्रथा व्यवहार मे बहुत अधिक प्रचलित थी। इसलिए उसका वर्णन यहॉ विस्तार से देना उचित होगा। कमिशनर का विवरण सूचित करता है,

''मुझे सूचित करते हुए दु ख होता है कि ब्रिटिश अधिकारियो का व्यवहार भी उतना ही (देशी लोगो के जितना ही) खराब था। इस पर भी एक अनिष्ट बहुत व्यापक था। एक अग्रेज को अपने आवास मे जो कुछ चाहिए - भेड़, मुर्गी, मजदूर, निर्माण कार्य का सामान आदि, उसके लिए पुलिस और राजस्व अधिकारी को आदेश देकर मगवा लिया जाता था। उसका परिणाम यह होता था कि उचित से बहुत कम कीमत चुकाई जाती थी। सागर मे तो मैंने देखा कि अग्रेज लोगो को गॉव के बाजार से जो कुछ चाहिए,

वह लाने के लिए कोतवाली मे एक जमादार और चार बरकदाजो को तैनात किया गया था। जहॉ जहॉ मैने इस प्रथा को रोकने का आग्रह किया, वहॉ मुझे कहा गया कि बिना पुलिस की सहायता के किसी भी अग्रेज को बाजार से कोई भी वस्तु नहीं मिल सकती है। यह प्रथा इतनी लज्जास्पद बन गई थी कि गरीब लोग भी अपनी वस्तुओ को अग्रेजो को बेचने के लिए तैयार नहीं थे, क्योकि उनको भय लगता था कि उसकी कीमत बहुत कम मिलेगी।''[९८]

विशिष्ट सैनिक अधिकारो के विषय मे उसने कहा,

''जॉच के बाद मुझे यह मानने के लिए पर्याप्त कारण मिलते है कि बैतूल से मिरजापुर जाते हुए प्रत्येक पडाव मे कर्नल कोस्टलीने ४० से ५० लोगो को अपना निजी मालसामान ढोने के लिए रोका था और एक बार भी उन्हे उचित दाम नहीं चुकाए थे। उनमे कुछ लोगो को तो कुछ भी नहीं मिला था। कर्नल कोस्टली के विषय मे लोगो मे ये जो बाते होती है, वे सच है ऐसा मेरा विश्वास है, क्योकि उसी समय सेना के दूसरे अधिकारियो के जत्थो की कूच भी हो रही थी, और उनके विषय मे ऐसी कोई शिकायत नहीं आई थी। १८ वीं रेजिमेन्ट ने बैतूल जिले मे शापुर से केसुला तक कूच की थी, और दो पड़ाव डाले थे। एक पडाव मे ३० व्यक्तियो को बेगार के लिए लाया गया था, उनको सामान ढोने के बाद रात्रि मे पहरा देने के लिए भी रखा गया था, क्योकि जहॉ पडाव था, वह स्थान निर्जन था और वहॉ पहरा देने के लिए दूसरे लाग उपलब्ध नहीं थे। दूसरे दिन फिर से उनको सामान ढोने के लिए कहा गया और केसुला पहुॅचने के बाद उनको मुक्त कर दिया गया। उनमे कुछ को तीन पैसे दिए गए, कुछ को दो आना (८ पैसे)। बेल्ये से ५० व्यक्तियो को बेगार के लिए रोका गया था। कुछ को ३ पैसे तो कुछ को ४ पैसे चुकाए गए थे और कुछ को कुछ भी नहीं दिया गया।

''उपरोक्त कथन के अनुसार कुछ ही लोगो को राजस्व अधिकारी एकत्रित कर सका, और उनसे प्रमाण प्राप्त कर सका। पुलिस और राजस्व अधिकारियो की जब पूछताछ की गई, तब उन्होने अपने बचाव मे कहा कि यह प्रथा तो बहुत सामान्य है और वे स्वय उसे रोकने का साहस नहीं कर सकते है। उनमे से एक, जबलपुर के नायब पेशकारने कहा कि मैने जब बेगारियो को बहुत कम बेगारी दी जाती है ऐसी शिकायत की, तब कर्नल कोस्टली ने व्यग्यपूर्ण ढग मे कहा कि राजस्व अधिकारी चाहे तो पूरी बेगारी चुका दे, सैनिक अधिकारियो के लिए यह सम्भव नहीं है। इसके उपरात इस बात का भी निर्णय कर लिया गया है कि मिट्टी के घड़े, घास, जलाने की लकड़ी, मुर्गी, बतख, अडे, दूध, दही आदि तो बिना कीमत चुकाए प्राप्त किया जाए।[९९]

ब्रिटिश सेना ''देसी राज्यो'' से गुजरती थी, तब क्या होता था, उस विषय के भी इसी प्रकार के विवरण मिलते है। इस विषय मे भारत सरकार ने १८४३ मे लन्दन को लिखा,

''ब्रिटिश फौज जब देशी राज्यो से गुजरती है, तब लोगो को बेगारी के लिए बुलाया जाता है, ऐसी रैयत की ओर से जब अत्यधिक शिकायते आने लगी, तब इस प्रथा को बन्द करने हेतु प्रेसीडेन्ट ने अधिसूचना जारी की।[१००]

वर्तमान का एक उदाहरण ले। ब्रिटिश भारतीय सेना के सरसेनापति ने १८९१ मे विचार किया कि सेना की प्रतिष्ठा बढाने के लिए और सेना मे होनेवाली भर्ती बढाने के लिए सब से अच्छा कदम यह उठाया जाय कि सभी सैनिको को घर मे या बाहर, सभी पेन्शनरो को और पुन नौकरी मे जुडे लोगो को बेगार से मुक्ति दी जाय।[१०१] इस के विषय मे उसने आग्रहपूर्ण तर्क दिये। इस तर्क को लेकर भारत सरकारने यदा कदा विचार किया और बाद के बीस वर्ष मे सैनिको को पूर्ण रूप से नहीं, तो कुछ मात्रा मे बेगार से मुक्ति मिली। परन्तु सन् १९१० मे सैनिक विभाग ने सैनिको को बेगारी से पूर्ण रूप से मुक्ति देने का मुद्दा फिर से उठाया।[१०२] इस समय विशेष सन्दर्भ था कुमाऊँ और गढवाल के सैनिको का। वाइसरॉय की काउन्सिल मे इस विषय मे भिन्न भिन्न मत दर्शाए गए, और अन्त मे, यह पूरा मामला सयुक्त प्रान्त (वर्तमान उत्तर प्रदेश) की सरकार को विचार विमर्श हेतु दे दिया गया।

सयुक्त प्रान्त की सरकार ने इस विषय पर लम्बी चर्चा की। अन्त मे वह इस निष्कर्ष पर पहुची कि ऐसी मुक्ति नहीं दी जा सकती है, क्यो कि सन् १८२० से ही यह प्रथा चली आ रही है। सन् १८२० मे जब कुमाऊँ और गढवाल का शासन अग्रेजो के पास आया, तब हर जमीनदार के साथ इस प्रकार के लिखित करार हुए थे, कि चली आ रही प्रथा के अनुसार वे कुली और बरदास पूरी करने के लिए बाध्य है। इसलिए सयुक्त प्रान्त की सरकार सैनिको को बेगार से मुक्ति नहीं दे सकती है। १९ अक्टूबर, १९१० को भेजे गए लम्बे पत्र मे इस निष्कर्ष का बचाव करते हुए सरकार लिखती है,

'यदि इस प्रकार की मुक्ति दी जाती है, तो सैनिको के अतिरिक्त भी बहुत बडी सख्या मे लोग हैं, जिनके लिए ऐसा काम करनेवाले लोगो की आवश्यकता पड़ेगी। गढवाल जिले मे ऐसे गॉव है, जहॉ मात्र यात्रियो के पुरोहित ही रहते है। ये लोग हर वर्ष बेगारी से मुक्ति मिलने हेतु निश्चित किया गया कर चुकाते हैं। यदि सैनिको को बेगारी से मुक्त किया जाता है, तो इन लोगो को अधिक कर चुकाना पड़ेगा। इससे सैनिक अन्य गढ़वालियो का सद्भाव खो देंगे क्यो कि उसके मूल करार से जो बन्धन निर्माण

हुआ है, उस से तो पूर्ण मुक्ति मिलती ही नहीं है।[१०३]

फिर भी अलग अलग कानून, नियम, व्यवस्थाओ के द्वारा ब्रिटिश सरकार ने बेगार की जो प्रथा प्रारम्भ की थी, वह समग्र भारत मे १९१० तक कम होने लगी थी। इसके दो कारण थे। एक तो पूरी उन्नीसवीं शताब्दी मे मजदूरी करने वालो की सख्या मे अत्यधिक वृद्धि हुई थी, और दूसरा भारत मे रेल्वे प्रारम्भ हुई थी। फिर भी जहॉ जहॉ मजदूरी करने वालो की सख्या कम थी और रेल्वे नहीं जा सकती थी, ऐसे कुमाऊँ गढवाल जैसे क्षेत्रो मे यह प्रथा १९१० मे भी कायम थी, और उसको ठीक भी माना जाता था।

१०

यह बलात् मजदूरी अर्थात् वेठ और जबरन् मालसामान प्राप्त करने की प्रथा अर्वाचीन समय मे कब प्रारम्भ हुई और क्रमश बढती गई, इसकी चर्चा अब तक की गई है। परन्तु अन्य अनेक विषयो की तरह एक या दूसरे स्वरूप मे प्राचीन काल से वह चलती होगी यह सम्भव है। भारत मे ''कुरवी''के नाम से, यूरोप मे ''सर्फडम (serfdom)'' के नाम से प्राचीन काल से उन्नीसवीं शताब्दी तक यह प्रथा अस्तित्व मे रही है। बावरिया मे सातवे शतक मे किसानो को सप्ताह मे तीन दिन जमीनदार के लिए जबरन् मजदूरी करनी पड़ती थी,[१०४] अठारहवीं शताब्दी मे हगेरी मे वर्ष मे ५२ दिन[१०५] और १८३५ मे इग्लैण्ड मे बलात् मजदूरी से ही 'स्थानिक रास्तो का निर्माण किया जाता था'।[१०६]

भारत मे भी प्राचीन या अर्वाचीन काल मे विभिन्न प्रदेशो मे बलात् मजदूरी की प्रथा ''कुरवी'' के नाम से प्रचलित होने की सम्भावना है। अनेक बार कहा जाता है कि विश्व प्रसिद्ध ताजमहल की इमारत इस प्रकार की बेगार से ही बनी है। इसमे कुछ भी तथ्य है, तो भी इस प्रथा का मूल कहा है, भारत मे कितनी मात्रा मे यह प्रचलित है, आदि विषय मे बहुत गहरे अनुसन्धान की आवश्यकता है। केवल कहीं कहीं कुछ लिखा हुआ मिल जाता है, उससे ही इस प्रकार के गभीर विषयो के बारे मे निर्णयात्मक रूप से कुछ कहना उचित नहीं है। अथवा यूरोप मे यह प्रथा थी, इसलिए यहॉ भी होनी ही चाहिए, यह भी नहीं माना जा सकता है। इस के लिए अधिक ठोस जानकारी की आवश्यकता है।

इस प्रकार की कोई ठोस जानकारी पूर्व के समय की तो उपलब्ध नहीं है। यहॉ तो ब्रिटिश शासन में जो प्रथा प्रचलन मे थी, उसीका वर्णन किया गया है। साथ ही यह

भी दर्ज करना चाहिए कि ब्रिटिश शासन मे जो प्रथा अपनाई गई थी, वह शायद इससे पूर्व भी रही होगी, ऐसा अनुमान हम करते है, तो यह प्रथा व्यवहार मे आते ही यहॉ के लोग अत्यन्त आश्चर्य चकित हो गए और भयभीत हो गए थे, यह भी उतना ही सत्य है।

भारत के कुछ भाग मे अथवा समग्र भारत मे गॉव के लोग यात्रियो का सम्मान करते थे। यह सम्मान केवल सेवाभाव से होता था। उसका कोई मूल्य नहीं लिया जाता था। परन्तु यह सब जबरन् थोपा नहीं जाता था। परन्तु १८८१ मे जब ब्रिटिशरो ने आसाम मे बलात् मजदूरी की प्रथा प्रारम्भ की, तब वहॉ यात्रियो की मेहमानदारी के लिए राजस्व की आय से ही कुछ राशि देने की व्यवस्था पहले से ही थी।[१०७] ब्रिटिशरो ने इस आर्थिक व्यवस्था को बन्द कर दिया। सेवाभाव और स्वेच्छा के स्थान पर जबरन् मजदूरी करवाना प्रारम्भ किया। और ब्रिटिशरो की सैनिक या मुल्की आवश्यकता इतनी अधिक थी कि ऐसी बलात् मजदूरी का कोई अन्त ही नहीं था। वस्तुत उनका व्यवहार इतना कठोर और निर्दय था कि पूरी उन्नीसवीं शताब्दी मे उसके कारण भय और आतक का साम्राज्य व्याप्त था। पर्याप्त लम्बे समय तक यह प्रथा अस्तित्व मे रही। उसको शासन का समर्थन भी मिला, कानून और प्रशासन भी उसके ऊपर मान्यता की मुहर लगाते रहे। परिणाम यह हुआ कि जब इस प्रकार के कानून निरस्त हो गए और बेगार पर प्रतिबध लग गया, तब भी ''उच्च'' वर्ग की मानसिकता तो वैसी बनी रही। अत आज भी हरिजन, आदिवासी इत्यादि के शोषण के रूप मे, उनके साथ कठोर व्यवहार के रूप मे यह प्रथा अपना अस्तित्व सूचित करती है। इस प्रथा को कानून का नहीं, परन्तु परम्परा का समर्थन प्राप्त होता रहता है।

दूसरे एक पहलू की ओर भी हमारा ध्यान आकर्षित होने की आवश्यकता है। वह है बहुत ऊँचा व्याज दर। ब्रिटिश शासन मे दुर्बल वर्गो से और नवाब तथा राजाओ से भी ऊँचे दर पर व्याज वसूल किया जाता था। यदि राजा या नवाब ऐसे ऊँचे दर देने से इनकार करते थे, तो उनकी राजधानी के नगर अथवा राज्य मे आतक फैलाने की धमकी दी जाती थी। इस मुसीबत से राज्य को बचाने के लिए तजावुर के राजा जैसे व्याज का ऊँचा दर चुकाने के लिए कबूल हो जाते थे, ब्रिटिश फौज को रखना मान्य करते थे और इस प्रकार ब्रिटिश सत्ता के अधीन हो जाते थे।[१०८]

निम्न स्तर मे जुलाहे, किसान और अन्य कारीगरो के साथ भी ऐसा ही व्यवहार होता था। भारत का नैतिक स्तर इस प्रकार का था कि एक बार किसी भी कारण से कर्ज लिया है, तो उसको किसी भी स्थिति मे वापस चुकाना ही चाहिए, परन्तु ब्रिटिशरो के इस व्यवहार के कारण इस नैतिक मूल्य को बहुत हानि हुई। ब्रिटिशर किसी न किसी

बहाने जुलाहो को कुछ राशि देते थे, (बहुत ऊँचा व्याज लेते थे) परिणाम स्वरूप उनकी आवश्यकता के अनुसार कपड़ा बुनना जुलाहे अपना कर्तव्य मानते थे। परन्तु इससे जुलाहो का व्यवसाय ही नष्ट हो जाता था।[१०९] अठारहवीं शताब्दीं मे अग्रेजो की यह चालाकी क्रमश बढती ही गई। इस सम्बन्ध के उदाहरण इतने प्रसिद्ध है कि उसके अस्तित्व का प्रमाण देने की कोई आवश्यकता नहीं है।

११

यह, और इस प्रकार की कार्रवाइयो के परिणाम स्वरूप भारतीय समाज छिन्न - विच्छिन्न हो गया, लोगो की आत्मगौरव की भावना नष्ट हो गई, भारत के मूल्य और स्तर गिर गये और अन्त मे समाज दीन, हीन और मानसिक रूप से पराधीन हो गया। आगे भारत मे असस्कारिता बढती गई, हिसा बढती गई और अग्रेजो ने कमजोर और शक्तिशाली वर्गो मे व्यवस्थागत सघर्ष पैदा कर दिया। इस दीन हीन अवस्था ने आर्थिक सकट तो पैदा कर ही दिया, परन्तु सास्कृतिक दरिद्रता भी उतनी ही बढ गई। परिणाम स्वरूप भारतीय समाज का सन्तुलन बिल्कुल बिगड़ गया। इस विषय मे विज्ञान का अग्रणी इतिहासकार स्व ज्योर्ज सार्टन कहता है, 'पश्चिम के राष्ट्रो ने उनके पूर्व के बाधवो *को गुलाम बनाने का और उनका शोषण करने का ही काम नहीं किया*, उससे भी बहुत अधिक नुकसान किया है। वे पूर्व के आध्यात्मिक महत्त्व को समझ नहीं सके, इसलिए उस परम्परा से उनको वचित कर देने के प्रयास उन्होने किए। उनकी भौतिक सम्पत्ति को ही जीत लेने से उनको सन्तोष नहीं हुआ, तो वे उनकी आत्मा को जीत लेना चाहते थे। आज हम उनके लोभ और मूर्खता का मूल्य चुका रहे है।[११०]

इस प्रकार कई पीढियो तक भयानक लूट चली। शारीरिक तौर पर कुछ दुर्बल माने जाने वाले समाज की यह लूट थी। आज भारतीय समाज के प्रत्येक पहलू में जो दूषितता दिखाई दे रही है, वह उसी का परिणाम है। समाज के एक समय के प्रतिष्ठाप्राप्त वर्ग को आज शिक्षा, निवास, स्वच्छता, सार्वजनिक उत्सव और मनोरजन से वचित रहना पड़ता है। इस स्थिति मे उनकी कुशलता और मौलिक क्षमताओ का ह्रास होना स्वाभाविक है। उनके व्यवसायो की प्रतिष्ठा नष्ट हो गई। उनका मूल्य केवल आर्थिक सदर्भ तक सीमित रहा। राजनीति मे उनका योगदान लगभग नि शेष हो गया। वर्णाश्रम व्यवस्था और वर्णो के वशानुक्रम के कारण नहीं, अपितु व्यवसायो की अप्रतिष्ठा के कारण आज की पिछड़ी जाति, अनुसूचित जाति और जनजाति की व्यवस्था का जन्म हुआ है और उनकी प्रतिष्ठा की हानि हुई है। आज ये पिछडी जातियॉ विगत डेढ

सौ, दो सौ वर्षो मे हुए नुकसान को, अपनी प्रतिष्ठा की खाई को पाटने के प्रयास करती है। उनके प्रयासो मे आपत्तिजनक लगने वाली बाते होने पर भी उनकी यह प्रवृत्ति समझ मे आती है। क्योकि राजकीय दृष्टि से हम स्वतन्त्र हुए, उसके बाद गाधीजी को छोड अन्य किसी ने भी उनकी प्रतिष्ठा लौटाने का, उनके व्यवसायो को सम्मानजनक और उपयोगी बनाने का, और उनका मनुष्य के रूप मे स्वीकार करने का प्रयास नहीं किया है।

इस समय विवादास्पद मानी जाने वाली बधुआ मजदूरो की प्रथा बहुत भयावह लगती है, परन्तु दो सौ वर्षो मे जो मानहानि हुई है, उसका वह एक कुरूप प्रतीक मात्र है। वैसे तो जरुरतमद व्यक्ति किसी से ऋण लेता है, और बदले मे स्वय बधक होकर, मजदूरी करके ऋण चुकाने का प्रयास करता है तो वह अवमानना की स्थिति होते हुए भी तत्काल आवश्यकता उपस्थित होने पर लगभग सम्पूर्ण विश्व मे प्रचलित प्रथा है। परन्तु इस अवमानना की स्थिति मे फॅसे लोगो को वशानुगत बन्धक ही मानना और उनके साथ वैसा ही व्यवहार करना तो दूषित समाज मे ही सम्भव होने वाली बात है। दो सौ वर्षो मे भारत की सामाजिक स्थिति इतनी दूषित हो गई है कि इस प्रकार का सम्भव है और स्वाभाविक भी है।

कुछ पीढ़ियो पूर्व मजदूरी की इस प्रकार की व्यवस्था अस्तित्व मे नहीं थी, ऐसा नहीं है, परन्तु नीचे दिए गए १८४० के कोकण के ठेकेदारी के मजदूर के बानाखत से मालूम होता है कि उसमे आपत्तिजनक कुछ भी नहीं था। एक करार इस प्रकार है,

'चाकरी खत (नौकरी पत्र) शक १७६४, फाल्गुन शुक्ल पक्ष २'

ऋण देने वाले का नाम मलारा का अलादीन मीर खाजिया, ऋण लेनेवाले का नाम मलाकस का फकीर वालाद शेख दौसद। मैने (कर्जदार) तुमसे (देनदारसे) मेरे विवाह हेतु ६१ सुरती रूपये उधार लिए हैं। अत प्रतिमास ४ रूपये १ आना के हिसाब से पन्द्रह महीने तक तुम्हारे नौकर के रूप मे रहना कबूल करता हूॅ। मै रात और दिन तुम्हारी नौकरी करूँगा। मैं नौकरी छोड़ देता हू, तो नौकरी से प्राप्त राशि घटाकर शेष राशि व्याज के साथ भरुॅगा। उक्त स्थान के वाला वालुद ओर बाला भावे इसके जामीन रहेगे। यदि मै राशि लौटाने मे चूक करुॅगा, तो वे मुद्दल और व्याज भरने के लिए कबूल होते हैं। व्याज सहित मुद्दल की रकम से, मेरे द्वारा की गई नौकरी की राशि कम की जाएगी। यह करार पत्र हम दोनो को बधनकर्ता रहेगा। हम यह करार अपनी स्वेच्छा से करते है।[१११]

दूसरा भी एक पत्र, थोड़े परिवर्तन के साथ, इस प्रकार है,

'चाकरी खत, शक १७६४, शुभकृत, माध शुक्ल पक्ष ७'

ऋण देनेवाले (वस्तु रखकर पैसे देने वाले) का नाम रणछोड़ गोविदजी पटेल। रहवासी मलार। कर्जदार का नाम धरमा बिन माधो नावील, रहवासी मलार। मैने (कर्जदारने) तुमसे (देनदार से) सुरती चलन के ५१ रूपए मेरे विवाह हेतु लिऐ हैं। प्रति वर्ष दस रूपये के हिसाब से मै पॉच वर्ष तक तुम्हारी चाकरी करने के लिए बधा हूॅ। जब तक राशि भरपाई नहीं होती, तब तक रात दिन मैं चाकरी करूगा। तव तक रीति के अनुसार तुम्हे मुझे अन्न वस्त्र देना है। जामीन के रूप मे मै इसी गाव के पोथुराव बिन केशव रावल, मधो बिन हाजी रावल और गुणो बिन मनु रावल को नियुक्त करता हूँ। ये तीनो सामूहिक या अलग अलग इस बात की जिम्मेदारी लेते है कि मै धर्मा यदि चाकरी खत के अनुसार व्यवहार नहीं करता हू, तो वे इन शर्तो का पालन करेगे और वे भी शर्तो का पालन नहीं करते हैं, तो मेरे द्वारा की गई चाकरी को रद मानकर, मेरे द्वारा ली गई रकम व्याज के साथ लौटाने के लिए मैं बधा हूॅ। मुझे ५१ रूपए नकद मिले है। हम इस खत को साथ मिल कर और हमारी इच्छा से लिखते हैं।[११२]

१२

ऐसा कहा जाता है, कि भारत मे और भी एक प्रथा प्रचलन मे थी। वह थी 'कृषक गुलामी'। यह शब्द यूरोप के 'सर्फडम'(Serfdom) शब्द से बना है। परन्तु अठारहवीं शताब्दी मे जब भारत मे जमीन की मालिकी, अधिकार इत्यादि की और निरकुश बिक्री और नीलाम की नई सकल्पनाऍ पविष्ट हुई, तब यह 'कृषक गुलामी' की प्रथा भी लागू की गई। पूर्व मे बताया गया है, तदनुसार भारत मे खेतमजदूरो की प्रथा अलग थी, उसकी सगठनात्मक रचना अलग थी। उस रचना के अनुसार जमीन जोतनेवाले को वशानुगत अधिकार प्राप्त थे, परन्तु वे अधिकार किसानो की जाति की मान्यता के अधीन थे। उसको जोतने के लिए वश परपरा से अधिकार होते हुए भी, उसको बेचना या बदलना किसान अपनी मर्जी से नहीं कर सकते थे। कभी कभी तो उनकी जाति से भी अधिक वे पूरे गॉव की मान्यता के अधीन थे। जब ब्रिटिशरो ने उनकी नई सकल्पनाऍ लागू की, तब किसानो के अधिकारो मे परिवर्तन होते हुए भी, जिस गॉव मे वे और उनके पूर्वज हजारो नहीं, तो सैकडो वर्षो से रहते थे, उस गॉव को छोडने की वे कल्पना तक नहीं कर सकते थे। परन्तु ब्रिटिश मानस को तो नियम के अनुसार मालिकी का अधिकार बदलने के बाद भी, उस जमीन पर उनका रहना, यूरोपीय सर्फडम (Serfdom) जैसा ही लगता था। उसको उन्होने 'कृषक गुलामी' का

नाम दिया था।[११३]

इस प्रकार खेती करनेवाली अधिकाश प्रजा को 'कृषक गुलामो' की जमात मे रख दिया गया। बाद मे ब्रिटिशरो ने विशेष रूप से मलबार क्षेत्र मे 'गैर कृषक गुलामी' की प्रथा के विषय मे भी लिखना प्रारम्भ किया। उसकी पूरी सम्भावना है कि ब्रिटिशो के आने से पूर्व भी पूरे भारत मे अथवा भारत के कुछ भाग मे इस प्रकार की गुलामी अस्तित्व मे थी।[११४] परन्तु सम्भावना इस बात की अधिक है कि इस प्रकार की गुलामी की प्रथा अधिक प्राचीन नहीं होकर सन् १५०० के बाद भारत के पश्चिम समुद्री किनारे के क्षेत्रो के यूरोपीय लोगो के सम्पर्क मे आने के बाद अस्तित्व मे आई हो। यह तो बहुत प्रसिद्ध बात है कि सोलहवीं शताब्दी मे दक्षिण और मध्य आफ्रिका से लोगो को पकडने का, उन्हे गुलाम बनाने का और गुलाम के रूप मे बेचने का व्यवसाय यूरोपीय लोगो के लिए बहुत लाभ देने वाला व्यवसाय बन गया था। ऐसे अनेक गुलामो को भारत मे भी लाया जाता था। जिस प्रकार अन्य अनेक मूल यूरोपीय प्रथाएँ और चीजवस्तुएँ भारत मे लागू की गई थीं, उसी प्रकार से गुलामी की प्रथा भी यूरोप से भारत मे आयात हुई हो, इसमे कोई नवीनता नहीं है। इसका अर्थ यह नहीं है कि अग्रेजो के आगमन से पूर्व भारत मे कभी किसी प्रकार की गुलामी अस्तित्व मे नहीं थी।[११५] सन् १२०० के बाद भारत के मुसलमान शासक आफ्रिका के लोगो को गुलाम बना कर भारत के अलग अलग क्षेत्रो मे लाने लगे। यहाँ, इतना ही सूचित करने का प्रयोजन है कि ब्रिटिशर जिसको 'कृषक गुलामी' कहते थे और भारत मे अत्र तत्र जो गुलामी की प्रथा थी, उस विषय मे गहन शोध की आवश्यकता है।

फिर भी, ब्रिटिश भारत मे आए, उससे पूर्व समाज के कमजोर और शक्तिशाली वर्गो के, या व्यक्ति और समाज के अथवा अन्यान्य समाजो के जिस प्रकार के भी सम्बन्ध रहे हो, तब भी एक बात नि शक रूप मे सच है कि ब्रिटिशरो के आने के बाद राजकीय अधीनता के परिणामस्वरूप ये सबध पूर्णरूप से दूषित हो गए। ब्रिटिश शासन मे समाजरचना की नई सकल्पनाएँ और पद्धतियाँ अत्याचारपूर्वक लागू की गई थीं। भारतीय जीवन पर उसका बहुत ही घातक और छिन्नविच्छिन्न कर देनेवाला प्रभाव हुआ। विभिन्न वर्णो मे किसी प्रकार का सघर्ष अथवा ऊँचनीच का भेदभाव पूर्व मे भी रहा होगा, फिर भी आज जो बर्वरता और शोषण दिखाई देते है, वह ब्रिटिश भले ही कहे कि बहुत वर्षो से है, तब भी प्रमुख रूप से इन दो सौ वर्षो के अग्रेजी शासन की ही देन हे। यह सही है कि सन् १९४७ के बाद भारतीय शासन ने विचारहीनतापूर्वक अग्रेजो की ही व्यवस्थाएँ, रचनाएँ और सकल्पनाएँ आगे चला रखी हैं। उसके परिणाम स्वरूप यह

'चाकरी खत, शक १७६४, शुभकृत, माध शुक्ल पक्ष ७'

ऋण देनेवाले (वस्तु रखकर पैसे देने वाले) का नाम रणछोड गोविदजी पटेल। रहवासी मलार। कर्जदार का नाम धरमा बिन माधो नावील, रहवासी मलार। मैंने (कर्जदारने) तुमसे (देनदार से) सुरती चलन के ५१ रूपए मेरे विवाह हेतु लिऐ हैं। प्रति वर्ष दस रूपये के हिसाब से मे पॉच वर्ष तक तुम्हारी चाकरी करने के लिए वधा हूॅ। जब तक राशि भरपाई नहीं होती, तब तक रात दिन मै चाकरी करूगा। तब तक रीति के अनुसार तुम्हे मुझे अन्न वस्त्र देना है। जामीन के रूप मे मैं इसी गाव के पोथुराव बिन केशव रावल, मधो बिन हाजी रावल और गुणो बिन मनु रावल को नियुक्त करता हूॅ। ये तीनो सामूहिक या अलग अलग इस बात की जिम्मेदारी लेते हैं कि मे धर्मा यदि चाकरी खत के अनुसार व्यवहार नहीं करता हू, तो वे इन शर्तो का पालन करेगे और वे भी शर्तो का पालन नहीं करते है, तो मेरे द्वारा की गई चाकरी को रद मानकर, मेरे द्वारा ली गई रकम व्याज के साथ लौटाने के लिए मै बधा हूॅ। मुझे ५१ रूपए नकद मिले हैं। हम इस खत को साथ मिल कर और हमारी इच्छा से लिखते हैं।[११२]

१२

ऐसा कहा जाता है, कि भारत मे और भी एक प्रथा प्रचलन मे थी। वह थी 'कृषक गुलामी'। यह शब्द यूरोप के 'सर्फडम'(Serfdom) शब्द से बना है। परन्तु अठारहवीं शताब्दी मे जब भारत मे जमीन की मालिकी, अधिकार इत्यादि की और निरकुश बिक्री और नीलाम की नई सकल्पनाऍ प्रविष्ट हुई, तब यह 'कृषक गुलामी' की प्रथा भी लागू की गई। पूर्व मे बताया गया है, तदनुसार भारत मे खेतमजदूरो की प्रथा अलग थी, उसकी सगठनात्मक रचना अलग थी। उस रचना के अनुसार जमीन जोतनेवाले को वशानुगत अधिकार प्राप्त थे, परन्तु वे अधिकार किसानो की जाति की मान्यता के अधीन थे। उसको जोतने के लिए वश परपरा से अधिकार होते हुए भी, उसको बेचना या बदलना किसान अपनी मर्जी से नहीं कर सकते थे। कभी कभी तो उनकी जाति से भी अधिक वे पूरे गॉव की मान्यता के अधीन थे। जब ब्रिटिशरो ने उनकी नई सकल्पनाऍ लागू की, तब किसानो के अधिकारो मे परिवर्तन होते हुए भी, जिस गॉव में वे और उनके पूर्वज हजारो नहीं, तो सैकडो वर्षो से रहते थे, उस गॉव को छोडने की वे कल्पना तक नहीं कर सकते थे। परन्तु ब्रिटिश मानस को तो नियम के अनुसार मालिकी का अधिकार बदलने के बाद भी, उस जमीन पर उनका रहना, यूरोपीय सर्फडम (Serfdom) जैसा ही लगता था। उसको उन्होने 'कृषक गुलामी' का

नाम दिया था।[११३]

इस प्रकार खेती करनेवाली अधिकाश प्रजा को 'कृषक गुलामो' की जमात मे रख दिया गया। बाद मे ब्रिटिशरो ने विशेष रूप से मलबार क्षेत्र मे 'गैर कृषक गुलामी' की प्रथा के विषय मे भी लिखना प्रारम्भ किया। उसकी पूरी सम्भावना है कि ब्रिटिशो के आने से पूर्व भी पूरे भारत मे अथवा भारत के कुछ भाग मे इस प्रकार की गुलामी अस्तित्व मे थी।[११४] परन्तु सम्भावना इस बात की अधिक है कि इस प्रकार की गुलामी की प्रथा अधिक प्राचीन नहीं होकर सन् १५०० के बाद भारत के पश्चिम समुद्री किनारे के क्षेत्रो के यूरोपीय लोगो के सम्पर्क मे आने के बाद अस्तित्व मे आई हो। यह तो बहुत प्रसिद्ध बात है कि सोलहवीं शताब्दी मे दक्षिण और मध्य आफ्रिका से लोगो को पकडने का, उन्हे गुलाम बनाने का और गुलाम के रूप मे बेचने का व्यवसाय यूरोपीय लोगो के लिए बहुत लाभ देने वाला व्यवसाय बन गया था। ऐसे अनेक गुलामो को भारत मे भी लाया जाता था। जिस प्रकार अन्य अनेक मूल यूरोपीय प्रथाएँ और चीजवस्तुएँ भारत मे लागू की गई थीं, उसी प्रकार से गुलामी की प्रथा भी यूरोप से भारत मे आयात हुई हो, इसमे कोई नवीनता नहीं है। इसका अर्थ यह नहीं है कि अग्रेजो के आगमन से पूर्व भारत मे कभी किसी प्रकार की गुलामी अस्तित्व मे नहीं थी।[११५] सन् १२०० के बाद भारत के मुसलमान शासक आफ्रिका के लोगो को गुलाम बना कर भारत के अलग अलग क्षेत्रो मे लाने लगे। यहॉ, इतना ही सूचित करने का प्रयोजन है कि ब्रिटिशर जिसको 'कृषक गुलामी' कहते थे और भारत मे अत्र तत्र जो गुलामी की प्रथा थी, उस विषय मे गहन शोध की आवश्यकता है।

फिर भी, ब्रिटिश भारत मे आए, उससे पूर्व समाज के कमजोर और शक्तिशाली वर्गो के, या व्यक्ति और समाज के अथवा अन्यान्य समाजो के जिस प्रकार के भी सम्बन्ध रहे हो, तब भी एक बात नि शक रूप मे सच है कि ब्रिटिशरो के आने के बाद राजकीय अधीनता के परिणामस्वरूप ये सबध पूर्णरूप से दूषित हो गए। ब्रिटिश शासन मे समाजरचना की नई सकल्पनाएँ और पद्धतियॉ अत्याचारपूर्वक लागू की गई थीं। भारतीय जीवन पर उसका बहुत ही घातक और छिन्नविच्छिन्न कर देनेवाला प्रभाव हुआ। विभिन्न वर्णो मे किसी प्रकार का सघर्ष अथवा ऊँचनीच का भेदभाव पूर्व मे भी रहा होगा, फिर भी आज जो बर्बरता और शोषण दिखाई देते है, वह ब्रिटिश भले ही कहे कि बहुत वर्षो से है, तब भी प्रमुख रूप से इन दो सौ वर्षो के अग्रेजी शासन की ही देन है। यह सही है कि सन् १९४७ के बाद भारतीय शासन ने विचारहीनतापूर्वक अग्रेजो की ही व्यवस्थाएँ, रचनाएँ और सकल्पनाएँ आगे चला रखी है। उसके परिणाम स्वरूप यह

सघर्ष, तथा कथित निम्न वर्ग के शोषण ओर उसके बर्बर स्वरूप मे वृद्धि ही हुई है।

इसलिए, हमे समझना ही चाहिए कि दीन, दु,खी ओर वचित लोगो की सहायता अवश्य करनी चाहिए, परन्तु वह मात्र तत्काल निर्माण की गई व्यवस्था के स्वरूप की ही हो सकती है। वह कोई स्थायी उपाय नहीं है। आज की वधुआ मजदूरो की प्रथा भारत के लोगो को गरीब, दया और दान के पात्र तथा विकास के योग्य मानने का विचार, ये सरलता से सुलझनेवाले प्रश्न नहीं है, तत्काल उपायो से इनका हल निकलनेवाला नहीं है, जब तक उनके मूल मे रहनेवाले विचार, ख्याल और सकल्पनाओ को समझेगे नहीं, तब तक भारत मे निश्चित रूप से कुछ भी उल्लेखनीय परिवर्तन नहीं हो सकते हैं। क्योकि यह वर्गसघर्ष अथवा कमजोरो के प्रति कठोर, क्रूर और अत्याचारी बनने का विचार मात्र ग्रामीण क्षेत्र मे ही नहीं है, नगरीय क्षेत्र मे तो यह अधिक है और महानगरो मे तो यह अत्यत भयकर स्वरूप मे है, क्योकि अत्याचार के साथ-साथ वहाँ अपेक्षा और सम्बन्ध का बिलकुल अभाव भी है। भारत की सही समस्या तो है शिक्षित, प्रबुद्ध और शक्तिशाली वर्ग और ससाधन रहित फिर भी परिश्रमी ऐसे विशाल वर्ग के बीच पड़ी हुई गहरी खाई। एक वर्ग ने तो जीवन के सभी क्षेत्रो मे विदेशी व्यवस्थाएँ प्रस्थापित कर दी हैं, यहाँ तक कि उनके शौचालय भी विदेशी हैं, जब कि दूसरा वर्ग ससाधनरहित परन्तु परिश्रमी है, परन्तु ये नई व्यवस्थाएँ उसके लिए भी एक न सुलझायी जा सके ऐसी पहेली है, जिसका उनको भय लगता है। शहर के शिक्षित व्यक्ति के द्वारा बनाई गई पगडडी पर गाँव का शिक्षित व्यक्ति चलने का प्रयास कर रहा है। इस मूलभूत प्रश्न को हम समझे, उस ओर ध्यान दे, तभी कुछ व्यावहारिक उपाय मिलेगा, और लगभग २६ लाख जितने बधुआ मजदूरो के प्रश्न के साथ साथ अनेक प्रकार की समस्याओ से हम मुक्त होगे।

सन्दर्भ

१ एडम स्मिथ (वेल्थ ऑव् नेशन्स् , १८६५, पृ १२७, ६४७, ७८८)। भारत में खेतमजदूरों की मजदूरी का प्रतिशत अधिक था और किसान के द्वारा दिया जाने वाला भू राजस्व कुल पैदावार के बीस प्रतिशत से अधिक नहीं था। ब्रिटिश हुकूमत से पूर्व स्थिति ऐसी थी। ब्रिटिशरो ने इस भू राजस्व को बढाकर पचास प्रतिशत कर दिया। प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से मजदूरी कम करने के प्रयासो के बाद भी सन् १८०० के आसपास भारत के खेतमजदूरों की मजदूरी उस समय के इग्लैंड के मजदूर से अधिक ही थी। (एडिन बरो रिव्यू, १८०३) ब्रिटिश चित्रकार विलियम होजीस के यात्रा वर्णन में सन् १७८० के समय के भारत के वाराणसी-बिहार क्षेत्र के ग्रामीण जीवन का वर्णन परिशिष्ट 'क' में दिया गया है।

२ इस प्रकार के विचारो की अभिव्यक्ति ब्रिटिश हाउस ऑव् कोमन्स मे सन् १८९३ के जून २२ और जुलाई १ को दिए गए भाषणो मे देखी जा सकती है। ये भाषण 'हेन्सार्ड' (Hansard) में प्रकाशित हुए हैं। जिस पर यह चर्चा हुई थी, उस चार्टर बिल की धारा १३ इस प्रकार थी। 'इस समिति का मत है कि ब्रिटिश आधिपत्यवाले भारत के देशी निवासियो के सुख और कल्याण की चिन्ता करना इस देश का कर्तव्य है। इन मे धार्मिक और नैतिक सुधार हो, उन्हे कुछ उपयोगी ज्ञान प्राप्त हो इस हेतु उपाय होने चाहिए। ऐसे श्रेष्ठ उद्देश्य के साथ कोई भी व्यक्ति भारत जाना और वहा रहना चाहे, तो उसे कानूनी सुविधाए मिलनी चाहिए।'

इससे पूर्व की धारा १२ कहती है,

'इस समिति का मत है कि इस्ट इन्डीज के ब्रिटिश प्रदेशों में स्थापित किए गए चर्च को एक बिशप और तीन सहायको के अधिकार मे रखा जाए और भारत से प्राप्त होनेवाले राजस्व की आय से इनका खर्च चलाया जाए।'

ब्रिटिश हाउस ऑव् कोमन्स मे १८१३ मे हुई इस लम्बी चर्चा के और टोमस बेबिग्टन मेकाले और जेम्स मिल के भाषण और लेख इसी लेखक के 'भारत की बदनामी और लूट' (Despoliation and defaming of India, The Early Nineteenth Century British Crusade) में दिए गए हैं। (पुनरुत्थान, २००७)

३ जानकारी के लिए देखिए इसी लेखक का 'रमणीय वृक्ष अठाहरवीं शताब्दी मे भारतीय शिक्षा' (पुनरुत्थान २००७)

४ देखिए अन्यों के साथ आर्थर स्टील 'मुबई प्रेसिडेन्सी के दिवानी मुकद्दमे में प्रयुक्त दक्षिण के प्रदेश के हिन्दू कानून और रीतिरिवाज, (The Law and custom of Hindoo castes within The Dekkan Provinces subject to The Presidency of Bombay Chiefly effecting civil suits) मुबई, १८२७

५ एफ पेलसार्ट जहाँगीर का भारत (Jehagir's India), भाषान्तर और सम्पादन डबल्यु एच मोरलेन्ड, १८२५ पृ ६०

६ नेशनल लाइब्ररी ऑव स्कॉटलेंड एम एस ८३२६ जेम्स स्टुअर्ट के कागज हैदराबाद के जीवन का वर्णन (A Description of Life in Hyderabad) एलेक्स रीड, नवम्बर १७७९

७ ब्रिटिश म्यूजियम वेलेस्ली के कागज मैसूर कमिशन के कागज (Papers of The Mysore commission) १७९९

८ आई ओ आर राजपूताना ड्राफ्ट्स एन्ड, प्री कोम (Rajpootana Drafts and Pre Com) १८२९-३०, राजकीय और विदेशी (वापिस लिये हुए) पृ ७८, १८१/ एम

८ ब्रिटिश म्यूजियम वेलेस्ली के कागज मैसूर कमिशन के कागज , १७९९

१० एडम स्मिथ दि वेल्थ ऑव नेशन्स (The wealth of Nations) मोडर्न लाइब्रेरी न्यूयोर्क, १९६५ पृ ७४

११ सन् १५०० से १८०० तक के अमेरिका और ऑस्ट्रेलिया के मूल निवासी समाप्त हो गए, इस विषय की सामग्री विपुल मात्रा मे उपलब्ध है। १९६६ का विद्वत्तापूर्ण अध्ययन दर्शाता है कि सन् १५०० में अमेरिका के मूल निवासियो की सख्या लगभग ८० से ११२ मिलियन अर्थात् ८ से ११ २ करोड़ थी। पूरे यूरोप की कुल सख्या से भी यह सख्या बड़ी थी। (करन्ट एन्थ्रोपोलोजी Current Anthropology) खण्ड ७, क्रम ४, अक्टूबर १९६६, पृ ३९५,

४४९ 'अमेरिका के मूल निवासियो का अनुमान Estimating Aboriginal American population हेनरी एफ डोबिन्स'

१२ अठाहरवीं शताब्दी के उत्तरार्ध से सम्बन्धित अधिकाश इतिहासग्रन्थ यह जानकारी देते हैं। एडम स्मिथ (वेल्थ ऑव नेशन्स पृ ४९३) के मतानुसार धान की फसल पर ब्रिटिशरो के कुछ अनुचित नियमो के कारण और अन्यायी बन्धनो के कारण हुई कमी अकाल मे परिणत हुई।

१३ ब्रिटिश कालखण्ड के विवरणो के साथ साथ इतिहास की पुस्तके और सरकार के विवरण भी अकाल के वर्ष, क्षेत्र, व्याप, और मृत्यु के आक की विस्तृत जानकारी उपलब्ध कराते हैं। यह सब प्रकाशित हुआ है और उपलब्ध है।

१४ उदाहरण के रूप मे हाउस ऑव कॉमन्स के कागज देखिए १८१२, खण्ड ७, पाँचवाँ विवरण, पृ १६

१५ आई ओ आर फ्रान्सिस फिलिप के कागज, बगाल प्रान्त की सरकार के लिए योजना (A Plan For The Government of the Provinces of Bengal) रोबर्ट क्लाइव १७७२ पृ ४, पादटीप, साथ ही देखिए 'बारामहाल रेकोर्डस्' Baramahal Records १७९२-९९ खण्ड २१, पृ ११७-११८, जहा सूचित किया गया है कि इग्लैंड और वेल्स के खेतमजदूरों की कमाई कुल पैदावार के १८ प्रतिशत थी।

१६ १७७०-१७९० के बगाल रेवन्यू विवरण (Bengal Revenue Report) में और १८१२ के पॉचवें विवरण में इस विषय पर चर्चा हुई है।

१७ जे एस मिल मेमोरियल एन्ड पीटीशन फ्रॉम दि कोर्ट ऑव डायरेक्टर्स ऑव दि इस्ट इडिया कम्पनी टु ब्रिटिश पार्लमिन्ट (Memorial and Petition From The Court of Directors of The East India Company To British Parliaments) १८५८

१८ ११ फरवरी १८०१ को मद्रास भेजे गए रेवन्यू पत्र मे जमींदारी स्थापित करने के लिए तर्क प्रस्तुत किया गया है।

१९ आई ओ आर बगाल के रेवन्यू बोर्ड की कार्यवाही पी/५२/२३, पृ ३७०-३८१ और पी ५२/४७, पृ ६०१-१८ (परिशिष्ट 'ख' मे इस से उदाहरण दिया गया है।)

२० हाउस ऑव कॉमन्स के कागज १८१२, खण्ड ७, पाचवा वृत्त।

२१ 'समुदायम्' व्यवस्था के विस्तृत वर्णन मद्रास प्रेसिडेन्सी के प्रारम्भ के राजस्व विवरण में मिलते हैं। तजावुर के जिलाधीश के १८०५ के विवरण के अनुसार जिले के ५७८३ गावों मे १७७४ समुदाय गाव थे। लेखक के 'मद्रास पचायत पद्धति' मे परिशिष्ट ४ मे तजावुर के गाव का वर्णन दिया गया है, (पुनुरुत्थान २००७) १७८३ का एलेकजेन्डर डालरिम्पल का और १७९९ का रामनाथपुरम विषयक विवरण परिशिष्ट 'ग' और 'घ' मे दिया गया है।

२२ गवर्नर जनरल लोर्ड विलियम बैण्टिक (१८३२) के मतानुसार उत्तर भारत के 'भाईचारा' गाव और मद्रास प्रेसिडेन्सी के 'समुदायम्' गाँव लगभग समान रूप से गठित हैं। बेण्टिक के वृत्त का अनुच्छेद ५४ कहता है, 'भाईचारा' गाव का स्वरूप ३१ दिसम्बर १८२४ की सर टॉमस मनरो की टिप्पणी क नौवें अनुच्छेद के वर्णन के अनुसार ही है। वे कहते हैं, 'एलिस के कथनानुसार आर्कोट गाव की पूरी जमीन समुदाय के अधिकार मे थी। यह सामुदायिक अधिकार अनेक रेवन्यू अधिकारियों की प्रशसा को प्राप्त हुआ है। उसका विभाजन करके व्यक्तियों का स्वामित्व स्थापित करना देश पर आपत्ति लाने के समान माना जाता है।'

२३ १९५७ मे पचायत राज लागू किया गया, इसके बाद भी राजस्थान मे इस प्रकार की गाव के भिन्न भिन्न समूहों के प्रतिनिधियो की बनी हुई पचायत काम करती थी। १९६१ मे अवार्ड का अध्ययन समूह जब राजस्थान गया, तब उसे जानकारी मिली कि सिचाई तालावो की सुरक्षा अथवा पचायत घर के लिए फड एकत्रित करने जेसे महत्त्वपूर्ण कार्य भी पुरानी बीस बिस्वा पचायत करती थी, न कि कानून द्वारा स्थापित नई पचायत।

२४ सन् १८०० के बाद विभिन्न प्रेसिडेन्सियो मे जमीन का नीलाम और बिक्री, बडी मात्रा मे किसानो का जमीन का स्वामित्व छीन लेने के ओर भूमिहीन और भिखारी बनाए गए किसानों का एक बड़ा वर्ग निमाण करने के सम्बन्ध मे सरकारी टिप्पणियाँ बहुत बड़ी मात्रा मे मिलती हैं। इस प्रकार की व्यवस्था होने से पूर्व यहाॅ के किसानों का मिरासदारो जेसा अधिकार था। अलग अलग क्षेत्र की टिप्पणियो मे यह तथ्य स्पष्ट रूप से निरूपित है। उदाहरण के लिये तजावुर जिलेमें जमीन के टुकडे किये जाने के ३०-४० वर्ष बाद भी मिरासदारो की कुल सख्या ६२,०४८ थी, जिसमें से १७,१४९ ब्राह्मण और १,४५७ मुसलमान थे। (तमिलनाडु स्टेट आर्काइव्ज बोर्ड ओफ रेवेन्यू की कार्यवाही, खण्ड ४०७, २०-५-१८०५, पृ ३४८८-८९)

चेंगलपट्टु जिले में (१७६० से १७९५ के दौरान वह जागीर के रूप में पहचाना जाता था। इस कालखण्ड मे यहा का जनजीवन अत्यन्त बिखर गया था) ८,३८७ मिरासदार थे ओर वे १५,९९४ हिस्सो का स्वामित्व रखते थे। चेगलपट्टु का जिलाधीश ६-६-१७९९ के अपने विवरण में सूचित करता है,

'मिरासदारों की ८,३०० की सख्या कम लगती है, परन्तु इस बात की ओर ध्यान देना चाहिए कि केवल परिवार का ज्येष्ठ व्यक्ति ही मालिक के रूप मे अपना नाम गिनता है, उसके नाम में ही परिवार के सभी सभ्यो के नाम समाविष्ट होते हैं, और वह सख्या दर्शाई गई सख्या से दस गुनी अधिक हो सकती है।' (हाउस कॉमन्स के कागज, १८१२, जेड एल प्लेस का 'जागीर विषयक वृत्त' अनुच्छेद ३४७)।

बारामहाल (१७९२-९९) मे ६,००,००० की कुल जनसख्या में खेती करने वाले 'परिया' की सख्या ३२,४७४ थी। अन्य व्यवसाय करने वालो की सख्या ३६,४७८ थी। (बारामहाल रेकोर्ड - Baramahal Records), खण्ड ३ पृ ७

२५ उदाहरण के रूप मे देखिए (तमिलनाडु स्टेट आर्काइव्ज पब्लिक सन्ड्रीज खण्ड १२१ टोमस मनरो का पत्र ए रीड को १३-१२-१७९३), ब्रिटिश आधिपत्य के तुरन्त बाद ही जुलाहो का विरोध, हेनरी गोजर अ पर्सनल नेरेटीव ऑव् टु यर्स इम्प्रीजनमेन्ट इन बर्मा १८२४-२६) (A Personal Narrative of Two Years Imprisonment in Burma १८२४-२६)। डबल्यू बोल्ट के मतानुसार 'भारत के विषय में विचार' (Consideration of Indian) में बगाल के जुलाहे अब इस प्रकार के करार से बधने के लिए असमर्थ हो गए तब जबर्दस्ती रेशम बुनने के लिये विवश न होने के उद्देश्य से उन्होने अपने अँगूठे काट दिए।'

२६ वेब, सिडनी और बिएट्रीस 'द हिस्ट्री ऑव ब्रिटिश ट्रेड युनयनिजम, (The Histroy of British Trade Unionisim) १९२० में मजदूर, कारीगर आदि के समूह को गैरकानूनी घोषित करने के उद्देश्य से इग्लैंड में १७७० में प्रारम्भ करके एक के बाद एक जो कदम उठाए गए, उसका विस्तृत वर्णन किया गया है।

२७ वही, पृ ५६, वेब के मतानुसार '१८०८ मे इग्लेण्ड के करघे पर काम करने वाले जुलाहों को दस वर्ष तक मिलती थी, उसके तीसरे भाग की मजदूरी मिलने लगी।'

२८ ब्रिटिश म्यूझीयम लिवरपूल के कागज एड एम एस ३८४१३ देसी नोकरा के लिये नियम बगाल की निरीक्षण समिति की कार्यवाही, १३-५-१७६६

२९ वही, ३०-१०-१७६६, गौरव के पदो का क्रम स्थापित करने के विषय मे कोलकता के निवासियों द्वारा होने वाले पालकी के उपयोग को प्रतिबन्धित करने के विषय में

३० पश्चिम बगाल स्टेट आर्काइव्ज राजस्व विभाग की कार्यवाही १९-५-१८४७,

३१ तमिलनाडु स्टेट आर्काइव्ज राजस्व विभाग रेवेन्यू बोर्ड की कार्यवाही १२८४, १६-५-१९१६, विविध विभाग, सेटलमेट विभाग, सन्दर्भ बिहार और उड़ीसा के जमीन रेकार्ड के नियामक का २९-२-१९१६ का पत्र क्रमाक १७५ टी।

३२ वही, पृ २

३३ तमिलनाडु स्टेट आर्काइव्ज राजस्व विभाग ८७५, १९ अप्रेल, १९१६ 'पचम तथा अन्य मजदूर वर्ग की आर्थिक स्थिति की जाच', पृ २

३४ नेशनल लाईब्रेरी ऑव् वेल्स एम एस ५४७६, १७८८ के लिए विलियम जोन्स की ग्रान्ड ज्यूरी मे नियुक्ति।

३५ आई ओ आर मद्रास रेवन्यू बोर्ड की कार्यवाही, दिसम्बर, १७९६ और जनवरी, १७९७, जिलाधीश प्लेस बोर्ड को लिखता है, 'मुझे तीनो मुकादमो को दो दर्जन कोड़े मारने का दण्ड आवश्यक लगा।'

३६ आई ओ आर मुर्शिदाबाद की रेवन्यू काउन्सिल की कार्यवाही (मुद्रित) २१-१-१७७१

३७ आई ओ आर ओर्मे सग्रह एम एस १६, पृ ४६६३-४, इलाहाबाद में कोर्ट मार्शल, १३-६-१७६६

३८ बगाल और मुबई प्रेसिडेन्सी के रेकर्ड में 'विरोध' के उदाहरण अधिक मात्रा मे उल्लिखित हैं। १७९५ से बगाल मे 'विरोध' फौजदारी अपराध माना जाने लगा।

३९ आई ओ आर रेवन्यू विभाग, बगाल, ३-११-१७७२, 'न्याय व्यवस्था की योजना' - १५-८-१७७२, विभाग ३५

४० आई ओ आर जोनाथन डकन को विलियम जोन्स का पत्र, डकन वाराणसी में ब्रिटिश रेसीडेन्ट था। डकन जब मुबई का गवर्नर बना, तब उसने ही इसका वर्णन किया था।

४१ नेशनल लाइब्रेरी ऑव वेल्स विलियम जोन्स के कागज मद्रास के जिलाधीश एफ डबल्यू एलिस के भाषण और लेख।

४२ युनिवर्सल हिस्ट्री (१७५०), एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका (१८००) और एम एस एस १७५३ (बोडलेन, ऑक्सफर्ड) के अनुसार भारत में अठाहरवीं शताब्दी मे सामान्य रूप से दहेज का प्रचलन नहीं था।

४३ बगाल प्रेसिडेन्सी मे अधिकृत रूप से वर्णित 'सती' घटनाओं का बड़ा हिस्सा सन् १८१५ में सबसे कम ३७८ और अधिक से अधिक १८१८ मे ८३९ था। १८१५ से १८२६ के दौरान यह सख्या ५००-६०० की है। बगाल में सबसे अधिक अक कोलकता विभाग का है। वाराणसी, ढाका और पटना में क्रमश कम है। मुम्बई प्रेसीडेन्सी की दर्ज की गई सख्या

(१८२० मे सर्वाधिक - ६७) मे अधिकाश दक्षिण कोकण की है। मद्रास प्रेसिडेन्सी मे सख्या इससे भी कम है। (१८१५ मे ८०, १८१८ मे १८३, १८२० मे १७, १८२१ मे ७)। इसमे वडी घटनाएँ गजाम, मसूलीपट्टम, विशाखापट्टनम और तजावुर में घटी हैं।

४४ ग्यारहवीं शताब्दी के वाद इग्लैंड पर आधारित अनेक इतिहास देखिए। साथ ही देखिये 'मेकिग ओफ द फोर नेशन्स (Making of The Four Nations) पृ ४२, ४३

४५ ज्हॉन लॉक टु ट्रीटीज ऑव् गवर्नमेन्ट (Two Treatıes of Government) सम्पादन लेस्लेट, केम्ब्र उ प्र १९६७, जेरेमी रिफ्किन के 'एन्ट्रोपी ए न्यू वर्ल्ड व्यू (Entropry A New world vıew)' मे उद्धृत, दि वाइकिग प्रेस, न्यूयोर्क, १९८०, पृ २६

४६ लन्दन, पब्लिक रेकोर्ड ऑफिस ३०-५-५४-२, पृ २८७-२९०

४७ वही

४८ एडिनवरो यूनिवर्सिटी सर ज्हॉन मेकफरसन को एडम फर्ग्युसन के पत्र (१७७३-१८०८), ३-११-१७७३ का पत्र

४९ इस्ट इडिया कम्पनी के कामकाज के विषय में प्रकाशित ब्रिटिश विवरणों मे यह जानकारी मिलती है। १७६० से १८६० के समय मे मिलने वाले विवरणों की मात्रा अधिक हे। उदाहरण के रूप में एल सधरलेन्ड और सी एच फिलिप्स के लेख।

५० जी केनन 'विलियम जोन्स', खण्ड २, एडमड बर्क को जोन्स का पत्र, १७-३-१७८२, पृ ५२०-५२३,

५१ ब्रिटिश म्यूजियम एड एम एस ४८२२५ मोर्ले कागज प्रथम लोर्ड मोर्ले को एम्हर्स्ट का पत्र ११-१२-१८२४ और २६-१२-१८२४, पृ १०८-१११ और ११२-११३

५२ आइ ओ आर मोन्स्टुअर्ट एल्फिन्स्टन के कागज स्ट्रेची को एल्फिन्स्टन का पत्र, २३-११-१८२१

५३ वही, स्ट्रेची को एल्फिन्स्टन का पत्र, २२-१२-१८२२

५४ एम मार्टिन (सम्पादन) दि डिस्पेचीज, मिनट्स एन्ड कोरसपोन्डन्सीज ऑव मार्क्विस वेलेस्ली (The Dıspatches Mınutes and correspondences of Marquıs Wellesley) पू खण्डों में १८३६-३७ में प्रकाशित, खण्ड २, पृ ५८-५९

५५ तमिलनाडु स्टेट आर्काइव्ज रेवन्यू बोर्ड विविध, खण्ड ३८, क्रमाक १७९१, १५-८-१८०१, अनुच्छेद १७

५६ देखिए मद्रास प्रेसिडेन्सी और भारत के अन्य क्षेत्रों के रेवन्यू बोर्ड की कार्यवाही और परामर्श, मुख्य रूप से सन् १८०० के आसपास।

५७ आइ ओ आर एच एम , खण्ड ७९ 'सरकारी विभागो की व्यवस्था,' गवर्नर जनरल की टिप्पणी।

५८ हाउस ऑव कोमन्स कागज,१८५७ (२), खण्ड १८, पृ-३१८-१९ विभिन्न रेजिमेन्ट में विभिन्न पदों पर नियुक्ति के लिए अधिकृत मूल्य।

५९ मुख्य रूप से देखिए वेलेस्ली के कागज (ब्रिटिश लाइब्रेरी एड एम एस) १७९९ के मैसूर के विद्रोह के विभाजन के विषय में। इसी प्रकार के दिल्ली, लखनऊ इत्यादि स्थानो के १८५७-५८ के विद्रोह के विभाजन के विषय में देखिए ब्रिटिश पार्लामेन्टरी कागज।

६०　हाउस ऑव् कोमन्स के कागज　१७९६-७, खण्ड ४४ (साथ ही खण्ड १०६ पृ ३३७-४०) लोर्ड होबार्ट की टिप्पणी, २४-१०-१७९५, यह टिप्पणी परिशिष्ट (ड) म दी गई है।

६१　१७५०-१८५० के विविध विवरण।

६२　तमिलनाडु स्टेट आर्काइव्ज　रेवन्यू बोर्ड की कार्यवाही　२५-८-१८२३ की कार्यवाही, रेवन्यू बोर्ड को बेलारी के जिलाधीश का पत्र, १७-८-१८२३, अनुच्छेद १८

६३　ब्रिटिश म्यूजियम　वॉरन हेस्टिंग्झ के कागज　एड एम एस २९,१४४, वॉरन हेस्टिंग्स को साइक्स का पत्र, २५-११-१७७९, 'आशा करता हूँ कि आप कुछ विचारशील बनेंगे, अन्यथा आप यहा आयेंगे तब आपको खूब सीधा किया जाएगा। आप इग्लेंड को जानते हैं, इसलिए इस विषय पर अधिक कहने की आवश्यकता नहीं है।' इस प्रकार के पत्र दूसरे मित्रा ने भी वॉरन हेस्टिंग्स को लिखे थे।

६४　बगाल, मद्रास और मुबई प्रेसिडेन्सी के विविध विवरण, १८२० के बाद के।

६५　इसी प्रकार के विरोध के उदाहरणो के लिए देखिए लेखक का 'भारतीय परम्परा में असहयोग', पुनरुत्थान २००७, तथा १७८० से १८५० के समय के बगाल, मद्रास और मुबई प्रेसिडेन्सी के रेवन्यू रेकोर्ड।

६६　आई ओ आर　गृह विविध, १११　अर्ल ऑव् रोकफोर्ड को सर रोबर्ट होलेन्ड का पत्र (क्र १२) २५-८-१७७२

६७　लन्दन　पी आर ओ　एनलबरो कागज　पी आर ओ/३०/९/४ भाग १/२, टिप्पणी दि ११-१०-१८२९, सी टी मेटकाफ द्वारा

६८　तमिलनाडु स्टेट आर्काइव्ज　मिल कोन्स ९-१२-१८४५ पृ १६७७४-६

६९　हाउस ऑफ कोमन्स के कागज　१८५९ सत्र २　खण्ड ५, सिलेक्ट कमेटी का वृत्त　भारत मे यूरोपीय उपनिवेशी और स्थिरता के विषय में (on European colonisation and settement in India) पृ २७५

७०　लीड्ज पब्लिक लाइब्रेरी　केनिग के कागज　छोटे मोटे पत्रव्यवहार　लॉर्ड केनिग को अर्ल एलनबरो का पत्र, १२-१०-१८५५, 'सिमला के पास के पहाड़ियो से जबर्दस्ती कराये जाने वाले काम के विषय मे नोटिस'　साथ मे जोड़ी गई। यह बेगार करवाने वाला था लेफ्टेनन्ट कर्नल केनेडी, सिमला विभाग का पूर्व पोलिटिकल एजन्ट, ९-१०-१८५५

७१　वही

७२　वही

७३　उत्तर प्रदेश स्टेट आर्काइव्ज　रेवन्यू बोर्ड की कार्यवाही　रेवन्यू बोर्ड को कुमाऊँ के कमिशनर का पत्र, ३०-९-१८५१ अनुच्छेद ९

७४　उत्तर प्रदेश स्टेट आर्काइव्ज, रेवन्यू बोर्ड की कार्यवाही, १८-१०-१८५०, रेवन्यू बोर्ड को उत्तर पश्चिम प्रदेश की सरकार का पत्र, ८-१०-१८५०

७५　आई ओ आर　एल/पी एन्ड जे/६/२०५, गृहसचिव, (भारत सरकार) की 'बलात् मजदूरी' की टिप्पणी, पृ ५

७६　नेशनल आर्काइव्ज ऑव इडिया　गृहन्याय विभाग, अक्टूबर, १८८२ अनुच्छेद 'ए' लॉर्ड रिपन की टिप्पणी २०-९-१८८२,

७७ आइ ओ आर डफरीन कागज वाइसरॉय डब्ल्यू, जे मेटलेन्ड के निजी सचिव डी एम वेलेस का सेक्रेटरी ऑव स्टेट फार इडिया के सचिव को पत्र, २७-५-१८८७

७८ आई ओ आर गृह विविध १११ अर्ल ओफ रोकफोर्ड को सर रोबर्ट हारलेन्ड का पत्र (क्र १२), सेट ज्योर्ज किला, २५-९-१७७२

७९ तमिलनाडु स्टेट आर्काइव्ज रेवन्यू बोर्ड की कार्यवाही ४-११-१८१९, हैदराबाद के रेसिडेन्ट गवर्नर जनरल के प्रति, २५-७-१८१९

८० तमिलनाडु स्टेट आर्काइव्ज न्यायिक, परामर्श परामर्श ६-४-१८२१ गवर्नर सर टॉमस मनरो की टिप्पणी, पृ-८३४

८१ वही पृ ९३४-३६

८२ वही पृ ९३६-३९

८३ तमिलनाडु स्टेट आर्काइव्ज रेवन्यू बोर्ड कार्यवाही ५-८-१८४४

८४ वही २-९-१८४४

८५ वही २६-५-१८६०, रेवन्यू बोर्ड के प्रति गजाम के जिलाधीश १८-५-१८६०

८६ वही मद्रास के रवन्यू बोर्ड की कार्यवाही, मई-जून १८६०

८७ आई ओ आर उत्तर पश्चिम प्रदेश सदर रेवन्यू बोर्ड की कार्यवाही, कुमाऊँ के कमिशनर सदर रेवन्यू बोर्ड प्रति, ९-८-१८४२ (क्र ४९४) अनुच्छेद ३

८८ वही २७-५-१८४३

८९ वही (फौजदारी) कार्यवाही १३-९-१८४४ निजामत अदालत के रजिस्ट्रार न्यायाधिकारी के प्रति, २४-८-१८४४

९० वही, उत्तर पश्चिम प्रदेश सरकार (न्याय विभाग) मिलिट्री बोर्ड प्रति,१५-६-१८४४

९१ वही, निजामत अदालत के रजिस्ट्रार न्यायाधिकारी प्रति २४-८-१८४४

९२ वही

९३ वही, निजामत अदालत प्रति, १३-९-१८४४ (क्र ४०४६)

९४ वही, उत्तर पश्चिम प्रदेश न्याय विभाग की कार्यवाही, ९-१०-१८४४, क्र ६९, जम्मू के पश्चिम में स्थित नहरो के कार्यवाहक अधीक्षक केप्टन ए एच इ बोइलो, सरकार प्रति २६-९-१८४४,

९५ वही, बोर्ड का सग्रह क्र १,२२,५१०, मुबई के न्याय विभाग का पत्र, ८-९-१८४९, (क्र ३०) अनुच्छेद ६७-६९

९६ वही, अनुच्छेद ७८

९७ आई ओ आर एल/ पी एन्ड जे/६/२०५ गृहसचिव की 'बलात् मजदूरी' विषयक टिप्पणी

९८ वही बोर्ड का सग्रह क्र ७४,८६२, जबलपुर के कमिश्नर उत्तर पश्चिम प्रदेश की सरकार प्रति, ८-७-१८३६

९९ वही

१०० वही, क्र ९०,०२६, भारत के राजकीय विभाग की ओर से पत्र,१५-२-१८४३ (क्र २) अनुच्छेद ७३,

१०१ नेशनल आर्काइव्ज ऑव इडिया पब्लिक (ए) फरवरी १९११, कमान्डर-इन-चीफ की टिप्पणी, १८९१

१०२ वही उत्तर प्रदेश सरकार के मुख्य सचिव, भारत सरकार के गृह विभाग प्रति १९-१०-१९१०, अनुच्छेद २

१०३ वही, अनुच्छेद ९

१०४ एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटानिका (१९११), 'वधुआपन' विषयक लेख।

१०५ वही, 'कुरवी' विषयक लेख।

१०६ वही

१०७ नेशनल आर्काइव्ज ऑव इडिया गृहन्याय विभाग, अक्टूबर १८८२, कामरूप के नायब कमिश्नर, आसाम के मुख्य कमिश्नर के प्रति, १३-७-१८८२, इस मुद्दे पर कई भारतीय अधिकारियो के अवतरण दिए गए हैं।

१०८ इस विषय मे विपुल मात्रा में प्रकाशित तथा हस्तलिखित सामग्री उपलब्ध है। इस प्रकार की पूर्व की घटनाओ (१७६४) के लिए देखे मेजर मेकन्जी की जर्नल (नेशनल लाइब्रेरी ऑव स्कॉटलैड)

१०८ देखिए पादटीप २५

११० ज्योर्ज सार्टन दि अप्रीसीएशन ऑव एन्शियन्ट एण्ड मीडीवल साइन्स ड्यूरींग द रेनेसा, (The Appreciation of Ancient and Medieval Science during the Renaissnce) (१४५०-१६००) पृ १७३

१११ आइ ओ आर बोर्ड का सग्रह क्र ९५,६९८, पृ-२ से १५, १८४३ सेवा करार - ३

११२ वही, सेवा करार - २

११३ तमिलनाडु स्टेट आर्काइव्ज मद्रास रेवन्यू बोर्ड की कार्यवाही, विशेष ५-१-१८१८ की बोर्ड की टिप्पणी, जिसमें बड़ी मात्रा मे खेती और उसके समान अन्य व्यवसायो मे मजदूरी करने वाले 'परिया' लोगो को 'कृषक गुलाम' मान लिया गया है।

११४ वही, १८२० के आसपास के मलबार विषयक टिप्पणी, जो उपरोक्त मुद्दे को स्थापित करना चाहती है।

११५ सन् १४५० से यूरोपीयो ने पश्चिम और मध्य अफ्रिका से लोगो को पकड़ना प्रारम्भ किया। सन् १५०० तक तो यह प्रमुख व्यवसाय बन गया। सन् १५०० से १८३० के बीच लगभग एक करोड़ अफ्रिकनों को गुलाम के रूप में पकड़ा गया था। ये सब अमेरिकन और एटलाटिक द्वीपों के निवासी थे। गुलामो पर आक्रमण करने की, उनको पकड़ने की और भूमिमार्ग से अथवा समुद्रमार्ग से भेजने की प्रक्रिया मे लगभग एक करोड़ अफ्रिकनों की मृत्यु हुई। इस कारण से अफ्रिका के प्रदेश वीरान बन गए और उनका समाज और राज्य छिन्नविच्छिन्न हो गए।

परिशिष्ट क

वाराणसी, बिहार प्रदेश के जीवन का वर्णन (१७८०)

इन प्रदेशो मे घूमते हुए विभिन्न प्रकार के फकीरो का मिल जाना असामान्य बात नहीं है। इन फकीरो का दिखावा भयावह होता है। कभी तो पूर्ण परिवार देश के एक कोने से दूसरे कोने तक घूमता रहता है। यह पूरा समूह बहुत सुन्दर चित्र जैसा दिखाई

देता है। कभी उनके साथ सामान लदे ऊँट होते है। पूरे समूह मे कुछ बैल के ऊपर सवार रहते है, स्त्रियॉ हेकड़ी मे बैठी होती है, (हेकड़ी अर्थात् परिवहन का विशेष साधन) छोटे बालक टट्टु पर बैठे होते है। ये टट्टु बगाल की पूर्व पहाड़ियो से लाए गए होते है। इन टट्टुओ को वहॉ तान्या कहा जाता है। वे अधिकाश रक्षक होते है। पुरुष पैदल चलते है। उनके हाथ मे भाला और बदूक होती है। उनकी ढाल और कारतूसो का पट्टा पीठ के पीछे लटकते रहते है। एक चित्रकार के लिए यह बहुत मूल्यवान विषय है। भारत मे ऐसे यात्रियो के लिए निवास के स्थान को सराय कहते है, जैसे यूरोप मे केरेवान सराय होता है। इनमे कई राजमार्ग पर होते है। इन सरायो को या तो सखावती लोग बनाते है, या वे सार्वजनिक खर्चे से बनते है। प्रजा की सुविधा का ध्यान रखने वाले जिस सम्राट की मैंने पूर्व मे बात की है, उसने बगाल के पूर्वी किनारे से पश्चिम मे लाहौर तक स्थान स्थान पर ऐसे सराय बनवाए थे। सुलतान शुजा जब बगाल प्रान्त का सूबा था, तब राजमहल के पास निर्मित एक भव्य सराय आज भी देखने को मिलती है। यह सराय वर्गाकृति है। बगाल की दिशा से अन्दर प्रवेश करने के लिए बडा सुन्दर दरवाजा है। यह दरवाजा जितना सुन्दर है, उतनी ही सैनिकशक्ति भी रखता है। चारो ओर बीस फीट ऊँची दीवार है। चारो ओर दीवार से सटे आवासीय कक्ष है। इन कक्षो मे यात्री अपना सामान रखते है और सोते है। अन्दर का चौक पशुओ के लिए है। इस सराय के रक्षक गरीब लोग हैं। वे यात्रियो को छोटा सा बिस्तर देते है। इसका सामान्य मूल्य चुकाया जाता है। उसका मूल्य कदाचित इग्लैड की पेनी के बराबर होता है। मूल्य चुकाने के विषय मे हिन्दुओ की अपेक्षा मुसलमान अधिक उदार मालूम पड़ते है। बगाल दरवाजे के सामने एक दूसरा दरवाजा है। वह केवल दीवार मे बना सामान्य दरवाजा है।

मैं मोघीर से चला और जलमार्ग से कोलकता वापिस लौटा। यहा मुझे अत्यन्त सुन्दर दृश्यो की पक्तिया देखने को मिलीं। गगा के विभिन्न प्रकार के घाट और गाव की विभिन्न प्रकार की नौकाए। गगा का प्रवाह नदी की अपेक्षा सागर का ही आभास कराता है। गगा का पट दो से पाच मील चौड़ा है। कहीं तो पॉच से भी अधिक है। बड़ी से बड़ी नौका भी बीच में पहुचती है, तो छोटे बिन्दु के समान लगती है, और सामने का किनारा तो मात्र भूरी क्षितिज रेखा के समान लगता है। गगा के अगाध जलराशि के सामने इग्लैण्ड की नदियॉ (ह्राइन भी) छोटे झरनो के समान लगती है। ग्रीष्म ऋतु मे गगा के प्रवाह मे नौकाविहार से अधिक आनन्द की मुझे कल्पना तक नहीं होती है। गगा के प्रवाह के ऊपर से आने वाली हवा इतनी शीतल होती है कि उससे आनन्ददायक ताजगी का अनुभव होता है। सूर्यास्त के बाद लगर के सहारे नौकाएँ किनारे पर खड़ी रहती है।

वहा पर किनारा साफ सुथरा होता है। बाजार नजदीक होता है। इससे लोगो को बहुत सुविधा होती है। नदी के किनारे पर सामान्य रूप से हिन्दुओ के छोटे मन्दिर होते हैं। घाट और नदी मे उतरने के लिए सीढियाँ भी होती है। प्रात काल सूर्योदय के समय या उसके बाद स्त्रिया नदी मे स्नान करती है और बालक लम्बे समय तक जलपरी और जलदेवता की तरह पानी मे खेलते है। सुदर युवतियाँ भीगी साड़ी और चादरो सहित, पानी ले जाती हुई दिखाई देती है। और इतना ही सुन्दर और नवीन दृश्य है स्नान करके आसपास की दुनिया से बिलकुल अलग होकर ध्यानमग्न होकर मत्रोच्चार करनेवाले ब्राह्मणो का। ये भक्त कमर मे छोटी धोती को छोड अन्य कोई कपडा नहीं पहनते है। एक चित्रकार के लिए इससे अद्‌भुत दृश्य अन्य कहीं नहीं मिल सकता।

हिन्दुओ मे आश्चर्यजनक रूप से स्वच्छता के विषय मे सावधानी देखने को मिलती है। उनकी गलियाँ हमेशा साफ होती है। उनके ऊपर पानी छिड़का हुआ होता है। घरो के दरवाजे पर रगोली भी दिखाई देती है। हिन्दू स्त्रियो का सादगी और गरिमापूर्ण व्यक्तित्व एक अपरिचित को भी मन्त्रमुग्ध कर देता है। नीची नजर करके और धीरे धीरे कदम रखते हुए वे चलती हैं, और अगर विदेशी वहा से गुजरता है तो वह कितना ही विशिष्ट या विचित्र हो, तब भी उसकी ओर देखती नहीं हैं। न वे इधर उधर देखती है। पुरुष उनके आतिथ्य के कारण ध्यान आकर्षित करते है। यात्रियो की आवश्यकता पूर्ण करने के लिए वे तत्पर रहते है। मेरे द्वारा पालकी मे की गई पूर्ण यात्रा मे मेरी प्रत्येक आवश्यकता, चाहे चाय के लिए उबलता पानी हो, या दूध हो, अथवा अडा हो - मुझे उन वस्तुओ को प्राप्त करने मे कहीं कहना नहीं पडा, अथवा प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ी। अत्यत सादगी के साथ परन्तु अत्यन्त तत्परता से लोग मेरी सेवा करते थे ऐसा मैने अनुभव किया।

परिशिष्ट ख

बगाल के किसानो की जायदाद छीन लेने के विषय मे चर्चा।

श्री लॉ १९-७-१७९०

जमींनदार जमीन का मालिक है। अब उसकी सभी जगह स्वीकृति दी गई है। परन्तु यह कहना अधिक सत्य है कि वह जमीन की पैदावार के दसवे हिस्से का मालिक है। शेष नौ हिस्से के साथ उसका कोई लेनादेना नहीं है।

रेवन्यू बोर्ड के सदस्य, टॉमस लॉ की टिप्पणी १५-१२-१७९०

इग्लैंड मे एक लॉर्ड को थोड़ा भी भूमि कर डुबोने नहीं दिया जाता है। यदि वह

कर नहीं भर सकता है तो उसे अपनी भूमि किसानो से छीन लेने की अनुमति दी जाती है। तो फिर इस देश मे जहा जमीनदार पैदावार का नौ दशाश हिस्सा कर के रूप मे देता है, वहा तो किसान से भूमि छीन लेने की अनुमति देना अधिक आवश्यक है। हम तो वह यदि कर नहीं भरता है, तो सामान्यत उसको निकाल भी देते है। वास्तव मे भूमि छीनने का अधिकार तो अपनी ही जमीन मे होने वाली पैदावार का स्वाभाविक अधिकार है। खेतमजदूर को समान स्तर का नहीं मानने की व्यवस्था है। कर यदि समय पर भरा नहीं जाता है, तो तुरन्त ही नुकसान भरपाई करने के लिये बाध्य करना ही उसका उपाय है।

श्री वेन्डरहेइडन की टिप्पणी १५-१२-१७९०

मै श्री लॉ के विचारो से सहमत हूँ। जमीन लेने का अधिकार जमीनदार का स्वाभाविक अधिकार है। उसने जिसके साथ करार किया है, ऐसे खेतमजदूर करार के पालन मे असफल होते हैं तब जमीनदार को ऐसा करना ही पडेगा। अन्यथा अन्य सभी विषयो मे, जहा अन्य लोगो के साथ भी उसने इस प्रकार के करार किए होगे, वहा वह अपना काम सरलता से नहीं कर सकेगा। मुझे लगता है कि जमीनदार और उसके नौकरो के बीच के सभी विषयो मे यह अधिकार लागू होना चाहिए।

श्री चेपमन की टिप्पणी १५-१२-१७९०

मेरा अभिप्राय है कि जमीनदार और प्रमुख किसान को जमीन लेने का अधिकार होना चाहिए, और उसका उल्लघन न हो, इसके लिए श्री वेन्डरहेइड द्वारा प्रस्तुत किए गए नियन्त्रण और दण्ड भी लागू होने चाहिए।

श्री ग्रेहाम १५-१२-१७९०

जमीनदार को उसके किसानो और रैयत से लगान वसूल करने का अधिकार है, ऐसा अभिप्राय सभी अधिकारियो का है। हमने जिस सचिव को श्रीपुर भेजा था, उसने भी इस विषय मे विस्तृत टिप्पणी की है। वह टिप्पणी हमारी ८ अप्रैल की कार्यवाही मे शामिल भी की गई है। वह टिप्पणी तथा इस समय बोर्ड के सदस्यो के जो सुझाव है, उसके आधार पर मेरा अभिप्राय बनता है कि जमीनदारो को विधिवत यह अधिकार दिया जाता है, उससे पूर्व काउन्सिल के माननीय लॉर्ड के समक्ष विचार करने हेतु रखने के लिए, हमे एक प्रस्ताव पारित करना चाहिए, जिसमे श्री वेन्डरहेईडन के नियन्त्रणो का भी समावेश हो।

श्री वेन्डरहेईडन के नियन्त्रणो को स्वीकार करने के लिए मैं बोर्ड के साथ सहमत हूँ।

रेवन्यू बोर्ड का प्रस्ताव

प्रस्ताव पारित किया जाता है कि काउन्सिल के गवर्नर जनरल को यह परामर्श दिया जाना चाहिए कि जमीनदार और जमीन के मालिक किसानो को उनके किरायेदार किसानो से किराया वसूल करने के लिए जमीन लेने का अधिकार दिया जाना चाहिए, साथ ही श्री वेन्डरहेईडन के नियन्त्रणो को भी लागू करना चाहिए।

रेवन्यू बोर्ड सरकार प्रति १५-१२-१७९०

जिलाधीश जब तक जमीनदार और उनके पास काम करने वाले किसानो के बीच हिसाबो को व्यवस्थित नहीं करता, तब तक जमीनदारो के पास किसानो से जमीन लेने का अधिकार न होने से कर जमा करने मे जो विलम्ब होता है और जो नुकसान होता है, उसको देखते हुए हम यह सूचित करने की अनुमति चाहते है कि इस प्रकार का नियम बनाया जाए, जिससे सभी जमीनदार और जमीन के मालिक किसानो को आवश्यक लगनेवाले नियन्त्रणो के साथ उसके नीचे काम करने वाले किसानो की अथवा किरायेदारो की, उनका किराया वसूल करने हेतु जमीन ले लेने की अनुमति दी जाए।

बगाल सरकार का उत्तर २४-१२-१७९०

लगता है कि किराया वसूल करने के लिए इस समय जो नियम हैं, उनमे जमीनदारो के पास पूरे अधिकार की व्यवस्था है। जमीनदारो के द्वारा किसी भी प्रकार का अत्याचार किया जाता है तो रैयत रेवन्यू अदालत मे अरज करके न्याय माग सकती है। यदि पहले से ही जमीनदारो को दी गई जमीन ले लेने के अधिकार को बढाने की आवश्यकता होगी, तो आपकी इस सिफारिश पर आगे विचार किया जाएगा।

आपके चित्तागोग के जिलाधीश को भेजे गये पत्र के विषय मे हमारा अवलोकन है कि सरकार की वर्तमान आवश्यकता का सार्वजनिक राजस्व-वसूली के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। उस वसूली के कार्य मे सर्वसामान्य नियमों को ही आपके मार्गदर्शक नियमो के रूप मे स्वीकार करके चलना है।

रेवन्यू बोर्ड के प्रतिनिधिमडल द्वारा राजाशाही के कमिश्नर जे एच हेरिंग्टन के पत्र के साथ बगाल सरकार को पेश किया गया २३-६-१७९२

राजाशाही कमिशनर २३-६-१७९२

इग्लैड मे यह आवश्यक लगा है कि जमीन मालिक को शेष किराया जल्दी वसूल करने के लिए, नियन्त्रण मे रहते हुए, किसानों की जमीन ले लेने का अधिकार दिया

जाए। इस देश मे भी अधिकार का दुरुपयोग न हो, इस विषय मे आवश्यक सावधानी रखते हुए यदि जमीनदारो को इस प्रकार का अधिकार दिया जाता है, तो वह आपत्तिजनक नहीं माना जाना चाहिये। इस विषय मे बोर्ड तथा काउन्सिल के गवर्नर जनरल निर्णय करने के लिए योग्य व्यक्ति माने जाएँ। और यह विषय आपके विचाराधीन भी है। इसलिए मै उसका अधिक विस्तार नहीं करता हूँ। फिर भी जमीनदारो को उनका अधिकार मिलना चाहिए और उस हेतु व्यवस्था बननी चाहिए ऐसा मानता हू इसलिये मेरा समर्थन देना मै अपना कर्तव्य समझता हूँ।

बोर्ड ऑव् रेवन्यू को सरकार का उत्तर २०-७-१७९२

आपकी जानकारी और मार्गदर्शन हेतु इसके साथ जमीनमालिक और जमीनदार किसानो को किराया वसूल करने के लिए किरायेदारो, तहसीलदारो और प्रजा की जमीन ले लेने के अधिकार को न्यायिक समर्थन प्रदान करने वाला नियमन भेजा जा रहा है।

परिशिष्ट ग

कोरोमडल के तटीय प्रदेश मे जनता की आतरिक सरकार

१ निस्सन्देह आज तक की सभी प्रकार की सरकारो मे जनता सरकार सर्वश्रेष्ठ है। आज कोरोमडल के तटीय प्रदेशो मे उसके अवशेष दिखाई देते है। वैसे तो उसमें अनेक विदेशी तत्त्व घुस गए है। जनशासन की विशेषता इन विषयो मे देखी जा सकती है कि सरकार को चुकाने का राजस्व जमीन की पैदावार का एक निश्चित हिस्सा होता है। वह अनाज के रूप मे चुकाया जाता है। प्रत्येक गॉव स्वय ही एक पूर्ण जाति होता है। वह राज्य के सरक्षण मे होते हुए भी अपना शासन अपनी ही व्यवस्था के अनुसार चलाता है।

२ प्रत्येक गॉव मे अनेक लोक अधिकारी होते है, जैसे कि न्याय करने वाला अधिकारी, गॉव का लेखा रखने वाला कनकपिल्लै, अनाज तोलने वाला, लोहार, नाई इत्यादि। अधिक प्रगतिशील गॉव मे वैद्य, ज्योतिषी आदि भी होते हैं। इन सब लोगो को गॉव की पैदावार से अपना हिस्सा प्राप्त होता है।

३ गाव में घर और बगीचे को छोडकर किसी की स्वतन्त्र स्वामित्व की भूमि नहीं होती है। गाव की भूमि सामूहिक स्वामित्व की होती है। वह एक साथ जोती जाती है और पैदावार उचित अनुपात मे सबको बॉट दी जाती है।

४ स्वामित्व की भूमि न होने पर भी व्यक्तियो को खूब लाभ होता है। लेखा मे उसको नि शुल्क भेट की जमीन (मान्यम्) कहा जाता है। कुछ अश तक वह

गॉव की ही व्यवस्था होती है। लोक अधिकारियो के लिए वह खेराती भूमि मानी जाती है। वह पुरानी ओर नई ऐसे दो शीर्षको के अतर्गत होती हे। पहला शीर्पक स्थाई होता है और उसका प्रारम्भ कब हुआ, यह शायद कोई नहीं कह सकता है। दूसरा हाल ही के दिनाक का होता हे जो दो प्रकार के अपरिचित लोगो को दिया जाता है। एक 'इनाम' कहा जाता हे, जहॉ कोई रसीद अथवा अग्रिम (बाना) देना नहीं पडता है। दूसरा 'श्रोत्रियम्' कहा जाता है, जहॉ जमीन के सही मूल्य से बहुत कम राशि देनी पड़ती है। इस सारी भूमि को सव मिलकर जोतते है। सरकारी जमीन को भी वे ही जोतते हे, परन्तु उसकी पेदावार का कुछ हिस्सा सरकार को मिलता है।

५ मन्दिरो एव ब्राह्मणो को पैदावार का कुछ अश प्राप्त होता है। मन्दिर के साथ चर्च को भी प्रथम अश प्राप्त होता है। यह धर्म के प्रति आदर और श्रद्धा के कारण तो होता ही है परन्तु करचोरी आदि को नियन्त्रण मे रखने का भी इससे अच्छा उपाय नहीं है।

६ पैदावार का कुछ अश तालाब और पानी के प्रवाह को सुरक्षित रखने के लिए दिया जाता है। यह अश पूरी भूमि की कुल पैदावार से होता है। अर्थात् सरकार और प्रजा का अश बाटने से पूर्व वह निकालकर दिया जाता है। परिणाम यह हे कि सरकारी धन से भी मान्यम की पैदावार तालाब इत्यादि की मरम्मत करने मे अधिक प्रयुक्त होती है।

७ धर्मस्थान मे वार्षिक पैदावार का नियमित हिसाब रखा जाता है।

१४ धर्म का प्रमुख सिद्धात है, खैरात और उदात्तता समाज के लिए लाभकारी वृक्षो को काटना, लगभग अक्षम्य अपराध माना जाता है। यात्रियो की सुविधा के लिए चौतरा बनाने के लिए अथवा धर्मशाला के लिए दान देना, व्यक्तिगत रूप से बडे पुण्य का काम माना जाता है। भविष्य मे भी उनका नाम इस प्रकार लोगो की स्मृति मे रहे, ऐसी उनकी इच्छा होती है।

३३ भूमि के लिए उत्तम खाद प्राप्त करने की दृष्टि से भेड-बकरियो से अधिक अच्छा कुछ हो ही नहीं सकता है। इसलिए भारत के लोग अपनी भेड़-बकरियो से कभी अलग होना नहीं चाहते। परन्तु ब्रिटिश सेना की टुकड़ियो के लिए यहा के लोगो से जबर्दस्ती उनके पशु छीन लिए जाते है। इस मुसीबत को दूर करने के लिए मैने सूचित किया था कि कपनी ही कुछ भेड-बकरियॉ खरीद ले और जागीर (चेगलपट्टु जिले मे) की जमीन मे उनका पालन करना प्रारम्भ करे। उनके लीद

की खाद पर पालन करनेवाले का अधिकार हो। ऐसा करने से आवश्यक भेडे भी मिल जाएगी और गाव के लोगो को असुविधा भी नहीं होगी। जहा भेड़ो का पालन होता है, वहा उनकी कीमत १ पेगोडा (एक प्रकार का चलन) की ७ से ८ भेडे होती है। सेना की टुकड़ियो को वे १ पेगोडा की ५ मिल सकती है।

जिसका उल्लेख पहले किया गया है, उस मेरे मित्र ने जनताशासन के एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण पहलू की ओर मेरा ध्यान दिलाया है। वह है रक्षा व्यवस्था। 'पालेगर का लागा प्रत्येक वस्तु पर होता है, परन्तु किसी भी वस्तु के खो जाने पर ढूढ निकालने का दायित्व भी उसीका होता है। चोरी और लूट को रोकने का अधिकारी को ही उत्तरदायी ठहराने से अच्छा दूसरा रास्ता हो ही नहीं सकता है। मेरी जानकारी मे मद्रास मे भी यह व्यवस्था थी। गवर्नर सॉन्डर्स के कार्यकाल मे प्रेसीडेन्ट और काउन्सिल के पास, उस प्रदेश मे रहने वाले एक यूरोपीय की शिकायत आई थी, कि पटनायक ने (पालेगर ने) नुकसान भरपाई करने के लिए इनकार किया था। पालेगर ने स्पष्टता की कि इस व्यक्ति ने (यूरोपीय) उसका कर देने से इनकार किया था, इसलिए उसका नुकसान भरपाई लेने का अधिकार नहीं बनता था। शायद इस प्रकार की व्यवस्था बनी रहे, इसके लिए भारतीय प्रकार की प्रामाणिकता चाहिए। यहा (इग्लेंड मे) तो (यदि ऐसी व्यवस्था होती है तो) वस्तु खोई न हो, तब भी पालेगर को नुकसान भरपाई करने के लिए कहा जायगा और ऐसा होने पर तो कुबेर का खजाना भी नुकसान भरपाई करने के लिए कम पड़ेगा। अन्यथा कयामत के दिन तक नुकसान भरपाई के लिये प्रतीक्षा करने की व्यवस्था कानून को करनी पडेगी।

परिशिष्ट घ
जमीन के अधिकार और ग्राम सगठन

९२ यह हर प्रकार से बहुत महत्त्वपूर्ण मुद्दा है कि जमीन बेचने के विषय मे सौदा हो, इससे पूर्व मालिकी के अधिकारो के विषय मे सभी बाते अच्छी प्रकार से समझ ली जाएँ। इसलिए तिन्नेवेली, पोलाम, रामनद और शिवगगा जिले मे मान्यम और देवस्थान की जमीन के अतिरिक्त, अन्य जमीन की मालिकी के विषय में स्थिति स्पष्ट समझना आवश्यक है।

एक अग्रहार वाडिकी अर्थात् ऐसे गाव जिनकी जमीन की मालिकी स्पष्टरूप से ब्राह्मणो की है।

दो पुदरा वाडिकी अर्थात् ऐसे गाव जिनकी जमीन की मालिकी स्पष्टरूप से शूद्रो की है।

तीन ऐसे गाव जहा की जमीन पूर्ण रूप से बजर हो गई थी और जहा शूद्रो को निमन्त्रित कर , उनको निवास करने और जोतने हेतु दी गई थी।

९३ **अग्रहार वाडिकी के विषय मे** जमीन को यह नाम ब्राह्मणो के कारण मिला हे। केवल इसलिए ही नहीं कि वे उच्च वर्ण के हे, तो ये गाव सर्व प्रथम उनको समर्पित किए गए थे इसलिए, और उनका इन गावो पर मुख्य अधिकार हे इसलिए। वह जमीन अनेक प्रकारो से प्राप्त तो हुई हे, परन्तु मुख्य रूप से राजा अथवा अन्य सम्पन्न लोगो के द्वारा उनको दी गई हे, और ब्राह्मणो को दान देने हेतु ही उन्होने क्रय की है। अनेक वर्ष व्यतीत होने पर इस के स्वामित्व मे अनेक परिवर्तन हुए हैं। मालिको की इच्छानुसार परिवर्तन करने के, बेचने के और खरीदने के अनेक उदाहरण है। प्रत्येक परिवर्तन, क्रय अथवा विक्रय के समय जमीन से सम्बन्धित गाव के प्रत्येक व्यक्ति की सहमति और अनुमति आवश्यक है। इसी स्वामित्व को 'पग' अथवा 'भागम्' कहा जाता है, जिसका अर्थ होता है हिस्सा अथवा अनुपात। चार 'पग' का एक 'काराई' होता है। प्रत्येक व्यक्ति के हिस्से मे अनेक 'काराई' होते है। गाव के कोष से इस 'पग' अथवा 'काराई' के अनुपात मै हिस्सा मिलता है। जमीन के 'याचम' हिसाब की तरह यह बहीखाता भी बहुत सावधानी से तैयार किया जाता है। भूमि के किसी भी निश्चित हिस्से पर किसीका भी अधिकार निरन्तर रूप मे नहीं होता। यही 'काराई' का अर्थ है। सपूर्ण लाभ और सपूर्ण हानि सबकी एक समान होती है। सबकी मालिकी के कठोर और निश्चित नियमो के अनुसार सबको हिस्सा मिलने के कारण पूरे गाव का जो राजस्व होता है, उसके लिए भी सभी समान रूप से जिम्मेदार होते है। यह व्यवस्था सबको इतनी अधिक अनुकूल लगती है कि निश्चित समय पर जमीन का परिवर्तन या बॅटवारा लगभग चिट्ठी डाल कर होता है। जमीन की मालिकी निश्चित समय के लिए बदलती है। इस प्रकार जमीन एक मालिक से दूसरे मालिक के पास जाती है, जिससे सबको समान लाभ मिल जाते है।

९४ **पुदरा वाडिकी के गाव** गॉव के निवासियो मे खूब भिन्नता दिखाई देती है। यह भिन्नता स्वामित्व की नहीं, अपितु जाति की ही अधिक दिखाई देती है। अन्तर केवल इतना है कि अग्रहार वाडिकी मे स्वामित्व ओर वर्चस्व ब्राह्मणो का होता है, जबकि पुदरा वाडिकी मे शूद्रों का। सामान्य रूप से ब्राह्मण शूद्रों को अपने साथ मिलने नहीं देते क्यो कि उनको लगता है कि इससे उनका महत्त्व और

प्रतिष्ठा कम हो जाएगी। दूसरी ओर शूद्र भी ब्राह्मणो को अपने साथ मिलने नहीं देते क्यो कि उन्हे भय लगता है कि ब्राह्मण अपनी श्रेष्ठता के कारण वर्चस्व स्थापित कर देगे, उनके अधिकार छीन लेगे और सत्ता जमा देगे। इस स्वाभाविक ईर्ष्या और आशका के साथ साथ धार्मिक दृष्टि से भी भिन्न जाति के होने के कारण दोनो के मध्य जमीन की अदल बदल या क्रयविक्रय नहीं होता है। अत आर्थिक सन्तुलन बना रहता है। जाति भेद तो हमेशा रहता ही है। आपकी विशेष जानकारी के लिए मै एक रैयत से दूसरे को जमीन बेचने का मुसद्दा साथ मे भेज रहा हूँ। साथ ही इन दस्तावेजो का अनुवाद भेज रहा हू।

करारपत्र मे प्रथम वार, तिथि, महिना और मलबार मे चलने वाले साठ सवत्सर के अनुसार वर्ष का नाम लिखा जाता है। शालिवाहन शक और कलियुगाब्द लिखा जाता है। नक्षत्र और शुभ मुहूर्त भी लिखा जाता है और बाद मे उसका मुसद्दा प्रारम्भ होता है।

एक 'अ' गॉव का 'क ख', जिसके २८ भाग होते है, वह उसी गॉव के 'च छ' को यह करारपत्र लिख कर देता है। अर्थात् मेरे छ हिस्सो मे से एक हिस्सा मै आपको बेचता हूँ, उसका यह करारपत्र मैने लिखा है। यह सौदा पूर्ण और अबाधित है। आपने कीमत अदा की है, मैने स्वीकार की है। एक सौ चक उसकी कीमत के तहत मुझे मिले है। अब यह जमीन आपकी है। इसलिए उसके नजा, पुजा, जमीन, मिट्टी, पानी, पत्थर, खजाना, जगल की पैदावार, कुऑ, जमीन के अदर का पानी, जमीन पर उगने वाले वृक्ष, जमीन से प्राप्त प्रत्येक लाभ पीढी दर पीढी, जब तक कावेरी मे पानी बहता है, वनस्पति उगती है, तब तक, दूसरे समय के अन्त तक, क्रय, विक्रय, बक्षिस आदि किसी भी प्रकार के परिवर्तन के अधिकार सहित आपकी है। इसलिए मेरी पूर्ण सहमति से मैं यह जमीन 'च छ' को देता हूँ। यह करारपत्र पेरामल पिल्लाई ने लिखा है, जो गॉव का कनकपिल्ले है और गाव के सभी मालिको की ओर से अधिकृत होने की अपेक्षा करता है।

९५ इस दस्तावेज मे अधिकार छोड़ने की और प्राप्त करने की गॉव के लोगो की भावना पूर्ण रूप से व्यक्त होती है। अधिकारो की व्याख्या एकदम निश्चित स्वरूप मे हुई है फिर भी उसकी शैली आज के जैसी नहीं है। यह करारपत्र सार्वत्रिक रूप से जिन अधिकारो की मान्यता प्रस्थापित हुई है, उसके परिणामस्वरूप तैयार हुआ है।

९६ अन्त मे ऐसी जमीन है जहा निवास करने वाले अपनी इच्छा के अनुसार उसको बेच नहीं सकते है। देश का बड़ा हिस्सा यही जमीन है। पुदरा वाडिकी के गॉवो के साथ उसकी उलझन हो जाती है। यह जमीन उसके सभी मालिको की मृत्यु हो जाने के कारण राज्य के अधिकार मे आती है, अथवा वह सर्वथा ऊसर और खराब जमीन होती है, जहा लोगो को निवास करने के लिए और जोतने के लिए निमत्रित किया गया होता है। परन्तु कुछ भी हो, उसके विषय मे कुछ निश्चित नहीं कहा जा सकता है। हमारे लिए इतना जानना पर्याप्त है कि इस प्रकार से प्राप्त हुई जमीन जब सर्वप्रथम मालिकी के अधिकार से दी गई होगी, तब बाद मे पीढी दर पीढी उसी मालिक के पास रही होगी। प्रत्येक जमीन रखने वाले की जमीन भी उसके घर के समान ही प्रसिद्ध होती है। उसकी मालिकी का अधिकार छीन लेने का प्रयास नहीं होता है। अग्रहार वाडिकी और पुदरा वाडिकी की तरह उसके लेने और देने के सौदे नहीं होते है।

९७ अनेक वर्षो तक रैयत अपनी जमीन जोतता है। कोई विपत्ति न आने तक, अथवा पानी कम न होने तक यह क्रम बना रहता है। व्यक्तिगत आपत्ति के समय वह अपनी जमीन गिरवी रखता है और अच्छी स्थिति आने पर उसको मुक्त कर लेता है। पानी आदि की कमी होने पर गॉव के सभी लोग इकट्ठे होते हैं और उपलब्ध पानी से कुल कितनी जमीन जोती जा सकेगी, उसका अनुमान कर प्रत्येक जमीनमालिक को, अनुपातन जोतने के लिए हिस्सा निश्चित किया जाता है। सभी सामूहिक रूप से ही खेती करते है और जब फसल काट ली जाती है, तब अपनी अपनी मूल जमीन मे लौटते है।

९८ इस काश्तकारी के विषय मे आपको बताने मे मैने कोई जानकारी शेष नहीं रखी है। यह सारी जानकारी, सम्पूर्ण विवरण के साथ आपके पास रहेगी, तो यहॉ हमेशा के लिए निवास करने के लिए क्या क्या करना पड़ेगा, वह आपको ठीक ध्यान मे रहे इस हेतु यह विवरण भेजा है।

९९ इस स्थिति के अतीत मे झाकने पर समझमे आता है कि अनेक युगो की क्रान्तियो मे, प्रथम राजा के शासन से लेकर अन्तिम हिन्दू राजा के पतन तक के दीर्घ काल मे जमीनधारक अथवा जमीन के बॅटवारे के सम्बन्ध मे अथवा प्रजा की मालिकी के विषय मे कभी भी किसी प्रकार का सन्देह नहीं रहा है। प्रजा की मालिकी एक स्वीकृत विषय है, सिवाय कि वह खराबे की जमीन है अथवा अन्यान्य कारण से राज्य के अधिकार मे गई है। अत्यन्त दूर के अतीत

से लेकर आज तक बिना किसी भी प्रकार की दखलदाजी जमीन की मालिकी प्रजा के पास ही रही है। सर्वस्वीकृत नियमो के अनुसार इन अधिकारो की पुष्टि होती रही है। उनके इतिहास मे और कानून मे अनेको बार प्रजा के अधिकार का उल्लेख होता रहा है।

१०० हिन्दू शासन पुरानी विचारधारावाला, अत्याचारपूर्ण और सिहासन पर बैठे शासक की मनस्वी इच्छा के अनुसार चलता है, ऐसा मानना एक परम्परा बन गई है। सैद्धातिक रूप से बात तो ऐसी ही है। परन्तु व्यवहार मे ऐसा कुछ भी दिखाई नहीं देता। उनके धर्म के आदेश कानून जेसे प्रभावी और परिणामकारी होते है। अपने व्यवहार मे ये शासक अच्छे और न्यायी होते है। विगत समय मे उनके देश पर मुसलमानो के आक्रमण हुए और हिन्दू न्यायतन्त्र मे मुसलमानी कानून भी प्रविष्ट हुए। परिणामस्वरूप उलझने निर्माण हुई और न्याय के विषय मे साम्प्रदायिक पक्षपात के तत्त्व प्रवेश कर गए। फिर भी जमीन के अधिकारो के विषय मे मूलभूत कोई बदलाव नहीं हुआ। सबसे पहले जिसको जमीन जोतने के लिए मिली,वह कितना भी गरीब हो, तब भी उसकी जमीन कभी छीनी नहीं जाती थी। हॉ, उसे अपना सार्वजनिक हिस्सा अवश्य देना पड़ता था। इस अधिकार का उल्लघन अब शिवगगा, तिन्नेवेली और अन्य हिस्सो मे हो रहा है, फिर भी उनकी मूल न्यायभावना मे अभी भी बदल नहीं आया है।

परिशिष्ट च
भारत मे ब्रिटिश सूदखोरी के कुछ नमूने

नामदार नवाब वलाजाह के जन्नतनशीन होने के बाद प्रस्तावित व्यवस्थाओ की जो चर्चा हो रही है उसके कारण से सार्वजनिक रिकार्ड के विषय मे सामान्य रूप मे होता है उससे कुछ विशेष जानकारी के साथ ही नवाब के राजस्व विभाग के प्रशासन की पद्धति के विषय मे भी कुछ कहने की आवश्यकता प्रतीत होती है, क्यो कि मेरे विचार मे उसमे परिवर्तन करने की अत्यधिक आवश्यकता है। वह इस देश के हित मे होगा, क्यो कि यह प्रदेश प्रत्यक्ष रूप मे नवाब के शासन मे होने के बाद भी उसकी रक्षा करने का और उसका भला करने का सरकार का दायित्व है। इसके अतिरिक्त जिन्होने व्यक्तिगत रूप से नवाब को पैसे उधार दिये हैं उन्हे अपनी राशि सुरक्षित रूप से वापस प्राप्त हो यह देखना भी ससद का दायित्व है। नामदार नवाबने कम्पनी के सैनिकी थाने का निभाव करने का भी वचन दिया हुआ है। इस कारण से भी मामला विचारणीय है। यूरोप के

सज्जनो का साहूकारी का लम्बे अरसे से जो प्रचलन रहा है, और कर्नाटक सरकार जिस प्रकार अपने राज्य के कुछ प्रदेश गिरवी रख रही हे उसे देखते हुए और नवाब की मृत्यु के बाद मुझे जो जानकारी प्राप्त हुई है और उस आधार पर जो विचार मेरे मनमे आ रहे है उन्हे मै बोर्ड के सम्मुख प्रस्तुत करुगा। साथ ही मुझे यह अभिप्राय देने की भी अनुमति दी जाए कि डायरेक्टरो का यह माननीय कोर्ट निश्चित रूप से इस पद्धति के विरुद्ध आदेश और अवलोकन देता है तो भी अभी मै जो जानकारी प्रस्सुत करने जा रहा हू उस जानकारी के अभाव मे यह पद्धति बनी ही रहती है।

नवाब के राज्य के दक्षिण के जिले, विशेष रूप से तिनेवेली, प्रेसीडेन्सी से पर्याप्त दूरी पर होने के कारण इस प्रकार के नाटको के लिये रगमच बन गये है, और अब तो नेलोर, आर्कोट और त्रिचिनापल्ली मे भी वही सब कुछ हो रहा है जो अत्यन्त कुख्यात है।

लेनदेन मद्रास मे होता है। वहीं पर नवाब ने किश्त चुकानी होती है। नवाब और कुछ उद्योगगृहो, अथवा नवाब और कम्पनी के नौकरो के बीच नवाब के सार्वजनिक कार्यक्रमो के लिये निश्चित की गई राशि चुकाने के विषय मे करार होने के साथ इस लेनदेन की शुरुआत होती है। साहूकार को पूर्व का अनुभव होता है, इसलिये वह केवल प्रदेश गिरवी रख लेना ही पर्याप्त नहीं समझता। वह व्याज चुकाने की राशि भी नवाब के हाथ मे देना आवश्यक मानता है। गिरवी रखे हुए प्रदेश की व्यवस्था हेतु उसकी ओर से एक व्यक्ति की नियुक्ति करना भी वह आवश्यक समझता है। साथ ही उसे वहा एक दमदार अधीक्षक का होना भी आवश्यक लगता है। उसका सन्धान जिले के सैनिकी अधिकारी के साथ होना भी उसे आवश्यक लगता है। वह विभिन्न प्रकार के सट्टे भी करता है जिसके तहत वह व्याज मे खासी बढोतरी कर सकता है, और अपने हिस्से की राशि सग्रहित करना सरल बना ले सकता है। इस सन्धान के कारण से दोनो पक्षो के हितो की रक्षा होती है। एक पक्ष को स्थानीय स्तर पर पूर्ण अधिकार होता है, दूसरे को वहा के द्रव्य मे रुचि होती है। आगे इस व्यवस्था का सन्धान उस व्यक्ति से होता है जिसकी स्थानीय अमलदार के रूप मे नवाब के द्वारा नियुक्ति हुई है। उसके बाद व्यवस्था कुछ इस प्रकार से की जाती है। साहूकार जिस व्यक्ति की वहा अधीक्षक के रूप मे नियुक्ति करता है वह उस जिले की व्यवस्था देखेगा और नवाब के द्वारा उसे फौजदार का पद दिया जाएगा। फौजदार, सेना अधिकारी और साहूकार - इन तीनो के बीच दरबार मे जो करार हुआ है उसके अनुसार व्यवस्था बिठाई जाएगी। इस व्यवस्था को पूर्णता प्रदान करने के लिये साहूकार की ओर से तहसीलदार की नियुक्ति होगी,

जिससे निरन्तर, एक दूसरे से समन्वित, एकरूपता से व्यवहार निभेगा। इस व्यवहार से नामदार नवाब का एक उद्देश्य सिद्ध होगा। उधार ली हुई राशि की किश्त चुकाना सुगम होगा और उसके लिये तत्काल अपने खजाने से पैसा निकालना नहीं पडेगा। वह अपना प्रदेश और प्रजा को साहूकार की ओर से नियुक्त प्रशासक के अधिकार मे दे देगा। दरबार मे जो करार हुआ है उसके तहत गिरवी रखे हुए प्रदेश पर नवाब का कोई नियन्त्रण या अधिकार नहीं रहेगा। प्रशासक का तो उस प्रदेश या प्रजा से प्रत्यक्ष कोई सम्बन्ध है ही नहीं। अत साहूकार के हित की रक्षा हो और दिये हुए पैसे कम से कम समय मे वापस प्राप्त हो जाय इस उद्देश्य से उसे जचने वाले किसी भी प्रकार के उपाय वह कर सकता है।

विभिन्न प्रदेशो मे सरकारमान्य सूद का दर अलग अलग होता है। साहूकार का दरबार मे कितना प्रभाव है वह उसका आधार कतई नहीं होता है। सामान्य रूप से व्याज का दर मासिक ४ प्रतिशत है। राजस्व वसूल करने के लिये नियुक्त लोगो का वेतन उसमे जुडता है। यह वेतन निश्चित है और वह नवाब ने देना होता है। तहसीलदार के द्वारा किये गये व्यय से यह अधिक होता है। यह इस सौदे का स्वाभाविक लाभ माना जाता है। जैसे ही व्यवस्थापक अपना पद ग्रहण करता है, तुरन्त अपने सहायक भी नियुक्त कर लेता है। ये लोग सहव्यवस्थापक, प्रशासक और किराया वसूल करनेवाले होते हैं। इसके बाद इस उत्पीडक व्यवस्था का दूसरा अक प्रारम्भ होता है। तहसीलदार अत्यन्त दुराग्रही होता है। व्यवस्थापको को उसकी मागे पूरी करनी पडती है। देशी और यूरोपीय दोनो साहूकार उसकी सहायता करते है। साहूकार अग्रिम राशि देता है। प्रथम चरण मे तहसीलदार इस अग्रिम राशि के लिये जमानत देता है। यह जमानत वहा की प्रजा अथवा अनाज होता है। आगे चलकर साहूकार की तीन चौथाई राशि अनाज के रूप मे चुकाई जाती है और उसके नौकरो के कब्जे मे रखी जाती है। शेष एक चौथाई राशि प्रजा राजस्व के रूप मे और सूखे अनाज की खेती करके चुकाती है। मौसम के प्रारम्भ मे ही यह राशि प्रजा से जबरन वसूल की जाती है। इसके लिये पैदा होने से पहले ही फसल को गिरवी रखना पडता है। ली हुई धनराशि का व्याज तो उसी क्षण से प्रारम्भ हो जाता है।

इस समय शाहुकार अपने नौकरो और चपरासियो को गाव मे भेजता है। उनके साथ नवाब के व्यवस्थापक का वहा के रक्षको के लिये लिखित आदेश होता है। यह आदेश प्रजा से जमानत वसूलने के कार्यमे सहायता करने के लिये होता है। लिखा तो होता है 'सहायता करना', परन्तु उसका निहितार्थ होता है 'आदेशानुसार करना'।

सम्पत्ति इतनी अनिश्चित होती है और वसूलने की चिन्ता इतनी अधिक होती हे कि गाव की परम्परा और प्राप्त अधिकार से ऊर्जा प्राप्त कर वह यथासम्भव कठोर कार्यवाही करता है। अत इस प्रकार घटना घटती हे - रैयत यदि पैसा देने मे हिचकिचाती हे तो उसे भूखा रखा जाता है, डण्डे से ठोका जाता है और जो मार रहा है उसका भत्ता देने के लिये भी उसे विवश बनाया जाता हे। जिस व्यक्ति को एक सौ चक्रम (लगभग ४० पेगोडा) चुकाना है उससे एक सौ दस या पन्द्रह चक्रम वसूले जाते है। यदि यह राशि स्रोत समाप्त हो जाता है - और वह होता ही है - तो उसे अपनी सम्पत्ति - पशु अथवा बीज - दे देनी पडती है।

यह तो इस पद्धति का प्रथम चरण है। यह सारी स्थिति का मूल स्रोत है। इसका दूसरा चरण इस प्रक्रिया का परिणाम है। इन दोनो चरणो मे कार्य सिद्ध करने के लिये जिन साधनो का प्रत्यक्ष प्रयोग किया जाता है उनका या उसका भविष्य मे राजस्व पर क्या प्रभाव होगा उसका विचार नहीं किया गया है। इस नाटक का सूत्रधार प्रत्यक्ष रगमच से पर्याप्त दूरी पर और अदृश्य होता है, तथा आदेशो का पालन करनेवाले प्यादो की सवेदना निरन्तर अभ्यास के कारण बधिर हो जाने के कारण से व्याज के उपर व्याज और उसके भी व्याज के अफीम के नशे मे अन्त करण गहरी नींदमे पड जाता है।

अभी तक तो मै ने रैयत से प्राप्त की जानेवाली जमानत की राशि की सहायता से पैसा वसूलने की प्रगति का वर्णन किया है। अब प्रत्यक्ष फसल प्राप्त होने तक क्या क्या होता है उसका भी वर्णन करना कम समझदारी का काम नहीं है।

इस कार्य मे जुटे लोगो का प्रयास अनाज का मूल्य कृत्रिम रूप से बढाने का होता है। यदि अनाज की कीमत कम होगी तो ऊचे दर के व्याज का पैसा वे किस प्रकार चुका सकेगे ? वही तो उनके लिये आय का एक मात्र स्रोत है। यदि वे व्याज नहीं चुका सकते है तो साहुकार की बडे लाभाश की अपेक्षा पूर्ण नहीं होगी। इस उद्देश्य को सिद्ध करने का उपाय सरल और सुलभ होता है। प्रजा इतनी विवश होती है कि जैसे ही फसल पैदा होती है उसे जल्दी से बेचनी पडती है क्यो कि वसूली करनेवाले का डण्डा उसके सिर पर ही होता है। अनाज खरीदने वाला अपना एकाधिकार प्रस्थापित कर देता है। मौसम समाप्त होते होते वह अनाज के भाव बढा देता है। प्रजा को ऊचे दाम देकर अनाज खरीद करना पडता है क्यो कि उसके पास बचा खुचा अनाज तब तक समाप्त हो जाता है। यदि मौसम की समाप्ति पर किसी के पास अनाज बचता है तो उसका समान रूप से बटवारा करके बेचने के लिये बाध्य किया जाता है। इस प्रकार से बाध्य बनाते समय उसे सौगध दी जाती है। इस सौगध के कारण (अनाज पैदा करनेवाले भी)

उसे ऊचे दाम पर खरीद करते है। यह उनकी प्राचीन परम्परा और रीति है क्यो कि नामदार नवाब वलाजाह के साथ तिनेवेली के बुनकरो को जब कम्पनी के रेसिडेन्ट के सीधे आधिपत्य मे जाना पडा तब भी उन्होने सब कुछ छोडा परन्तु सौगध लेने और देने का अधिकार लाख प्रयासो के बाद भी नहीं छोडा था।

सरकार के निम्न श्रेणी के नौकर प्रजा के हित की रक्षा के लिये होते है परन्तु वे तो सीधे ही साहूकार के कृत्रिम नियन्त्रण मे आ जाते है। बिना उसकी अनुमति एक आना, या अनाज का एक कण भी बिना चोरी किये इधर उधर नहीं किया जा सकता है। मै देखता हू कि गिरवी रखे गये जिले मे जैसे ही साहूकार अथवा उसका प्रतिनिधि पहुचता है, प्रत्येक गाव मे उसकी सूचना पहुच जाती है। उसकी जानकारी और उसकी अनुमति के बिना पैसा या अनाज गाव से बाहर ले जाने पर प्रतिबन्ध होता है। इस प्रतिबन्ध का दायरा पेगोडा, मान्यम् और शिबन्दी तक पहुच जाता है। कचहरी से इसके व्यय हेतु परवाने दिये जाते है। जिसके पास सनद होती है उसे कचहरी मे आकर उस सनद पर हस्ताक्षर और मुहर लगवा कर परवाना प्राप्त करना पडता है। जिस के पास इस प्रकार का परवाना होता है वही व्यय कर सकता है।

सही मौसम मे यदि तुकवी (कृषि के लिये अग्रिम राशि) के प्रबन्ध से पशु वापस लाये जा सकते है, कृषि के लिये बीज बचाकर रखे जा सकते है तो सहूलियत होती है। परन्तु इस वसूली के चक्कर मे तत्काल आवश्यकता की पूर्ति के लिये इन दोनो की बलि चढ जाती है और साहूकार की झोली भरती है। इसका नियन्त्रण करने का कोई उपाय नहीं है अत इस स्थिति मे सुधार होने के भी कोई आसार नहीं है। अनाज के दर बढाने के लिये मेने कुछ उपाय सूचित किये, परन्तु यह विषय तो अनन्त और असीम है। तिनेवेली का व्यवस्थापक वहा के पालेगर को रक्षा करने के बदले मे मिलनेवाले अनाज को भी बेचने की अनुमति नहीं देता है। विगत समय मे अनाज का अभाव हो गया था। तब पालेगर लोगो को अनाज बाट रहा था। इस प्रकार की शिकायत नवाब के व्यवस्थापक एकताब खान की ओर से कम्पनी के जिलाधीश के पास पहुची थी। (मेरे पास प्रमाण नहीं होता तो मैं यह बात बताने का साहस नहीं करता।) पालेगर के अनाज बेचने का अनिष्ट सरकार के द्वारा हस्तक्षेप किये बिना दूर नहीं हो सकता है। सरकार ने अनाज भरे हुए जहाज भेजे। जिनका एकाधिकार था उन लोगो को अनाज खरीदने के लिये समझाया गया। उसमे उनका भी लाभ है यह बताया गया। इस से बाजार मे अनाज की आपूर्ति हो सकती थी। इतना करने पर भी कम्पनी एकाधिकार के प्रभाव से मुक्त नहीं रह सकी। लोग तो एकाधिकार वाले व्यापारी द्वारा कितने भी ऊँचे दाम बताये

जाने पर भी खरीद करने के लिये विवश थे। यह अनाज भी नवाब की रक्षा के लिये तैनात सैन्य के जत्थे के निभाव हेतु ख़रीदा जाता था।

इतना बताने के बाद यह सरकार - यदि इसे सरकार कहा जा सकता हे तो - कितनी अत्याचारी है इस विषय मे किसी प्रकार की टिप्पणी करने की कोई आवश्यकता नहीं है। इसके परिणाम स्वरूप लोग गरीब बन जाते है, राजस्व कम हो जाता है यह तो एक बात है परन्तु नामदार नवाब के सारे स्रोत किस प्रकार सूख जाते हैं यह वताना भी उपयोगी रहेगा।

बिना किसी अत्युक्ति से भी अनुमान किया जा सकता है कि केवल एक तिनेवेली प्रदेश उपर वर्णित शर्तो पर ३,००,००० पेगोडा के बदले मे गिरवी रखा गया है। चार प्रतिशत के व्याजदर से ६ मास के ७२,००० पेगोडा व्याज की राशि बनती है। पैसा सूद पर देनेवाले की शिबन्दी का खर्च ३,००० पेगोडा से कम नहीं होता है। अत ६ मास का सरकार का नुकसान ७५,००० पेगोडा हुआ।

एक सज्ञन निजी तौर पर तीन वर्ष से भी कम समय मे ५०,००० पाउण्ड से भी अधिक राशि जमा कर सकता है तो वह महदाश्चर्य ही माना जाना चाहिये। परन्तु यह आश्चर्य यदि सत्य स्थिति है तो उसका खुलासा होना चाहिये या उसके प्रमाण दिये जाने चाहिये।

परन्तु दृश्य यहा समाप्त नहीं होता। प्रमुख साहूकार और व्यवस्थापक का लेनदेन पूरा हो जाने के बाद निचले स्तर के अधिकारियो का इसी प्रकार का लेनदेन शुरू होता है। यह लेनदेन पचास हजार से लेकर एक लाख पेगोडा का होता है। इससे सरकार का बोज और बढ जाता है। आपत्ति के समय मे पैसे उधार दिये होने पर भी व्याज तो लिया ही जाता है। जब तक पूरी किश्ते नहीं चुकाई जातीं तब तक व्याज देना होता है। दूसरी ओर देनदार का दण्ड, गुड्डियम, दण्ड की भरपाई आदि से तो छुटकारा होता नहीं है। अत उसके व्याज से भी छुटकारा नहीं होता है।

गिरवी रखे गये प्रदेश के बदले मे प्राप्त की हुई राशि तो व्यवस्थापक को वापस करनी ही होती है। इस देश की परम्परा भी उसे ऋण चुकाने के लिये बाध्य करती है। अत उसकी कल्पना मे जो भी आते हैं वैसे प्रयास वह ऋण चुकाने के लिये करता है। अत मन्दिरो और मठो को दिये जाने वाले दान मे कटौती होती है, वेतनभोगियो के वेतन स्थगित हो जाते है, कुछ खर्चेपानी के लिये थोडी राशि उन्हे तत्काल उपयोग के लिये दी जाती है। इनकी प्रमुख आय तो भत्तो की होती है और शेजवाल का काम करते हुए वे इसको अधिकारपूर्वक प्राप्त कर लेते हैं। साथ ही, कुशल होने के कारण से वे बहुत

सारी भेट भी प्राप्त करते है। व्यवस्थापक का अनुभव परिपक्व होने के कारण से उसे मालूम होता है कि प्रजा को बन्धक बनाने से उसकी आर्त पुकार दया और मानवता से प्रेरित होकर अग्रेज सरकार सुनेगी, अथवा एक नीति के तहत भी विद्रोही और अनुशासनहीन प्रजा के कोलाहल को शान्त करने का प्रयास करेगी। अत सरकार जब आपत्तिग्रस्त होती है तभी वेतनभोगियो के बाकी भत्ते और वेतन चुकाने के लिये बाध्य करने हेतु सारे ससाधन और स्रोत समाप्त कर दिये जाते है।

यदि वर्तमान व्यवस्था का यह निरूपण सही है तो ऐसा प्रश्न स्वाभाविक रूप मे पूछा जा सकता है कि इस स्थिति मे राजस्व क्यो समाप्त नहीं होता है। क्यो कि मेरे द्वारा वर्णित इस स्थिति की दिशा तो सर्वनाश की ओर ही सकेत करती है। उसे कोई भी, कुछ भी बचा नहीं सकता। खेती के ससाधन क्रमश कम होते हैं, अनाज का भाव बढता जाता है। (ब्रिटिशरो की अमानवीयता के कारण) भारत मे इस प्रकार का दुष्ट सिद्धान्त प्रचलन मे है कि अकाल के समय मे सरकार के सौभाग्य से अधिक कमाई करने का अवसर होता है क्यो कि अनाज का भाव ऊचा होता है और अनाज का अभाव होने के कारण से लोगो को ऊचे दाम देकर भी अनाज खरीदना पडता है। (यह सरकार का भी दुर्भाग्य माना जाना चाहिये।) जब अकाल नहीं होता है तब तो अनाज सुलभ होता है। उसे बाहर भेजना भी कठिन होता है। अभाव के समय मे उसी अनाज से लोगो का निभाव होता है। जब आपूर्ति माग से कम होती है तब बाजार के नियम के अनुसार भाव ऊचे ही होते हैं।

राजस्व वसूल करने के लिये साहुकार का इस प्रकार का व्यवहार कोई नई बात नहीं है। परन्तु यूरोपीयो के भारत मे आने से पूर्व इतनी शोषणपूर्ण सूदखोरी यहा नहीं थी। इसका अनिवार्य परिणाम यह हुआ है कि इस देश के सभी ससाधन समाप्त हो गये है, लोगो की सम्पत्ति नि शेष हो गई है और ह्रास का सिद्धान्त लागू हो गया है। इसमे किसी को कोई सन्देह नहीं है। सरकार के अनेक कृत्रिम और कठोर उपायो के बाद भी यह तथ्य किसी से छिपा नहीं रह सकता। मैं इस तथ्य का गम्भीर रूप मे अनुभव कर रहा हूँ। सन् १७९२ मे की गई सन्धि के तहत हमने सुरक्षा का वादा किया था उसे पूरा नहीं किया जा सकता है इसलिये मै चिन्तित हू। साथ ही, कोरोमण्डल के तटीय प्रदेश के ससाधन ही ब्रिटिश हितो का आधार है। राजस्व वसूल करने की इस पद्धति से सारे ससाधन ही नष्ट हो जाएँगे और हमारी सुरक्षा भी समाप्त हो जाएगी। नामदार नवाब जब किश्ते चुकाना बन्द कर देगे तब होनेवाली क्षति हम पूरी नहीं कर पाएँगे। हमारे द्वारा की जानेवाली वसूली और चुकाई जाने वाली राशि हमे उचित प्रतीत होती हो तो भी उसके

साथ उपरिवर्णित सभी अमानवीय एव असाधारण उपाय जुडे हुए है। जब यह पद्धति नाकाम हो जाएगी तब समग्र प्रजा पूर्ण रूप से दरिद्र वन गई होगी। हमे तव उस स्थिति को स्वीकार करने के लिए सिद्ध होना पडेगा। इस स्थिति मे हम नवाव से उसका प्रदेश छीन लेगे। परन्तु हमे तो नष्ट विनष्ट प्रदेश ही मिलेगा। उस समय उदार और अनुकम्पा से पूर्ण सरकार का रूप धारण करना पडेगा और प्रजा की सहायता करनी पडेगी। हमे जब बहुत आवश्यकता होगी तभी हमारी आय के स्रोत बन्द हो जायेगे। मानवता के नाते उस समय भी हमको प्रजा की सहायता करनी पडेगी। यह एक उलझनभरी स्थिति है। कोई भी ज्ञात उपाय हमे इससे उबार नहीं सकता है। सन् १७९२ की सधि के कारण तो हमारी स्थिति और भी द्विधापूर्ण बन गई है। उस सधि के तहत ससद ने सभी प्रकार का ऋण चुकाने का अभिवचन दिया है। हम उसे निलम्बित नहीं कर सकते है। सैन्य का वेतन रोकने पर तो हम अपने ही उपर सकट ढाएँगे।

इतने महान अनिष्ट के भय तथा उसके परिणामो का निवारण करने का विचार करना और उपाय ढूढना ही वर्तमान सरकार की महती आवश्यकता है। मेरे लिये भी यह अत्यन्त प्रक्षुब्ध करनेवाली बात है कि इतना बडा विनाश ढाया जा रहा है और उसका परिणाम भी कल्पना मे आ रहा है तब भी उसे रोकने का उपाय ढूढने मे मै असमर्थता का अनुभव कर रहा हू।

इस प्रकार के व्यवहार को प्रतिबन्धित करने का एक भी उपाय कारगर सिद्ध नहीं हुआ है। एक यूरोपीय के लिये देशी नौकरो के माध्यम से इस प्रकार के आदेशो की अवज्ञा करना बहुत सरल है। सूदखोरी का लाभाश इतना बडा होता है कि साहसी लोग लालच रोक नहीं पाते। यूरोपीय लोगो का दरबार मे प्रवेश प्रतिबधित करना भी परिणामकारी नहीं होगा क्योकि व्यवहार के और रास्ते तो खुले ही है। सुदूर पालमकोटा मे रहनेवाला अधीक्षक चेपोक मे अत्यन्त समीप रहनेवाले ग्रामवासी के समान ही सरलतापूर्वक नवाब तक अपनी माग पहुचा सकता है। जब तक स्वय नवाब को अपना हित समझमे नहीं आता है और अपनी प्रजा एव अपने प्रदेश को सूदखोरो के हवाले कर देना बन्द नहीं करता है तब तक इस भारी लाभाश की लालच से बन्द कानो को विवेक और नीतिमत्ता की ध्वनि सुनाई नहीं देगी।

यह रोग अत्यन्त हठी है और इसका मूलगामी उपाय करने की आवश्यकता है। मेरा अभिप्राय नि सन्देह रूप से यह है कि इसके मूल कारण को दूर करना ही एक मात्र उपाय है। किश्ते चुकाने के लिये जिन प्रदेशो को नवाबने गिरवी रखा है उन प्रदेशो को नवाब के कब्जे से पूर्ण रूप से मुक्त कर देना चाहिये। नवाब का व्यवहार देखकर इस

भयावह स्थिति के सही कारण की कल्पना कोई भी कर सकता है। इस एक ही मामले मे किस सीमा तक और कितने प्रकार से व्याज का हिसाब होता है इसकी कल्पना तक किसीको नहीं हो सकती। पूरे कर्नाटक मे यह जाल फैल गया है। फिर भी भयसूचक शखनाद सुनते ही समान उद्देश्य के लिये सब इकट्ठे हो जायेगे। दरबार को सूद पर पैसा देने वाले उद्योगगृह व्यक्तियो से पैसा लेते है। अत ये व्यक्ति भी इस सूदखोरी से सीधे नहीं तो परोक्ष रूप मे सम्बन्धित है। उन्हे भी इसका उतना ही भय है जितना प्रत्यक्ष रूप मे जुडे हुए लोगो को है। प्राप्त होने वाले व्याज का लाभ भी सभी के समान सरोकार का विषय है। इस सिद्धान्त के समान सूत्र से जुडे हुए लोग नवाब की सहायता करने के, तन्त्र को सुव्यवस्थित करने के और राष्ट्रहित के किसी भी प्रयास का विरोध करेगे।

नामदार नवाब के समक्ष मै ने जो प्रस्ताव प्रस्तुत किया है उसमे कम्पनी बहुत सी सहूलियत दे रही है यह मै जानता हूँ। परन्तु जिस भयावह अनिष्ट के आसार मुझे दिखाई दे रहे है उनके चलते मै इससे अलग किसी भी प्रकार का विचार नहीं कर सकता। नवाब की सरकार तो राजस्व के सभी स्रोत नष्ट कर देने पर तुली हुई है।

∴ सन् १९६६ से कुछ ब्रिटिश अभिलेखागारों से लेखक द्वारा सकलित जानकारी के आधार पर यह आलेख तैयार किया गया है। प्रमुख रूप से १९८०-८१ में तमिलनाडु एव पश्चिम बगाल के अभिलेखागारों से यह जानकारी प्राप्त हुई है।

४. पिछडेपन का प्रश्न

१

इतिहास मे इससे पूर्व कभी नहीं हुआ उस प्रकार आज भारत मे एक दूसरे से बिलकुल भिन्न ऐसे दो समाज अस्तित्व मे है। इन दोनो का एक दूसरे के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है, कोई व्यवहार नहीं है, दोनो एक दूसरे के समान्तर चलते है। एक समाज ऐसा है, जो बहुत छोटा है परन्तु छोटा होते हुए भी उसमे कई करोड लोगो का समावेश हो जाता है। उसके विचार, उसके ससाधन, उसकी प्रेरणाएँ, उसके मनोरजन के स्रोत भारत के बाहर है। इस समाज मे सभी वैभवपूर्ण जीवन नहीं जीते हैं। उसमे भी अनेक लोग ऐसे है, जो तपश्चर्या करते है। कई स्वय को प्राचीन भारतीय मूल्यो के लिए, समाजवाद के लिए, महात्मा गाधी के वैश्विक विचारो के लिए समर्पित मानते हैं। परन्तु ये सब एक नहीं तो दूसरे प्रकार से अधिकार मे बैठे हुए है। स्थिति ऐसी बनी हुई है कि उनकी पहल अथवा उनकी सहमति के बिना सार्वजनिक जीवन मे कुछ हो ही नहीं सकता है। भारत के बाहर दृष्टि गड़ाये बैठा लोगो का यह बड़ा तबका नि सन्देह अभिजात है, मृदुभाषी है, कल्पना मे सद्भावपूर्ण भी है। परन्तु दैवयोग से विदेश व्यापार और विदेश प्रवास (आधुनिक उपकरण, विमानयात्रा, बहुमजिले होटल और ऐसा ही सब कुछ), विदेशी सहायता और विदेशी मुद्रा की अमर्यादित इच्छा ही उनकी पहचान बन गई है। ये दो इस समाज के साक्षात देव है।

इनको छोड शेष सभी भारतवासी दूसरे प्रकार का समाज है। यह समाज एक ही प्रकार के लोगो से बना हुआ नहीं है। उसमे भिन्न भिन्न वर्ग हैं। वर्गो के बीच बहुत बडे फासले है। इस समाज के अधिकाश लोग अत्यधिक अव्यवस्थित जीवन जीते हैं। इस समाज का लगभग आधा हिस्सा कठिनाई से अपना निर्वाह करता है। परन्तु इतनी भिन्नता होते हुए भी, जो एक बात समान है, वह यह कि सभी व्यावहारिक प्रयोजनो के लिए यह समाज उस दूसरे समाज पर ही आधारित है, जिसके हाथ मे सत्ता और निर्णय की लगाम है। दूसरा एक लक्षण यह है कि अपने सभी व्यवहारो मे वह देशी मान्यताओ

और वाक्प्रचारो का ही उपयोग करता है, भले ही वह आधुनिक यन्त्रो और उनके अनुरूप पद्धतियो का प्रयोग करता हो। इसलिएं उसको सत्ताशील समाज की भाषा और लहेजा आने की बात तो दूर, समझ मे भी नहीं आती है। इस समाज के अनेक युवक-युवतियॉ सत्त्वशील है और अभिजात वर्ग के सदस्य बनने की महत्वाकाक्षा रखते है, कुछ को इसमे सफलता भी मिलती है, परन्तु कुल मिलाकर इन दोनो समाजो मे कोई निश्चित समसम्बन्ध निर्माण नहीं होता है, उल्टे अन्तर और दूरी बढती ही जाती है।

यह स्पष्ट करने की आवश्यकता नहीं है कि पिछड़ेपन के प्रश्न के विषय में विचारविमर्श करने के लिए यहॉ उपस्थित सब, इस लेखक समेत, इस भारत के बाहर देखनेवाले वर्ग के ही है। यद्यपि इससे उनकी चर्चा करने की योग्यता तत्त्वत कम नहीं होती है, फिर भी इस विषय को स्मरण मे रखने की आवश्यकता है ही।

'पिछडापन' भी इस विशाल दूसरे वर्ग का एक लक्षण है।

२

'पिछड़ेपन' की सकल्पना सास्कृतिक और आर्थिक दोनो अर्थों मे लागू की जाती है। सास्कृतिक दृष्टि से देखे तो जाति पिछड़ेपन की निशानी है। परन्तु जाति को इस प्रकार निशानी मानने के निर्णय पर हम कैसे पहुचे ? प्राचीन काल से गॉव की तरह ही जाति भी भारतीय समाज का अभिन्न अग रही है। यह सच है कि 'मनुस्मृति'[1] जैसे ग्रथो के अनुसार एक समय भारत चार वर्णों मे विभाजित था। ये चार वर्ण थे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। इसी परम्परा के अनुसार इन चार वर्णो से ही समय व्यतीत होने पर भिन्न-भिन्न जातियो की रचना हुई है। वस्तुत इन चार वर्णो मे किसी भी व्यक्ति को कोई अक्षम्य अपराध करने पर परिवार सहित वर्ण से निष्कासित कर दिया जाता था। ऐसे परिवार अत्यज कहे जाते थे (चडाल, परिहा आदि)। दूसरी एक परम्परा के अनुसार (जो अलग अलग जातियो और जनजातियो की विशेष परम्परा के रूप मे स्वीकृत है) प्रत्येक जाति की एक दैवी उत्पत्ति रही है। नृवशशास्त्र की धारणा के अनुसार जातियॉ पूर्व के जनजाति समूहो से विकसित हुई हैं। काल के प्रवाह मे ये समूह विशाल जनसमाज की ठोस रचना मे तो मिल नहीं पाये, फिर भी उनकी विचारधारा और मान्यताऍ उन्होने अपना ली है। हाल की शताब्दियो मे इन जातियो और जनजातियो के साथ साथ धार्मिक समूहो मे भी वृद्धि हुई है। भारत की कई जातियो और जनजातियो का इस्लाम और ईसाई पथ मे धर्मान्तरण होने के बाद इस मे वृद्धि हुई है। साथ ही भारत के बाहर के क्षेत्रों से भारत मे आकर निवास करने वाले लोगो का भी एक उल्लेखनीय समूह है, जिसने अपने रीतिरिवाज का पालन करते हुए भी भारत को अपना

घर बनाया है।

भारत मे प्राचीन काल से ही जातियो और जनजातियो का अस्तित्व रहा हे ओर आज भी वह हे ही। फिर भी इतिहास मे कभी जाति, आज की तरह बहुत बडी समस्या नहीं रही है। इतिहास मे दृष्टिपात करने पर ध्यान मे आता है कि सभी जातियो का सह अस्तित्व रहा है, उनका आपस मे आदान प्रदान होता रहा हे, कई समूह साथ मिलकर उत्सव मनाते है, तो परस्पर लडाई झगड़े भी हुए है। उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ तक दक्षिण भारत मे दाईं और बाईं के रूप मे जातियो का विभाजन होता था। हमारी सामान्य धारणा से विपरीत, यहॉ तक कि 'मनुस्मृति' से भी विपरीत, कम से कम जब अग्रेजो ने भारत को जीतना प्रारम्भ किया तब भारत के विभिन्न भागो मे राजा ऐसी जातियो से होते थे जिन्हे शूद्र वर्ण कहा जाता है। यहॉ इस बात की ओर भी ध्यान देना चाहिए कि जिनको ब्राह्मण, क्षत्रिय और वेश्य वर्ण मे समाविष्ट किया जा सकता है, ऐसे लोगो की सख्या हिन्दुओ मे बहुत कम है (१२ प्रतिशत से लेकर ५ प्रतिशत)।

यह सम्भव है कि अलग अलग जातियो और जनजातियो का अस्तित्व भारत के राज्यतन्त्र का एक कमजोर पहलू था। परन्तु ऐसा भी कहा जा सकता है कि जातियो और जनजातियो के कारण ही भारत दीर्घजीवी रहा है, उसकी टिके रहने की क्षमता बढी है और एक बार पतन होने के बाद भी वह उठ कर खडा हुआ है। किन परिस्थितियो और कैसी व्यवस्थाओ के कारण जातिया और जनजातिया भारतीय समाज का विभाजन करती है या उसमे सुसवाद निर्माण करती है इस पर अभी तक कोई विचार नहीं हुआ है और न इसका कोई निश्चित उत्तर ढूँढा गया है। वास्तव मे ऐसे कोई प्रश्न भी व्यवस्थित ढग से पूछे नहीं गए हैं। अग्रेजो के लिए, और उनसे भी पहले अन्य कई लोगो के लिए जाति एक बहुत बड़ा अवरोध था, एक अनिवार्य अनिष्ट था, इसलिए नहीं कि वे जातिविहीन समाजरचना मे विश्वास करते थे अथवा वश परम्परा मे विश्वास नहीं करते थे। परन्तु इसलिए कि जातिव्यवस्था भारतीय समाज को तोडने के उनके लक्ष्य मे अवरोध थी, प्रत्येक व्यक्ति विभाजन करने मे रुकावट पैदा करता था, और भारत को जीतने का और उस पर शासन करने का काम बहुत कठिन बन जाता था। भारतीय समाज की जातियो के सगठन के विरुद्ध अभी जो आक्रोश है और जो सैद्धातिक चर्चा हो रही है और जिस के परिणामस्वरूप आज वह व्यवस्था मान्य या अमान्य होती है, उसका मूल ब्रिटिश शासन मे है।

एक ओर तो अग्रेजो ने जाति व्यवस्था को अनिष्ट करार दिया, परन्तु दूसरी ओर उनको भारत को जीतने की और साथ ही उसी प्रकार के वर्गीकरण की आवश्यकता थी।

इसलिए उनका ध्यान 'मनुस्मृति' की तरफ आकर्षित हुआ। 'मनुस्मृति' का उन्होने विद्वत्तापूर्ण अध्ययन करवाया। साथ ही उसकी कुछ व्यवस्थाओ - प्रमुख रूप से वर्णव्यवस्था - को कानूनी समर्थन भी दिया। इसका परिणाम बहुत गम्भीर हुआ। भारत के विशाल जनसमूह को अपनी वशानुगत सम्पत्ति से वचित करने के लिए और परम्परागत व्यवसायो को उनसे छीनने के लिए, असख्य सास्कृतिक और धार्मिक उत्सव और कर्मकाडो मे सहभागी होने और उनका सचालन करने का उनका अधिकार उनसे छीन लेने के लिए अग्रेजो ने वर्णव्यवस्था का उपयोग किया। अनेक जातियो मे रीतिरिवाजो के विषय मे जो लचीलापन था उसको भी अग्रेजोने नष्ट कर दिया। साथ ही उनको इतने प्रकार से नीचा दिखाया कि वे धीरे धीरे एक दूसरे से अलग और दूर हो गये। यात्रिक पद्धति से जातियो के अनुसार सूची बनाने का काम उन्होने प्रारम्भ किया। इस प्रकार जातियो मे आपस मे जो सम्बन्ध और सतुलन था, वह बिलकुल नष्ट हो गया।

एक शताब्दी के बाद, उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त भाग मे ब्रिटिशरो की नीति के जो परिणाम प्राप्त हुए थे, उनसे निकलकर वापस मुडने के प्रयास प्रारम्भ हुए। धीरे धीरे उसी के परिणाम स्वरूप आज जिसे 'पिछडी जाति आन्दोलन' कहा जाता है वह शुरू हुआ। जिस रूप मे उसके उद्देश्य प्रस्तुत किए जाते है, उससे यह सूचित होता है कि जिस पिछडेपन से वे सघर्ष कर रहे हे, यह बहुत प्राचीन काल से चली आ रही व्यवस्था है। वास्तव मे उनका सास्कृतिक और आर्थिक पिछड़ापन (धार्मिक कियाकाडो मे ही उनका विशेष महत्त्व है, उस विशेष स्थिति मे धार्मिक क्रियाकाडो से अलग) तो सन् १८०० के बाद आया है। जो भी आन्दोलन अथवा क्रान्ति वे चला रहे हैं, वह तो सन् १८०० पूर्व की स्थिति, उनकी प्रतिष्ठा, उनके अधिकार फिर से प्राप्त करने के लिए ही है।

३

इतिहास के कम मे भारत के लोग अनेक अनिष्टो के शिकार बने है। उनके ऊपर अनेक विदेशी आक्रमण हुए है, अत्याचार हुए है। उनके सास्कृतिक और धार्मिक स्थान नष्ट हुए है। उन्हे राजकीय अधीनता भी सहनी पड़ी है। फिर भी इस दीर्घ काल मे उन्हे ऐसा कभी नहीं लगा कि वे कहीं भी निम्न दर्जे के है अथवा आज की भाषा मे कहे तो 'पिछड़े' है। यह स्वाभाविक भी है। कोई व्यक्ति, समूह अथवा जाति अपना वर्णन करते समय कभी नहीं कहेगा कि वह स्वय पिछड़ा है। ऐतिहासिक और पर्यावरणीय कारणो से जिस प्रकार अभी तक यूरोप कष्टमय और सघर्षमय जीवन जीता आया है, वही हाल भारत का भी होता है, तो उसमे आश्चर्यचकित होने का कोई कारण नहीं है। अन्य कई

कारणो से समाज अथवा समाज के कुछ घटक दरिद्र वन गए हो अथवा उन्हे परेशानी उठानी पडी हो, यह भी सम्भव है, परन्तु मात्र इसी कारण से किसी को ऐसा नहीं लगेगा कि वह स्वय 'पिछड़ा' बन गया है। 'जगलीपन' की ही तरह 'पिछड़ापन' भी अपने लिए नहीं, दूसरे के लिए प्रयुक्त की जाने वाली सज्ञा है, जो हमारे सास्कृतिक मापदण्डो को नहीं अपनाते, ऐसे पराये लोगो को दी जाने वाली सज्ञा है। दूसरे पर प्राप्त विजय को न्यायपूर्ण ठहराने के लिए, दूसरे को अपने अधीन बना देने के लिए, दूसरे को नष्ट कर देने के लिए 'पिछड़ेपन' की सज्ञा का सहारा लिया जाता है। जब पराधीन लोग इस सज्ञा को स्वीकार कर लेते है और अपने लिए उसका उपयोग करने लगते है, तब समझना चाहिए कि उन्हे जीतने की और पराधीन बनाने की प्रक्रिया पूर्ण हुई है और पराधीन लोगो ने अपनी ही दृष्टि मे अपना गौरव खो दिया है। भारत के जनसमाज के या उसके किसी एक हिस्से के सोलहवीं, सत्रहवीं, या अठारहवीं शताब्दी मे समृद्ध या गरीब होने मे दो मत हो सकते है। परन्तु उस समय मे 'पिछडेपन' की सज्ञा तो उनको किसी प्रकार लागू नहीं की जा सकती। इससे विपरीत आक्रमणकारी यूरोप के लोगो को उस समय ऐसा प्रतीत होता था कि भारत के लोग उनको (यूरोपीयो को) पिछडा मानते है, क्यो कि उनकी रहन सहन की पद्धति और उनका लोभ भारत मे जगलीपन और असस्कारिता का ही लक्षण माना जाता था। उनकी चमडी का रग रोगिष्ठ माना जाता था और अठाहरवीं शताब्दी मे इग्लैड मे प्रचलित दहेज प्रथा को भारत मे क्रोध से भौहे चढाकर देखा जाता था।[२] परन्तु अठाहरवीं शताब्दी के अत तक भारतीय समाज पूर्ण रूप से जीत लिया गया, और पराधीन बन गया। तब से धारा बदल गई और सोच समझकर 'पिछड़ेपन' और उसके समान अन्य सज्ञाओ का प्रयोग भारतीयो के लिए होने लगा।

४

विलियम विल्बरफोर्स विक्टोरियन इग्लैड का पिता माना जाता है। सन् १८१३ की ग्रीष्म ऋतु मे ब्रिटिश हाउस ऑव कोमन्स मे एक दीर्घ चर्चा चली थी। उसमे विल्बरफोर्स ने भारत के लोगो की स्थिति को अत्यन्त दारुण चित्रित की। उसने कहा कि भारत के लोग अज्ञान के गर्त मे गहरे डूबे हुए है।[३] दूसरे एक अग्रेज जेम्स मिल ने भी इसी प्रकार की बाते प्रस्तुत की। सन् १८१७ मे उसने 'हिस्ट्री ऑव ब्रिटिश इडिया'नामक ग्रथश्रेणी प्रकाशित की। उसमे साहित्यिक भाषा मे खूब विस्तार से विल्बरफोर्स से भी बढकर भारत के लोगो के अज्ञान, दरिद्रता, और दुर्दशा की बाते उसने प्रस्तुत की। मिल के कथनानुसार 'नपुसक की तरह हिन्दुओ मे गुलामो के सभी लक्षण हैं। एक अशिक्षित समाज से भी अधिक मात्रा मे वे कपटी, झूठे, और

षड्यन्त्रकारी है।' वे 'कायर' और 'सवेदनाशून्य है', 'अपने घरो मे और व्यक्तिगत तौर पर भी वे घृणाजनक रूप मे अस्वच्छ है।'[४] यहाॅ इस बात का भी उल्लेख करना चाहिए कि जेम्स मिल का अभिप्राय मुस्लिम और चीनियो के विषय मे भी ऐसा ही है। विल्बरफोर्स और जेम्स मिल द्वारा निरूपित बातो को दूसरो ने भी काटछॉट कर स्वीकार कर ली थीं। आज भी वे इसी प्रकार से प्रचलित है। अन्तर केवल इतना ही आया है कि पश्चिम जिस प्रकार अपना दृष्टिकोण बदलता है, उसी प्रकार इन विषयो का महत्त्व भी बढता घटता रहता है। अब ईसाई पथ अपनाकर आत्मा का उद्धार करने के उद्देश्य के स्थान पर जैसा कार्ल मार्क्स ने कहा है, 'पाश्चात्य'[५] बना कर, अथवा आज की भाषा मे 'आधुनिक' बना कर हिन्दू का सम्पूर्ण रूपान्तर करना उद्देश्य बन गया है।

५

लगभग उसी समय मे, अर्थात् सन् १८०० से १८२५ मे कम प्रसिद्ध लेख और टिप्पणियो मे भारत का भिन्न भिन्न प्रकार का चित्र उभर कर आता है। उनमे कुछ यहॉ उद्धृत करने योग्य है।

१८०४ मे इग्लैण्ड मे प्राप्त जानकारी के आधार पर भारत मे खेती की उपज और खेतीकाम की मजदूरी के दरो के प्रश्न पर चर्चा हुई थी। इग्लैंड और भारत के आकडो की तुलना करने से यह बात ध्यान मे आई थी कि भारत की खेती की उपज इग्लैण्ड से अनेक गुना अधिक थी। ब्रिटिशरो को जिस बात का अधिक आश्चर्य हुआ, वह तो यह था कि इग्लैंड के खेतमजदूरो को प्राप्त मजदूरी से भारत के खेतमजदूरो को प्राप्त मजदूरी भी बहुत अधिक थी। उस समय टिप्पणी की गई थी कि सन् १८०० के आसपास जब भारत का अर्थतन्त्र अत्यन्त कमजोर था और निरन्तर बिगड़ता ही जा रहा था, तब भी मजूदरी के दर के विषय मे यदि इतनी उन्नत स्थिति है, तो स्थिति बिगडने की शुरुआत हुई, उससे पूर्व वह कितनी उन्नत रही होगी।[६]

भारत मे शिक्षा विषयक कोई निश्चित नीति निर्धारित करने से पूर्व अग्रेजो ने उस समय की देशी शिक्षण पद्धति के विषय मे कुछ सर्वेक्षण कराए थे। मद्रास प्रेसीडेन्सी (वर्तमान तमिलनाडु, आन्ध्रप्रदेश का अधिकाश विस्तार, वर्तमान कर्णाटक के कुछ जिले, केरल और उड़ीसा) मे सन् १८२२ से १८२५ के दौरान विस्तृत सर्वेक्षण किया गया था। यह सर्वेक्षण दर्शाता है कि प्रेसीडेन्सी मे उस समय भी ११,५७५ शालाएँ और १,०८४ कॉलेज अस्तित्व मे थे जिनमे क्रमश १,५७,१८५ और ५,४३१ छात्र अध्ययन करते थे। इन विद्यालयो मे पढनेवाले छात्रो की जातियो का विवरण अधिक आश्चर्यजनक था। तमिलभाषी प्रदेश मे शूद्र और शूद्र से भी निम्न मानी जाने वाली

जातियो का ७० से ८० प्रतिशत, उड़िया भाषी प्रदेशो मे ६२ प्रतिशत, मलयालम भाषी प्रदेशो मे ५४ प्रतिशत और तेलुगु भाषी प्रदेशो मे ३५ से ४० प्रतिशत छात्र इन जातियो के थे। मद्रास के गवर्नर का अनुमान था कि विद्यालय जाने की आयु के लड़को का २५ प्रतिशत ही विद्यालय मे जाता था। पर्याप्त सख्या मे लड़के और बहुत बड़ी सख्या मे लड़कियाँ घर मे ही शिक्षा प्राप्त करते थे। मद्रास नगर की जानकारी के अनुसार २६,४४६ लड़के घर मे पढ़ते थे और ५,५३२ विद्यालय जाते थे। कॉलेज स्तर पर अध्ययनरत छात्र, जो घर मे ही पढते थे, उनकी सख्या मलबार मे अधिक थी। वह थी १,५८७ जब कि उस समय निर्धन बन गये सामुद्रिन राजा के परिवार के द्वारा चलाए जानेवाले कॉलेज मे पढनेवालो की सख्या केवल ७५ थी। मलबार जिले मे ही विद्यालय जानेवाली मुस्लिम लड़कियो की सख्या आश्चर्यजनक रूप से १,१२२ थी, जबकि लड़को की सख्या ३,१९६ थी।[७] ६२ वर्ष के बाद १८८४-८५ मे मुस्लिम लड़कियो की सख्या केवल ७०५ थी। इसी समय मे मुस्लिमो की जनसख्या दुगुनी हो गई थी।

अधिक गहरे उतरने पर तो अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध और उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध के ब्रिटिश विवरण से भारतीय सामाजिक जीवन के अन्य पहलुओ का भी इसी प्रकार का चित्र उभर कर आता है। उसमे केवल विज्ञान और तन्त्रज्ञान का ही एक अभिजात स्वरूप नहीं अपितु समाजजीवन का भी सुन्दर चित्र दिखाई देता है। (अग्रेजो के द्वारा की गई जॉच के अनुसार अठाहरवीं शताब्दी मे भारत मे उत्तम इस्पात बनता था और इस्पात बनाने की बहुत सारी भट्ठियॉ भी थीं।)[८] एलेकझान्डर रीड, जो बाद मे मद्रास (चेन्नई) की राजस्व पद्धति का जन्मदाता बना था, उसके मतानुसार सन् १७८० के आसपास हैदराबाद मे नौकर और मालिक को एक दूसरे से अलग दर्शाने वाली बात केवल उतनी ही थी कि मालिक के कपड़े नौकर के कपडो से अधिक सफेद थे।[९]

सन् १८०६ मे बेलारी जिले मे सग्रहित जानकारी मे भारत के अर्थतन्त्र और व्यय के विषय मे जानकारी मिलती है। यह जानकारी जिले के लोगो के कुल खर्च की तो है ही, साथ मे तीन प्रकार के वर्गो के खर्च का विस्तृत ब्यौरा भी प्रस्तुत करती है। ये तीन प्रकार के वर्ग ब्रिटिशरो ने बनाए थे। ये तीन वर्ग थे अमीर, मध्यम और निम्न वर्ग। ये श्रेणियॉ भी आर्थिक आधार पर बनी हुई थीं। इस अनुमान के अनुसार अनाज के खर्च को देखे, तो अमीर वर्ग के लोग उत्तम प्रकार के अनाज का उपभोग करते थे, जब कि शेष दो वर्गों के लोगो के अनाज की गुणवत्ता थोड़ी कम थी। परन्तु तीनो वर्गो मे मात्रा समान थी - व्यक्तिश प्रतिदिन आधा सेर। वस्तुओ की सूची मे २३ अन्य वस्तुओ का

समावेश होता था, जैसे दाल , सुपारी, घी, तेल, इमली, कच्चा और पक्का नारियल, दवाई, कपड़े, इधन, सागसब्जी, पान इत्यादि। खर्च करने की पद्धति का उदाहरण देते हुए यह विवरण सूचित करता हे कि छ व्यक्तियो के एक परिवार का पान खाने का एक वर्ष का हिसाब प्रथम वर्ग मे ९,६००, दूसरे वर्ग मे ४,८०० और, तीसरे वर्ग मे ३,६०० पान था। घी और तेल का अनुपात अदाज से ३ १ १ था और दाल का ८ ४ ३ था। प्रति व्यक्ति वार्षिक खर्च था १७ रूपए ३ आना ४ पाई प्रथम वर्ग का, ८ रूपये दो आना ४ पाई दूसरे वर्ग का और ७ रूपए ७ आना तीसरे वर्ग का।[१०]

उपरोक्त जानकारियाँ बहुत व्यापक है। वास्तविक रूप मे हो सकता है कि व्यक्तिगत तौर पर प्रथम वर्ग के अनेक लोगो का खर्च औसत से अधिक हो और तीसरे वर्ग मे अनेक लोगो का औसत से कम। कर्नाटक क्षेत्र मे सर्वेक्षण करके सन् १७९९ मे प्राप्त जानकारी से ऊँचे और निचले वर्ग के अन्तर का अदाज आता है। टीपू सुलतान के राज्य के अधिकारियो की आय के विषय मे बहुत जॉच करने के बाद ब्रिटिशर इस निष्कर्ष पर पहुचे कि चित्रदुर्ग का गवर्नर टीपू के शासन मे सर्वाधिक वेतन प्राप्त करने वाला अधिकारी था। उसका वेतन था मासिक सौ रूपए।[११] उसी समय उसी क्षेत्र मे एक सामान्य मजदूर का वेतन था मासिक ४ रूपए। अग्रेजो के शासन मे वेतन के आकडे ध्यान देने योग्य है। अग्रेज जिला कलक्टर का वेतन था मासिक १,५०० रूपए, ब्रिटिश गवर्नर काउन्सिल के सदस्य का वेतन था मासिक ६,००० से ८,००० रूपए। ये नए अन्तर केवल ब्रिटिशरो तक ही सीमित नहीं थे। इसी प्रकार के अन्तर भारतीयो के लिए भी लागू किए गए थे। उदयपुर के महाराणा के व्यक्तिगत भत्ते के विषय मे यह नीति स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है। उदयपुर ब्रिटिश सरक्षण के अन्तर्गत नहीं आया था, तब तक महाराणा को मासिक १,००० रूपए भत्ता मिलता था। परन्तु सन् १८१८ मे ब्रिटिश सरक्षण के अन्तर्गत आते ही राज्य के अन्य अनेक प्रकार के खर्च या तो कम कर दिए गए, या बन्द कर दिए गए, परन्तु महाराणा का भत्ता दैनिक १००० रूपए हो गया।[१२]

भारत के गावो की जमीन के अधिकारो के विषय मे एक अलग प्रकार का चित्र उभर कर आता है। भारत मे ऐसे गॉव है, जहॉ पूरा गॉव समुदायम् के रूप मे सगठित हुआ है। (शायद गाँव के सभी परिवार नहीं, परन्तु जमीन जोतने वाले सभी परिवार।) इस समुदायम् के सभी सदस्यो को उनके हिस्से की जमीन जोतने का अधिकार मिला हुआ है। समयान्तर मे उनकी जोतने की जमीन बदलती भी रहती है। सन् १८०७ मे तजावुर जिले में ३० प्रतिशत गाँव समुदाय गॉव थे। जोतने की जमीन मे परिवर्तन इसलिए होते हैं कि अनेक वर्षो तक जुती हुई जमीन की उर्वरता बढती घटती रहती है,

और जोतने वालो की स्थिति भी उसी प्रकार बदलती रहती है। परिणाम स्वरूप उनकी स्थिति मे असन्तुलन होने की सम्भावना रहती है। परिवर्तन करने से इस असन्तुलन को दूर किया जा सकता है।[१३] सन् १८०५ मे तजावुर मे मिरासदारो की सख्या ६२,०४८ थी। (मिरासदार का अर्थ है जमीन का स्थायी अधिकार रखने वाला) उनमे ४२,००० से अधिक शूद्र और उससे भी निम्न वर्ग के थे।[१४] बडामहाल (वर्तमान तमिलनाडु का सेलम जिला) मे परिहा नामक समूह मे जमीन जोतने वालो की सख्या ३२,४७४ थी। उस समय कुल जनसख्या ६,००,००० थी।[१५] सन् १७८८ मे चेगलपट्टु के जिलाधीश के द्वारा दर्ज की गई मिरासदरो की सख्या ८,३०० थी। परन्तु जिलाधीश का मत था कि निरासदारो की वास्तविक सख्या दर्ज की गई सख्या से दस गुनी अर्थात् लगभग ८०,००० थी।[१६] यह बताने की आवश्यकता नहीं है कि समग्र भारत मे निश्चित रूप से जमीन जोतने वालो के अधिकार वशानुगत थे। परन्तु सन् १७८० से ब्रिटिशरो ने इन अधिकारो को छीन लेना प्रारम्भ किया। पहले तो उन्होने राजस्व बढाना प्रारम्भ किया। इग्लैण्ड मे भी जमीन जोतनेवाले को स्थायी और वशानुगत अधिकार नहीं दिए जाते थे, इसलिए यहाँ वे दिए जाएँ यह उनको मान्य नहीं था।[१७]

ऊपरि वर्णित वास्तविकता कोई जडता अथवा यात्रिक जीवनचर्या पर आधारित नहीं लगती है। भारतीय समाज सतही रूप से शिथिल, थकामादा और आलसी लगता है, परन्तु इसे सहनशीलता और अक्रियता भी कहा जा सकता है। फिर भी उसमे न्याय और अन्याय, उदात्तता और नीचता की समझ और ऊपर से दिखाई देने वाली निष्क्रियता के नीचे गहराई तक व्याप्त सक्रियता अनुभव मे आती है। बहुत गहराई तक एक व्यापक नैतिकता की भावना भी दिखाई देती है। जहाँ जहाँ और जब जब इस भावना का अतिक्रमण होता है अथवा उसके ऊपर आघात किया जाता है, तब तब उसका तीव्र प्रतिकार विरोध, त्रागा[१८] और आन्दोलन क रूप मे होता है। किसानो का आन्दोलन होता है, वर्तमान शैली का शब्दप्रयोग करे तो, 'नागरिक अवज्ञा' होती है। वाराणसी मे ब्रिटिशरो के द्वारा लगाये गये आवास कर के विरुद्ध सन् १८१०-११ मे दीर्घकालीन आन्दोलन हुए है। अधिकृत विवरण के अनुसार पूरे नगर का काम कई दिन तक बन्द हो गया था। स्थिति ऐसी हो गई थी कि मृतदेहो पर अग्निसस्कार भी नहीं होते थे, इसलिए मृतदेहो को गगा के पानी मे बहा देना पड़ता था। वाराणसी के जिलाधीश के कथनानुसार २०,००० से अधिक लोग अविरत धरना देने के लिए बैठते थे, जब कि दूसरा एक विवरण सूचित करता है कि सिकरोली से वाराणसी के बीच इकट्ठा हुआ समूह दो लाख का था।[१९]

६

उपर्युक्त चित्र और प्रस्तुत की गई जानकारी केवल अधिकृत फाइलो से ही प्राप्त की जा सकती है, ऐसा नहीं है। सन् १८१३ मे इग्लैण्ड मे हाउस ऑव् कोमन्स मे जब भारत की स्थिति के विषय मे चर्चा चली, तब ये सभी जानकारियॉ जिनके पास थीं, ऐसे गैरसरकारी लोग भी बहुत थे। ब्रिटिश हाउस ऑव कोमन्स के अनेक सदस्य ऐसी अनेक प्रकार की जानकारी देते थे। वे इस मत के भी थे कि भारत के लोग इतनी अशान्ति और अराजकता से गुजरते हुए भी ब्रिटिशरो की दया अथवा कृपा की उनको आवश्यकता नहीं थी। उनके व्यवहार मे जो आभिजात्य, सहिष्णुता, सामाजिक बन्धुता, उद्यमिता और समृद्धि दिखती थी उससे किसी को भी उनकी ईर्ष्या हो सकती थी।

वैसे तो ये विषय चर्चा के केन्द्रबिन्दु मे नहीं थे। भारतीय समाज की जागृति ब्रिटिशरो की असफलता का ही सकेत था। हाउस ऑव कोमन्स को भारतीय समाज की आत्मा के उद्धार की चिन्ता थी। विलियम विल्बरफोर्स और उसके अनुयायी तो इस बात से व्यथित थे कि भारत के लोग 'शोषित' 'वचित' और गहन अज्ञान के गर्त मे डूबे हुए थे, और जब तक उनको ईसाई न बनाया जाए, वे इसी स्थिति मे रहने वाले थे। विल्बरफोर्स जानता था की ग्रीस और रोम के लोग भी ईसाई नहीं बने तब तक इसी प्रकार से शोषित, वचित और अज्ञानी थे। अत ईसाई न होते हुए भी भारतीय सुखी और प्रसन्न हो, यह मानना तो बिलकुल असम्भव था।[२०]

यह बिलकुल गलत धारणा है कि उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध मे ब्रिटिश किसी भी प्रकार से आर्थिक और सामाजिक पिछडेपन के विषय मे चितित थे, अथवा 'अज्ञान' और 'दारुण' शब्दो का उपयोग वे आर्थिक, सामाजिक सन्दर्भ मे करते थे। उस समय इग्लैण्ड मे या इग्लैण्ड के बाहर फैले हुए साम्राज्य मे उनकी चिन्ता बिलकुल अलग प्रकार की थी। उस समय सदियो पुरानी और कट्टर ऊँच नीच की भावना ब्रिटिशरो के दिमाग मे गहरे तक बैठी हुई बाते थीं[२१] - २०० जितने अपराधो (जिस मे पॉच या पॉच से अधिक शिलिग की चोरी का भी समावेश होता था)[२२] के लिए मृत्युदड को न्यायपूर्ण मानने की कठोर कानून पद्धति, जन्म, आरक्षण या धन से जिसमे प्रवेश मिलता था[२३] ऐसा सैनिकी और मुल्की ढॉचा, अपराधियो को ४०० से ५०० (कभी तो २०००) कोडे मारने की सैनिकी सजा,[२४] इस प्रकार की ब्रिटिश मानसिकता के लिए भारतीय समाज का चैतन्य, सवादितायुक्त सामाजिक ढॉचा, जहॉ प्रवेश धन के कारण नहीं मिलता था ऐसी शिक्षण सस्थाएँ, जमीन का सामुदायिक स्वामित्व, किसानो के अधिकारो की सुरक्षा, अथवा अन्याय का प्रतिकार करने की उनकी नैतिक शक्ति रास आनेवाली बाते नहीं

थीं। वे उनकी असफलता की सकेत थीं। अत ऑख मे तिनके की तरह यह दु खदायक विषय था।

७

जीवन विषयक आदिम विचार और रिवाज (पाश्चात्य लोग स्वय से भिन्न सस्कृति को इस प्रकार वर्णित करते है।) से अलग आर्थिक और सामाजिक पिछड़ापन भारत मे सन् १८०० के बाद की सकल्पना है। इसका प्रथम कारण तो भारत की समाजरचना को विच्छन्न कर देने का ब्रिटिशरो का आशय है। तो दूसरा कारण ब्रिटिशरो द्वारा किया गया सत्ता और ससाधनो का पूर्ण केन्द्रीकरण है। उसका परिणाम यह हुआ कि बाद के सौ वर्ष तक केन्द्रीकृत अपार सम्पत्ति और अबाध सत्ता का उपयोग (१) और अधिक विजय प्राप्त करने के लिए (इस विजय की सीमाऍ चीन और अफ्रिका के अटलाटिक किनारे पर स्थित द्वीप हेलेना तक फैली थीं) और विजित प्रदेशो पर सैनिक शासन स्थापित करने के लिए,[२५] (२) नए महानगर निर्माण करने के लिए और सुरक्षा के लिए, यूरोपीय लोगो के निवास के अन्य केन्द्र स्थापित करने के लिए और सैनिक छावनियॉ खडी करने के लिए, (३) विभिन्न प्रकार की मागो को सन्तुष्ट करने के बहाने भारत का अधिकाधिक धन भारत से बाहर इग्लैड का अर्थतन्त्र सुदृढ बनाने के हेतु से ले जाने के लिए होता था। अन्त मे अराजकता, गरीबी, पराधीनता को बढाने की कोई गुजाइश नहीं रही। और स्थिति यह हुई कि यदि इन्हे बढाया जाए तो आय मे नुकसान ही होता। तब पूरे भारतीय समाज को बिलकुल उपेक्षित और ठप्प कर दिया गया। बाद मे विद्वानो पर इस निष्कर्ष पर आने का दायित्व आया कि अराजकता, गरीबी आदि तो भारतीय सस्कृति मे पहले से ही थे, भारत के लोग हमेशा पराधीन रहे है, उनके लिये गरीबी और कगालियत यह कोई नई बात नहीं है। यह समझ तो आज भी प्रचलित है।

ब्रिटिश शासन के सम्बन्ध मे इस प्रकार के निष्कर्ष शायद कठोर और अतिशयोक्तिपूर्ण लगेगे, परन्तु ब्रिटिशरो के ही दो कथन इस विषय को समझाने के लिए उपयोगी सिद्ध होगे। पहला सन् १६०० के वर्ष का है। वह आयर्लैन्ड से सम्बन्धित है। आयर्लैन्ड को किस प्रकार पूर्ण रूप से अधीन बना दिया जाए, इस विषय का है। दूसरा सन् १८०० के वर्ष मे दक्षिण भारत को पूर्णरूप से अधीन बना देने की समस्या विषयक है। ये दोनो कथन समझने योग्य हैं। प्रथम कथन आयर्लैन्ड के इग्लिश एटर्नी जनरल सर ज्होन डेविस का है। आयर्लैन्ड विषयक अधिक प्रभावी नीति के विषय मे वे इस कथन मे सूचित करते हैं,

'आयर्लैन्ड पर पूर्ण विजय के लिए जो अवरोध रह गए थे, वे दो प्रकार के थे।

पहला था युद्ध मे ढीलापन और दूसरा था नागरिक प्रशासन मे लापरवाही। फसल यदि अच्छी चाहिए, तो खेत अच्छी प्रकार से जोतना पड़ता है। तभी वह अच्छे बीज के लायक बनता है। वह ठीक प्रकार से जोता जाए और उसमे अच्छी खाद डाली जाए, और यदि उसमे अच्छा बीज न बोया जाए, तो जोता हुआ सब बेकार हो जाता है। उसमे मात्र खर पतवार ही उग आता है। इसी प्रकार एक जगली देश को प्रथम युद्ध से अच्छी प्रकार तोड़ना चाहिये, तभी वह अच्छे प्रशासन के योग्य बनता है। उस देश को पूर्णरूप से जीत लिया जाए और पराधीन बना दिया जाए, परन्तु बाद मे ठीक प्रकार से शासन न किया जाए, तो वह फिर से पूर्व मे था वैसा जगली बन जाता है।'[२६]

दूसरा कथन भारत से सम्बन्धित विषयो के कमिश्नर बोर्ड के अध्यक्ष हेनरी डडास का भारत के विषय मे है। ११ फरवरी, १८०१ को उसने मद्रास प्रेसिडेन्सी की सरकार को पत्र भेजा था। राजस्व और कानूनी व्यवस्थाओ को स्थाई बनाने के विरोध मे परामर्श देते हुए उसने सूचित किया था,

'कर्णाटक और बगाल के कुछ क्षेत्रो मे बहुत अन्तर है। बगाल मे स्थाई कर प्रस्थापित करने का विचार किया गया था, परन्तु कर्णाटक मे ऐसा नहीं हो सकता था। बगाल का प्रदेश सरकारी आदेश का पालन करने मे और उसके अनुकूल बनने मे अच्छी तरह से अभ्यस्त है, परन्तु कर्णाटक मे ऐसा नहीं है। उनके लिए सरकार जो लाभ प्रदान करती है और शुभ भावना रखती है, उसको स्वीकार करने के लिए योग्य परिपक्वता उनमे नहीं है। किसी भी व्यवस्था को स्थायी करने का प्रयास व्यर्थ होगा। जब तक उनका मन उनको दिए जाने वाले लाभो का महत्त्व स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं होता है, तब तक ऐसा कुछ करना व्यर्थ होगा उनका विद्रोही और स्वाभिमानी स्वभाव जब तक कुचल नहीं दिया जाता-उत्तर की सरकारो मे ऐसा ही हुआ है-तब तक कोई सुधार प्रभावी नहीं हो सकता है। जिन जिन देशो पर यह बात लागू होती है, उन सब देशो को पहले तो पूर्णरूप से अधीन बना देना चाहिए, जिससे वे इस सिद्धात को मान्य करेगे। उनको जो लाभ मिलते हैं, उनके लिये वे हमारी शान और शुभेच्छा को समझ कर हमारे ऋणी बनने चाहिए। उनका जीवन हमारी ओर से मिलने वाले रक्षण के कारण निश्चिन्त रहता है, इसके लिए भी उन्होने कृतज्ञ होना चाहिए। यह पूर्णरूप से निर्विवाद तथ्य है।'[२७]

८

ये सभी तथ्य सूचित करते है कि 'पिछड़ापन' और इस सज्ञा से आज जो अर्थ समझा जाता है (पिछड़ी जाति, पिछड़े वर्ग इत्यादि) उससे अलग यदि हम सामाजिक

अभिव्यक्ति, राजकीय सहभागिता और भोतिक तथा आर्थिक ससाधनो को छीन लेना, ऐसा अर्थ करे, तो अधिक योग्य हे। इसके साथ दो शताब्दियो तक हम दरिद्र से दरिद्रतर होते गए उसका प्रभाव भी उसमे जोडना चाहिए। मूल रूप से पिछडेपन का उपाय तो इस प्रक्रिया को पलटने मे है। निश्चित रूप से महात्मा गाधी के नेतृत्व मे मनोवैज्ञानिक और वैचारिक स्तर पर इस प्रक्रिया को पलटने का प्रारम्भ हुआ ही था। गाधीजी की 'स्वदेशी' की सकल्पना उस पिछडेपन के स्वाभाविकपन के पहलू का ही उपाय करनेवाली है। गाधीजी के कथनानुसार ''स्वदेशी' अपने दायरे के अदर की, हमारे आसपास के परिवेश मे ही मिलने वाली वस्तुओ का उपयोग करने की और जो दूर का है, उसे छोड़ने की भावना है। इसके अनुसार धर्म के विषय मे कहूँ तो मेरे पूर्वजो के धर्म का ही अनुसरण करना मै पसद करुगा। वह मेरे बिलकुल निकट के परिवेश के उपयोग के सिद्धात का अनुसरण है। यदि मुझे वह क्षतिपूर्ण लगता है, तो उसकी क्षतियो को दूर करना वह मेरे द्वारा की गई उसकी सेवा होगी। अर्थशास्त्र के विषय मे मेरे नजदीक के ही पडोसी के द्वारा बनाई गई वस्तुओ का उपयोग करना और उसको अधिक से अधिक कुशल और पूर्ण बनाने का प्रयास करके उनकी सेवा करना स्वदेशी है'।[२८]

परकीय विचार से ओतप्रोत भारत मे स्पष्ट ही है कि प्रक्रिया पलटने का यह क्रम लम्बा नहीं चला। परकीय स्वरूप और ढाचा तथा अन्य वैश्विक ताकतो को इसके प्रति कोई शत्रुता नहीं होने पर भी उसमे कोई रुचि भी नहीं है। उनके मतानुसार ब्रिटिश शासन कालमे भारत मे जो कुछ हुआ, वह खेदजनक होने पर भी अब उसको बदला नहीं जा सकता है। अब वह इतिहाससिद्ध वास्तव है।

गत एक हजार वर्षों मे पश्चिम मे जो कुछ हुआ, उसका यदि इतना सार्वभौम महत्त्व है और सभ्यताओ को ऐसी ही प्रक्रिया मे से गुजरना है, तो भारत को क्या करना है, वह निश्चित है। वास्तव मे गत तीन दशको से भारत मे यही हो रहा है, परन्तु गाधीयुग की स्मृतियो और मूल्यो के कारण वह थोड़ा दबा हुआ है। यदि भारत को यूरोप जैसा ही बनना इतना अधिक अनिवार्य लगता है, तो ऐसे प्रश्नो को उठाना बन्द करके भारतीय समाज को विखण्डित करने की प्रक्रिया को अधिक गति प्रदान करनी चाहिए, जिससे वह सहस्राब्दी बहुत जल्दी आ जाए। इतना ही नहीं, तो वर्तमान दु ख और उसका भय नि शेष हो जाए। परन्तु यदि ऐसा पक्का नहीं होता है, और हम मानते है कि सभ्यता और सस्कृति की पुन प्रतिष्ठा हो सकती है और वह भी अपने मानसमे अवस्थित है ऐसे ही मार्ग और समाज का निर्माण करने वाली सकल्पनाओ के द्वारा ही हो सकता है, तो भारत, और भारत जैसे अन्य देशो को आध्यात्मिक और बौद्धिक स्तर के भगीरथ प्रयास करके आत्मप्रतिष्ठ होने

की आवश्यकता है। ऐसे प्रयत्न करने मे गाधीजी का भारतीय दृष्टिकोण, दर्शन और कौशल, प्रतिभा और प्राथमिकताएँ महत्त्वपूर्ण बन जाती है। हम निश्चित रूप से जिसको व्यापक अर्थ मे प्रयुक्त कर सकते है, ऐसे 'देशी ससाधन' जैसे शब्द को पकड लेने की आवश्यकता है। (मानसिक ससाधन, पारम्परिक ज्ञान के ससाधन, भौतिक और शुद्ध वस्तुएँ ये देशी ससाधन है।) जो नष्ट करने लायक है, वह सब नष्ट कर देना चाहिए। जिसे बचा सकते है और जो बचाने लायक है, उसे बचाना चाहिए। प्राप्त सभी ससाधनो का उपयोग करके उसकी नींव पर नए सिरे से ढाचा खड़ा करना चाहिए। ऐसा सब करने मे दूसरे लोगो का उपयोग निषिद्ध ही मानना चाहिए ऐसा नहीं है। हम योग्य प्रकार से पृथक्करण करते हैं और ठीक प्रकार से पचा सकते है तो ऐसे सभी अनुभव बहुत मूल्यवान सिद्ध हो सकते है। अनिवार्य सकट तो उससे दूर किए ही जा सकते है। ऐसी पुनर्प्रतिष्ठा के लिए भारत मे जो ससाधन और सम्पत्ति है, उसका पुन बँटवारा करना आवश्यक है, अर्थात् ससाधन और सपत्ति महानगरो से ऐसे ग्रामीण क्षेत्रो मे ले जाने की आवश्यकता है, जहाँ उसका सही उद्‌गम है। इसी प्रकार का परिवर्तन आतर्राष्ट्रीय स्तर पर भी होने की आवश्यकता है। परन्तु ऐसा परिवर्तन दान और सहायता के रूप में नहीं अपितु गलती सुधारने और प्रायश्चित के रूप मे होना चाहिए।[२९] ऐसा होता है तो उसका मनोवैज्ञानिक प्रभाव अलग ही होगा। सहायता और दान सरकारी स्तर पर हो या गैरसरकारी, दीर्घकाल मे लेने वाले समाज को अधिक से अधिक दीन और छिन्नविच्छिन्न कर देता है। अब यह सबको समझ मे भी आने लगा है।

सन्दर्भ

१ सन् १८०० के आसपास ऐसा लगता है कि अठारहवीं शताब्दी मे भारत के जिन शास्त्रग्रथो और धर्मग्रथो को तथा उनके जाननेवालों को अधिक मान्यता देते थे, वही अग्रेजो के लिए अधिक महत्त्वपूर्ण माने जाने लगे। परन्तु स्थिति कदाचित् दूसरी भी हो। अठारहवीं शताब्दी और उससे भी पूर्व भारत के लोगों के लिए अधिक महत्त्व के शास्त्र और साहित्य कदाचित् दूसरा ही था। अग्रेज तो भारत मे राजकीय, कानूनी और बौद्धिक सकल्पनाओं और प्राथमिकताओ को ही बदलना चाहते थे, इसीलिए उन्होने 'मनुस्मृति' जैसे ग्रन्थो मे रुचि लेना और उसको मान्यता देना प्रारम्भ किया। वास्तव में 'मनुस्मृति' को तो भारतीयों ने वर्षों से एक तरफ रख दिया था। मद्रास के एफ डबल्यू एलिस के सन् १८०० के बाद के लेख और १७८० और १७९० के दशकों में विलियम जोन्स की न्यायालयीन कार्यवाही और निर्णयो के आधार पर जाना जाता हे कि धर्म और रिवाज के विषय में भारतीयों के मान्य ग्रन्थ दूसरे ही थे। सन् १८२७ में आर्थर स्टील के द्वारा लिखे गये 'दिवानी मुकद्दमो विषयक दक्षिण के, मुख्य रूप से मुम्बई प्रेसिडेन्सी के

अभिव्यक्ति, राजकीय सहभागिता और भौतिक तथा आर्थिक ससाधनो को छीन लेना, ऐसा अर्थ करे, तो अधिक योग्य है। इसके साथ दो शताब्दियो तक हम दरिद्र से दरिद्रतर होते गए उसका प्रभाव भी उसमे जोडना चाहिए। मूल रूप से पिछड़ेपन का उपाय तो इस प्रक्रिया को पलटने मे है। निश्चित रूप से महात्मा गाधी के नेतृत्व मे मनोवैज्ञानिक और वैचारिक स्तर पर इस प्रक्रिया को पलटने का प्रारम्भ हुआ ही था। गाधीजी की 'स्वदेशी' की सकल्पना उस पिछड़ेपन के स्वाभाविकपन के पहलू का ही उपाय करनेवाली है। गाधीजी के कथनानुसार ''स्वदेशी' अपने दायरे के अदर की, हमारे आसपास के परिवेश मे ही मिलने वाली वस्तुओ का उपयोग करने की और जो दूर का है, उसे छोड़ने की भावना है। इसके अनुसार धर्म के विषय मे कहूँ तो मेरे पूर्वजो के धर्म का ही अनुसरण करना मै पसद करुगा। वह मेरे बिलकुल निकट के परिवेश के उपयोग के सिद्धात का अनुसरण है। यदि मुझे वह क्षतिपूर्ण लगता है, तो उसकी क्षतियो को दूर करना वह मेरे द्वारा की गई उसकी सेवा होगी। अर्थशास्त्र के विषय मे मेरे नजदीक के ही पड़ोसी के द्वारा बनाई गई वस्तुओ का उपयोग करना और उसको अधिक से अधिक कुशल और पूर्ण बनाने का प्रयास करके उनकी सेवा करना स्वदेशी है'।[२८]

परकीय विचार से ओतप्रोत भारत मे स्पष्ट ही है कि प्रक्रिया पलटने का यह क्रम लम्बा नहीं चला। परकीय स्वरूप और ढाचा तथा अन्य वैश्विक ताकतो को इसके प्रति कोई शत्रुता नहीं होने पर भी उसमे कोई रुचि भी नहीं है। उनके मतानुसार ब्रिटिश शासन कालमे भारत मे जो कुछ हुआ, वह खेदजनक होने पर भी अब उसको बदला नहीं जा सकता है। अब वह इतिहाससिद्ध वास्तव है।

गत एक हजार वर्षो मे पश्चिम मे जो कुछ हुआ, उसका यदि इतना सार्वभौम महत्त्व है और सभ्यताओ को ऐसी ही प्रक्रिया मे से गुजरना है, तो भारत को क्या करना है, वह निश्चित है। वास्तव मे गत तीन दशको से भारत मे यही हो रहा है, परन्तु गाधीयुग की स्मृतियो और मूल्यो के कारण वह थोड़ा दबा हुआ है। यदि भारत को यूरोप जैसा ही बनना इतना अधिक अनिवार्य लगता है, तो ऐसे प्रश्नो को उठाना बन्द करके भारतीय समाज को विखण्डित करने की प्रक्रिया को अधिक गति प्रदान करनी चाहिए, जिससे वह सहस्राब्दी बहुत जल्दी आ जाए। इतना ही नहीं, तो वर्तमान दु ख और उसका भय नि शेष हो जाए। परन्तु यदि ऐसा पक्का नहीं होता है, और हम मानते है कि सभ्यता और सस्कृति की पुन प्रतिष्ठा हो सकती है और वह भी अपने मानसमे अवस्थित है ऐसे ही मार्ग और समाज का निर्माण करने वाली सकल्पनाओ के द्वारा ही हो सकता है, तो भारत, और भारत जैसे अन्य देशो को आध्यात्मिक और बौद्धिक स्तर के भगीरथ प्रयास करके आत्मप्रतिष्ठ होने

की आवश्यकता है। ऐसे प्रयत्न करने मे गाधीजी का भारतीय दृष्टिकोण, दर्शन और कौशल, प्रतिभा और प्राथमिकताए महत्त्वपूर्ण बन जाती है। हम निश्चित रूप से जिसको व्यापक अर्थ मे प्रयुक्त कर सकते है, ऐसे 'देशी ससाधन' जेसे शब्द को पकड लेने की आवश्यकता है। (मानसिक ससाधन, पारम्परिक ज्ञान के ससाधन, भौतिक और शुद्ध वस्तुए ये देशी ससाधन है।) जो नष्ट करने लायक है, वह सब नष्ट कर देना चाहिए। जिसे बचा सकते है और जो बचाने लायक है, उसे बचाना चाहिए। प्राप्त सभी ससाधनो का उपयोग करके उसकी नींव पर नए सिर से ढाचा खडा करना चाहिए। ऐसा सब करने मे दूसरे लोगो का उपयोग निषिद्ध ही मानना चाहिए ऐसा नहीं है। हम योग्य प्रकार से पृथक्करण करते है और ठीक प्रकार से पचा सकते है तो ऐसे सभी अनुभव बहुत मूल्यवान सिद्ध हो सकते हैं। अनिवार्य सकट तो उससे दूर किए ही जा सकते हैं। ऐसी पुनर्प्रतिष्ठा के लिए भारत मे जो ससाधन और सम्पत्ति है, उसका पुन बँटवारा करना आवश्यक है, अर्थात् ससाधन और सपत्ति महानगरो से एसे ग्रामीण क्षेत्रो मे ले जाने की आवश्यकता है, जहाँ उसका सही उद्गम है। इसी प्रकार का परिवर्तन आतर्राष्ट्रीय स्तर पर भी होने की आवश्यकता है। परन्तु ऐसा परिवर्तन दान और सहायता के रूप मे नहीं अपितु गलती सुधारने और प्रायश्चित के रूप मे होना चाहिए।[२१] ऐसा होता है तो उसका मनोवैज्ञानिक प्रभाव अलग ही होगा। सहायता और दान सरकारी स्तर पर हो या गैरसरकारी, दीर्घकाल मे लेने वाले समाज को अधिक से अधिक दीन और छिन्नविच्छिन्न कर देता है। अब यह सबको समझ मे भी आने लगा है।

सन्दर्भ

१ सन् १८०० के आसपास ऐसा लगता है कि अठारहवीं शताब्दी म भारत के जिन शास्त्रग्रथो और धर्मग्रथों को तथा उनके जाननेवाला को अधिक मान्यता देते थे, वही अग्रेजो के लिए अधिक महत्त्वपूर्ण माने जाने लगे। परन्तु स्थिति कदाचित् दूसरी भी हो। अठारहवीं शताब्दी और उससे भी पूर्व भारत के लागो के लिए अधिक महत्त्व के शास्त्र और साहित्य कदाचित् दूसरा ही था। अग्रेज तो भारत मे राजकीय, कानूनी और बौद्धिक सकल्पनाओ और प्राथमिकताओ को ही बदलना चाहते थे, इसीलिए उन्होंने 'मनुस्मृति' जैसे ग्रन्थो मे रुचि लेना और उसको मान्यता देना प्रारम्भ किया। वास्तव मे 'मनुस्मृति' को तो भारतीयो ने वर्षो से एक तरफ रख दिया था। मद्रास के एफ डबल्यू एलिस के सन् १८०० के बाद के लेख और १७८० और १७९० के दशकों में विलियम जोन्स की न्यायालयीन कार्यवाही और निर्णयों के आधार पर जाना जाता है कि धर्म और रिवाज के विषय मे भारतीयों के मान्य ग्रन्थ दूसरे ही थे। सन् १८२७ में आर्थर स्टील के द्वारा लिखे गये 'दिवानी मुकद्दमों विषयक दक्षिण के, मुख्य रूप से मुम्बई प्रेसिडेन्सी के

हिन्दू जाति के कानून और रिवाज' से यह विषय अधिक स्पष्ट होता है। इस क्षेत्र की सर्वसामान्य मान्यता यह थी कि शास्त्रो से भी परम्परा अधिक महत्त्वपूर्ण है। धृष्टता मानी जाएगी, फिर भी यह सत्य है कि सन् १८०० के बाद पाश्चात्य लोगो के अनुसरण के कारण शिक्षितो म, विशेप करके अग्रेजी पढ़े हुए लोगो मे श्रीमद् भगवद्गीता अधिक पढी जाने लगी, जबकि सामान्य लोगो में श्रीमद् भागवत अधिक मात्रा मे सुना, पठन किया ओर माना जाना था। सन् १८०० पूर्व के भारतीय समाज को वास्तविक रूप मे जानने के लिये युवा पीढी के शोध छात्रो ने पश्चिम के रग मे रग जाने से पूर्व भारत के लोगों की दिनचर्या से लेकर उनके जीवन की रचना, उनका लेखन, वाचन कैसा था, उस विषय म गम्भीर और विस्तृत अध्ययन प्रारम्भ करना चाहिए।

२ सन् १५०० से १७०० के समय मे यूरोप के लोग भारत के विषय म क्या मानते थे और भारत के लोग यूरोपीय लोगो की चमड़ी, रहनराहन और रिवाजो के विषय में क्या मानते थे, इस विषय मे खूब लिखा गया है। सोलहवीं, सत्रहवीं, और प्रारम्भिक अठाहरवीं शताब्दी के हकलोइट ओर चर्चिल के सकलनों मे भी यह व्यक्त हुआ है। १८५७-५८ के विरोध के वर्णनों मे यूरोपीय लोगो की सफेद चमड़ी लोगो को अच्छी नहीं लगती थी, ऐसी टिप्पणी है। 'युनिवर्सल हिस्ट्री' 'इनसाइक्लोपीडीया बिटानिका' ओर ऑक्सफोर्ड के बोडलेन की १७५३ की पाण्डुलिपियो मे भारत के लोग (यूरोप की) दहेजप्रथा को हेय दृष्टि से देखते हैं, ऐसे उल्लेख हैं।

३ हेन्सार्ड 'प्रोपेगेशन ऑफ क्रिश्चियानिटी इन इडिया' शीर्षक से इडिया चार्टर बिल की धारा क्र १३ की चर्चा।

४ जेम्स मिल, 'हिस्ट्री ऑव ब्रिटिश इडिया' १८१७, खण्ड १, विशेष 'हिन्दू' प्रकरण।

५ कार्ल मार्क्स, 'न्यूयोर्क डेइली ट्रिब्युन में,'८-८-१८५३

६ एडिनबरो रिव्यू जुलाई १८०४, डॉ टेनन्ट्स इडियन रीक्रिएशन, पृ ३२३-३२४

७ तमिलनाडु स्टेट आर्काइव्ज बोर्ड ऑव् रेवन्यू की कार्यवाही १८२२-२६। उन्नीसवीं शताब्दी में सुरक्षित रहे हुए भारतीय स्वदेशी शिक्षण विषयक यह और अन्य सामगी लेखक की पुस्तक ''रमणीय वृक्ष १८ वीं शताब्दी में भारतीय शिक्षा' मे उपलब्घ है। (पुनरुत्थान २००७)

८ नेशनल लाइब्रेरी ऑव स्कॉटलैन्ड एम एस ८३२६ जेम्स स्टुअर्ट मिल के लेखन हेदराबाद के जीवन का वर्णन, १७७८

१० तमिलनाडु स्टेट आर्काइव्ज बोर्ड ऑव् रेवन्यू की कार्यवाही, खण्ड २०३० १३-७-१८४६, बेलारी के जिलाधीश के द्वारा रेवन्यू बोर्ड को लिखा पत्र, १८-६- १८४६ जिसमें १२१६ फझली में कर्नल मनरो द्वारा हुए खर्च के अदाज का विवरण है।

११ ब्रिटिश म्यूजियम वेलेस्ली के कागज मैसूर कमिशन के कागज, १७८८

१२ आई ओ आर (इडिया ऑफिस रिकर्ड) ड्राफ्ट और पूर्व टिप्पणी १८२८-३०, राजपूताना, राजकीय ओर विदेशी (वापिस लिया हुआ) पृ ७८, १४१

१३ टी वेंकासामी राव मद्रास प्रेसिडेन्सी के तजावुर जिले की पोथी, १८३३, एच जे स्टोक्स का परिशिष्ट

१४ तमिलनाडु स्टेट आर्काइव्ज रेवन्यू बोर्ड की कार्यवाही, खण्ड ४०७, २०-५-१८०५, पृ ३४८८-८९

१५ बारामहाल रिकार्डज, खण्ड ३ पी - २ (मुद्रित ग्रथ)

१६ हाउस ऑव कोमन्स के कागजपत्र १८१२ खण्ड ७, अनुच्छेद ३३७ जागीर विषयक एल प्लेस का विवरण

१७ वही

१८ अधिकारी अथवा सामान्य व्यक्ति द्वारा विश्वासघात अथवा अन्याय करने के विरोध के रूप में आत्मबलिदान करने का प्रचलन भारत में अठारहवीं शताब्दी में अधिक था ऐसा लगता है। अन्याय पीड़ित के बदले में स्वयं मारे जाते थे जैसे कि वाराणसी के ब्राह्मण और गुजरात, मैसूर के भाट आदि। अठारहवीं सदी में सत्ताधिकारियों के द्वारा उनका लूटी जाने पर भी व्यक्ति या परिवार आत्मबलिदान करते थे। सन् १८०० में अंग्रेजों ने नियम बनाया, उससे पहले भी यह कार्य हत्या माना जाता था। ब्रिटिश रेकार्ड में वर्णित ऐसी घटनाएं बताती हैं कि उस समय भारत के लोग किसको कितनी गंभीरता से मानते थे, और आज जिसको 'मोरल इकोनामी' माना जाता है उस विषय पर आत्मबलिदान जैसे कृत्य आधारित थे।

१९ धर्मपाल भारतीय परम्परा में असहयोग पुनर्मुद्रण २००७

२० हैन्सार्ड जून २२ जुलाई १ १८१३ की 'प्रोपगेशन ऑव क्रिश्चियानिटी इन इंडिया' पर चर्चा, इंग्लैण्ड के भारत से सम्बन्धित कानून के विषय में ब्रिटिश हाउस ऑव कोमन्स में हुई चर्चा ऐतिहासिक मानी जाती है। सामान्य तौर पर भारत विषयक चर्चा के समय गृह मे बहुत ही कम उपस्थिति रहती थी परन्तु इस चर्चा के समय अधिक उपस्थिति रही और 'भारत में ईसाई मत का प्रचार' यह प्रस्ताव ५४ पक्ष में और ३२ विरोध में, इस प्रकार २२ के बहुमत से पारित हुआ। यह प्रस्ताव, जेम्स मिल का भारत विषयक लेख तथा ऐसे कई लेख, उस समय के भारत की स्थिति को जानने के लिए गम्भीरतापूर्वक पढे जाने की आवश्यकता है।

२१ ब्रिटिश समाज का वंशानुक्रम के अनुसार विभाजन १८१२ में कोलकोन (Colquohon) द्वारा दिया गया था। ग्रेगरी किंग ने इसी प्रकार के विवरण १६८८ के वर्ष के विषय मे दिए थे, ग्रेगरी किंग के अनुसार ५,११,५८६ परिवार २१ वंशो में विभाजित हुए थे। उसके कारण २४,४७,१०० पाउण्ड स्टर्लिंग की प्रतिवर्ष वृद्धि होती थी। दूसरी ओर ८,४८,००० परिवार चार श्रेणियों में विभाजित होने के कारण ६ २२,००० पाउण्ड स्टर्लिंग की कमी हुई थी। ये परिवार ५,००० खलासी, ३,६४,००० मजदूर और नोकर ४,००,००० झोपडी वाले और भिखारी तथा ३५,००० सामान्य सिपाही थे।

२२ हाउस ऑव कोमन्स के कागजपत्र १८१८, खण्ड ८, फोजदारी कानून का विचार करने के लिए बनी हुई समिति का ८-७-१८१८ का विवरण। इस समिति ने कुछ कानूनों के विषय में पुनर्विचार किया जैसे-मृत्युदंड के स्थान पर १४ वर्ष का सश्रम कारावास अथवा देशनिकाल।

२३ सभी सैनिक पद, एडज्युटन्ट से लेकर कर्नल तक के लिए अधिकृत रूप से कीमत निश्चित की गई थी। सन् १८६० तक तो यही स्थिति थी। हाउस ऑव् कोमन्स का हिसाबपत्र (१८५७-२, खण्ड १८ पृ-३१८-९) १७१८-२० से १८२१ तक का मूल्यपत्र भी बताता है कि रेजिमेन्ट ऑव् होर्स कर्नल की कीमत (१७१८-२० मे) ७५०० पाउण्ड स्टर्लिंग और एडज्युटन्ट की पाउण्ड स्टर्लिंग २००। एक सबसे ऊँची और दूसरी सबसे नीची।

२४ सोलहवीं, सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दी मे ब्रिटिश कानून किस प्रकार सजा देता था, उसके बहुत लेख उपलब्ध हैं। वे सजाएँ हैं फॉसी देना, जीवित जला देना, हाथ पैर काट देना, वध

स्तम्भ पर लटकाना, कोडे मारना इत्यादि। सन् १८५० तक न्याय की कस्टड़ी मे और सेना मे कोडे मारने का कार्य तो अतिशय सामान्य था। कोडे भी विविध प्रकार के होते थे।

२५ जहोन स्टुअर्ट मिल के सन् १८५८ के विवरण के अनुसार सन् १७६० के वाद भारत को जीतने की, अधीन बनाने की और उसके ऊपर शासन करने की सभी किमते भारत के राजस्व से ही चुकाई जाती थीं। इग्लैंड का एक भी पेसा उसमे खर्च नहीं होता था।

२६ 'आयर्लेन्ड पूर्ण रूप से क्यो नहीं जीता गया, उसके सही कारणों का इतिहास'।

२७ आई ओ आर , रेवन्यू डिस्पेच टु मद्रास, ११-२-१८०१

२८ 'सम्पूर्ण गाधी वाङ्मय' खण्ड १३, पृ २१८ (अग्रेजी) मद्रास के मिशनरी सम्मेलन म भाषण, १४-२-१८१६, बनारस हिन्दू युनिवर्सिटी मे दिए गए ऐतिहासिक भापण के बाद, आठ दिन के बाद ही यह भाषण हुआ था।

२९ हारे हुए पक्ष को जीते हुए के प्रति कुछ खर्च अथवा नुकसान चुकाना पड़ता है। यह नुकसान उसको जो कुछ खर्च अथवा नुकसान हुआ हे, उसके अनुरूप होता है, परन्तु अधिक तो जीते हुए का विरोध करने के दण्ड के रूप मे होता है। परन्तु पूर्व मे माना जाता था उसके अनुरूप, ओर विशेष रूप से आन्तरराष्ट्रीय नीतिगत व्यवस्था के अनुरूप, अथवा विश्वबन्धुत्व अथवा वेश्विकताकी वर्तमान धारणा के अनुसार विश्व के अन्यान्य देशो के सम्बन्धों के सन्तुलन के लिये दो बातें अनिवार्य बन जाती है। एक तो विश्व की सभी प्रजाओ का वैशिष्टय, उनकी सामाजिक राजकीय अभिव्यक्तियो, सहित अनुल्लघ्य माना जाता है, विश्व की व्यवस्था ही ऐसी बनी हुई है जिस मे बिना प्रत्यक्ष या परोक्ष आक्रमण के सभी सभ्यताएँ और जीवनशैलिया सहअस्तित्व बनाए रख सकती हैं। दूसरी बात यह है कि गत कुछ शताब्दियो में विश्व के बलवान देशो के लिये विश्व के ससाधनो की लूट और शोषण कल्पनातीत सीमा तक पहुच गया है। इसका परिणाम यह हुआ है कि शोषित और वचित प्रजा, यदि भौतिक रूप मे बची भी है (सामान्य रूप से तो नहीं बची है) तो उसकी और अधिक उपेक्षा हुई है और उसमे एक स्थगितता आ गई है। इस स्थगितता और विघटनने उन्हे अकथ्य दु खो के गर्त मे डाल दिया है। इतना ही नहीं तो जीवन के हर क्षेत्र मे अनेकानेक प्रकार की समस्याएँ भी निर्माण कर दी है। इस प्रकार कोने मे धकेली गई सभ्यताओ ने अपने ही पुरुषार्थ और पद्धति से फिर जीवित होने का प्रयास किया है। परन्तु आज के विश्व मे किसी को भी इस प्रकार कोने मे धकेल देना असम्भव सा हो गया है इसलिये दूसरा विकल्प यह है कि विश्व के धनवान दश (वचितों के देश के धनवान हिस्से भी) विश्व मे जो भयावहता निर्माण हो गई थी, और जो आज भी है, उसके लिये पश्चात्ताप का अनुभव कर रहे हैं और उन्हें लगता है कि विश्व के सभी ससाधनों का पुन बटवारा होना आवश्यक है। (आज ब्राण्डट आयोग ने जैसा परामर्श दिया है वह तो अत्यन्त अल्प है। उससे तो यह अलग ही है।) विश्व की शान्ति के लिये भी यह बटवारा आवश्यक हो गया है। क्योकि यह तो मानना ही पडेगा कि ऐसी लूट और शोषण नहीं चलने देना है तो उसे निश्चयपूर्वक और विचारपूर्वक उलटाना भी पडेगा। इसी प्रकार का पश्चात्ताप समृद्ध देशो ने अपने ही देश के शोषितों और वचितो के प्रति भी प्रदर्शित करना पडेगा।

---

* दिसम्बर १९८२ में वाराणसी के गाधी अध्ययन सस्थान में आयोजित 'पिछडापन' विषयक गोष्ठि मे प्रस्तुत पत्र।

५. इतिहास की पृष्ठभूमि में भारतीय कृषि की उत्पादकता

गोष्ठी का विषय है 'उत्तम कृषि के लिए प्राकृतिक ससाधनो का उपयोग।' मे कृषिशास्त्र अथवा कृषिविषयक टेकनोलॉजी के विष्य मे लगभग कुछ नहीं जानता हूॅ। फिर भी ऐसी आतर्राष्ट्रीय स्तर की गोष्टी मे भाग लेने का आमत्रण मुझे मिला है उसको मे बड़ा सम्मान समझता हूॅ। २०० वर्ष पहले भारत केसा था, यह जानने के लिए उत्सुक भारत के एक सामान्य इतिहासकार के रूप मे मुझे उस समय की भारत की सामाजिक, आर्थिक, सास्कृतिक स्थिति कैसी थी, यह जानने मे बहुत रुचि है। मुझे इस बात की भी जिज्ञासा रहती है कि अन्य देशो मे, और विशेष करके शीघ्रता से फैलने वाले और विजयी होने वाले पश्चिम यूरोप के देशो मे ये सभी पहलू कैसे हैं, ओर भारत उनकी तुलना मे कहा खडा है।

बीस वर्ष पूर्व भारत विषयक सामग्री की खोज के दौरान दो सौ वर्ष पूर्व की भारत की टेकनोलोजी तथा अर्थव्यवस्था के अनेक पहलुओ के विषय मे महत्त्वपूर्ण तथा निश्चित जानकारी प्राप्त हुई। उनमे कुछ कृषि विषयक जानकारियॉ भी थीं। उन जानकारियो के आधार पर पिछले कुछ वर्षो मे मेरे कुछ साथियो के साथ मिलकर मै तमिलनाडु के सर्वेक्षण के अभिलेखो का अध्ययन कर रहा हूॅ। यह सर्वेक्षण टॉमस बर्नाड नामक एक ब्रिटिश इन्जीनियर के द्वारा उसके ऊपरी अधिकारी के आदेशानुसार सन् १७७० के आसपास किया गया था। मद्रास का इलाका सीधा ब्रिटिश आधिपत्य मे गया, उसके बाद लगभग तुरत ही यह सर्वेक्षण किया गया। इस सर्वेक्षण से प्राप्त सामग्री का विश्लेषण अभी हम कर ही रहे है, परन्तु गत ५०-१०० वर्षो मे भारतीय कृषि जिस स्थिति में है उसके परिप्रेक्ष्य मे इस सर्वेक्षण के अनुसार लगभग ८०० गॉवो की खेती की उपज की सतही जानकारी भी वास्तव मे चौका देने वाली है।

हम जिस पर काम कर रहे है, वह १७६२ से ६६ के पॉच वर्षो की कृषि उपज की जानकारी है। हमारे विश्लेषण के अनुसार इन पॉच वर्षो मे भूमि की औसत उत्पादन क्षमता प्रति हेकटर ३६ क्विटल धान और १६ क्विटल अन्य अनाज की है। यह औसत २४ हजार हैक्टर सिचाई की और १४ हजार हैक्टर बिन सिचाई की भूमि की है। उस

क्षेत्र की कुल उपज की औसत हर वर्ष १२ लाख क्विटल धान और लगभग दो लाख क्विटल सूखे अनाज की हे। इस क्षेत्र के जमीन जोतने वाले और न जोतने वाले परिवारो की कुल सख्या लगभग २६,००० हे। इसका तात्पर्य यह हे कि उस समय प्रति परिवार एक वर्ष मे लगभग ५७ क्विटल अन्न पेदा होता था।

सर्वेक्षण के ८०० गॉवो मे १३० गॉव ऐसे हे, जहॉ सिचाई युक्त भूमि की औसत उपज प्रति हेक्टर ५० क्विटल से अधिक है। इन १३० मे बहुत से गॉव ऐसे है, जहॉ जुताई की जमीन मे प्रति वर्ष १०० क्विटल से अधिक धान पैदा होता हे। उदाहरण के लिये कालाकट्टूर नामक गॉव मे सिचाईयुक्त खेती मे १२० हेक्टर मे लगभग १५०० टन धान पैदा होता है, चिन्नमबेदु मे ४३५, सोमगलम मे ७३ हेक्टर मे ७५० टन धान पैदा होता है। अन्य भी कुछ गॉव है, जहॉ सिचाईयुक्त भूमि और पैदावार की ओसत इसी स्तर की है। इन १३० गॉवो की पैदावार का स्तर इतना ऊँचा है कि उस क्षेत्र की एक पचमाश भूमि उस क्षेत्र की कुल पैदावार का ५० प्रतिशत अनाज पैदा करती है। १३० गॉवो की औसत पैदावार ७००० हेक्टर जुताई वाली जमीन मे प्रति हेक्टर ८२ क्विटल जितनी ऊँची है। इन १३० गॉवो की कुल पैदावार का लगभग आधा हिस्सा केवल १८ गॉवो मे ही पैदा होता है। इन गावो की औसत पैदावार प्रति हेक्टर सौ क्विटल से भी अधिक है।

८०० गॉव के विशाल क्षेत्र मे प्रति हेक्टर ३६ क्विटल और उससे भी अधिक पैदावार वाले गॉवो मे प्रति हेक्टर ८२ क्विटल धान की पैदावार बहुत ऊँची कही जाती है। वस्तुत भारतीय सदर्भ मे देखे तो चेगलपट्टु की जमीन तजावुर या गोदावरी जिले की जमीन की तुलना मे कम पैदावार वाली मानी जाती है। भारत के अन्य भागो मे भी ब्रिटिश पूर्व के समय की खेत पैदावारो की जानकारी लगभग इसी प्रकार की है। 'आइने अकबरी' के अनुसार सामान्य स्तर की गेहूँ की पैदावार भी हरित क्रान्ति के बाद की भारत की अच्छी से अच्छी पैदावार से अधिक थी। चोल समय के (१० से १३ वीं शताब्दी) शिलालेख के आधार पर तैयार हुए, दि केम्ब्रिज इकोनोमिक हिस्ट्री ऑव इडिया (The Cambrıdge Economıc Hıstroy of Indıa) के अनुमान के अनुसार तमिलनाडु के दक्षिण आरकोट जिले की विविध प्रकार की जमीनो मे प्रति हेक्टर लगभग ३३ क्विटल धान पैदा होता था, और उसकी तुलना मे कम उपजाऊ मानी जाने वाली रामनद जिले की अच्छी से अच्छी जमीन मे प्रति हेक्टर लगभग ६६ क्विटल धान पैदा होता था। एक निरीक्षक के अनुसार १८ वीं शताब्दी के प्रारम्भ मे इलाहाबाद मे प्रति हेक्टर ४० क्विटल गेहूँ पैदा होते थे। सन् १८०० के अनुमान के अनुसार कोईम्बतूर मे

प्रति हेक्टर ३५ क्विंटल और पटना तथा गया की कम उपजाऊ जमीन मे उससे कुछ कम मात्रा म गेहू पैदा होते थे। १८०७ मे मद्रास प्रेसिडेन्सी राजस्व विभाग के सदस्य ज्होन होजसन के अदाज से कोईम्बतूर की अच्छी जमीन मे प्रति हेक्टर लगभग ६० क्विंटल धान पैदा होता था। १८०४ के आसपास 'एडिन बरो रिव्यू' (Edinburgh Review) मे भारतीय कृषिपैदावार विषयक चर्चा हुई थी। भारत की कृषिपैदावार उस समय की इग्लण्ड की कृषिपैदावार से तीन गुना अधिक थी। चेगलपट्टु के ८०० गॉवो की यहाँ प्रस्तुत जानकारी का क्षेत्र भी इतना बडा है कि उस जानकारी को अपवाद या अतिशयोक्ति नहीं कहा जा सकता है। वस्तुत वह कोई एक दो व्यक्तियो के द्वारा प्राप्त व्यक्तिगत अदाज भी नहीं है।

भारतीय कृषक की ऐसी महती उपलब्धि का रहस्य क्या है ? यह स्पष्टीकरण दिया जाता है कि जमीन पर लोकसख्या का भार कम होने के कारण अच्छी से अच्छी जमीन ही खेती के लिए उपयोग मे ली जाती थी। इसमे कदाचित तथ्य हो सकता है। विश्व के सभी देशो मे यही बात लागू हो सकती है। फिर भी अधिकाश निरीक्षक इस विषय मे एकमत हैं कि १८ वीं शताब्दी के उत्तरार्ध म नाइट्रोजनयुक्त खाद के आविष्कार के बाद की हरित क्रान्ति मे भी इग्लण्ड की जो कृषिपैदावार थी, उससे अठारहवीं शताब्दी और उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध मे भारत की कृषिपैदावार अधिक थी। लगभग १८४० के बाद इग्लेण्ड के किसान अधिक मात्रा मे खाद का उपयोग करने लगे थे। प्रारम्भ मे वे तेजी से बढने वाले ब्रिटिश लोहे के कारखानो के अवशेष रूप पोटाश का उपयोग करते थे, बाद मे १८४० से ६० के दौरान दक्षिण अमेरिका के पेरु से लाखो टन के हिसाब से पक्षियो की बीट मगवाते थे। दक्षिण अमेरिका मे शतको मे ऐसी पक्षियो की बीट इकट्ठी हुई थी। इसके बाद वे कृत्रिम खाद का उपयोग करने लगे।

केवल उत्तम जमीन के कारण ही भारत के किसान अधिक पैदावार प्राप्त करते थे, यह नहीं कहा जा सकता है। कृषि के लिए वे किस प्रकार की टेकनोलॉजी का उपयोग करते थे, उसकी जानकारी भी आवश्यक है। अठारहवीं शताब्दी के अनेक पाश्चात्य निरीक्षको ने भारतीय किसान की कृषिविषयक अत्यन्त उन्नत टेकनोलॉजी की जानकारी दर्ज की है। बुवाई के लिए उत्तम बीज, उत्तम ओजार और खेत तथा फसल की उत्तम प्रकार की देखभाल इस टेकनोलॉजी के मुख्य अग हैं।

अभी अभी ज्ञात हुआ है कि आग्रा के आसपास के क्षेत्रो मे लगभग ४१ प्रकार की फसलें ली जाती थीं। उत्तरप्रदेश के अन्य क्षेत्रो मे भी ली जानेवाली फसलो की सख्या भी लगभग इतनी ही थी। दक्षिण भारत के विषय मे एलेकझान्डर वॉकर

(वह मलबार और गुजरात मे १७८० से १८१० के मध्य था।) कहता है कि अकेले मलबार क्षेत्र मे ही ५० तक धान की जातियाँ पैदा होती थीं। बीज की इतनी अधिक विविधता और जमीन तथा ऋतु के अनुसार उसमे परिवर्तन करने की भारतीय किसान की कुशलता विश्व के किसी भी देश के किसानो की तुलना मे उसे श्रेष्ठ सिद्ध करती थी। अन्य देश के किसानो मे ऐसी कुशलता बहुत कम थी।

एलेकझान्डर वॉकर यह भी कहता है कि भारत का किसान अलग अलग बीज तथा जमीन के लिए अलग अलग प्रकार के हलो का उपयोग करता था। केप्टन टोस हेलकोट ने सन् १७८५ मे जब दक्षिण भारत के खेत मे हल देखा, तब उसको आश्चर्य हुआ, क्योकि वह ऐसा ही मानता था कि इस प्रकार का हल तो पश्चिम यूरोप का ही आविष्कार हो सकता है। भारत के हल से वह इतना प्रभावित हो गया, और उसको इग्लैण्ड के हल से वह इतना श्रेष्ठतर लगा कि विविध प्रकार के हलो के नमूने एकत्रित करके उसने लदन के अर्ध सरकारी कृषि निगम को भेज दिए।

अपने खेत और उसमे खडी फसल की देखभाल करनेवाला भारतीय किसान तो दतकथारूप है। गुजरात से गुजरते हुए एलेकजन्डर वॉकर वहा के खेत की स्वच्छता और सुदरता देखकर बोल उठा, 'समग्र विश्व मे गुजरात के किसान के खेत से अधिक सुदर खेत किसी का नहीं हो सकता है।' भारत के किसान की कुशलता और सावधानी देख कर उसने कहा, 'मैने केप कोमोरिन से कच्छ की मरूभूमि तक अत्यन्त कठिनाई से होनेवाली कृषि, खाद, पशुओ के चारे के लिए घास, बीज परिवर्तन, फसल परिवर्तन आदि की जानकारी प्राप्त की है। (परन्तु इतनी कुशलता कहीं देखी नहीं है।)'

खेत और खेतपैदावार के प्रत्येक पक्ष मे ऐसी कुशल और सावध देखभाल के कारण ही भारत के किसान, पद्धति और औजारो के विषय मे भी श्रेष्ठ सिद्ध हुए है और परिणामस्वरूप अधिक से अधिक और अच्छे से अच्छी फसल भी ले सके है। इसी के परिणामरूप एलेकजन्डर वॉकर कहता है कि इसी प्रकार से मलबार का किसान धान काटने के लिए यत्र भी तैयार कर सकता है। वस्तुत भारत के किसान की कृषिविद्या का मुख्य पहलू भूमि का उपयोग करने की योग्य पद्धति है। जैसे अभी हमने बात की, चेगलपट्टु के ८०० गॉवो में आधी जोतने योग्य जमीन पानी मे थी। कुल जोतने लायक जमीन लगभग ५४,००० हेक्टर थी। २६,००० हेक्टर जमीन के लिये सिचाई के विविध स्रोत उपलब्ध थे। १८,००० हेक्टर मे जगल था। इस प्रकार हरियाली और पानी की विपुलता के कारण पैदावार का अनुपात भी अधिक होना स्वाभाविक था।

सन् १९४७ से ही हम खेतपैदावार मे वृद्धि से सम्बन्धित समस्याओ का सामना

कर रहे है। इस हेतु हमने बाहर से अनेक प्रकार की टेकनोलॉजी आयात की है। प्रत्येक विषय मे प्रगति के लिए और नए विचारो के लिए हम यन्त्रवत् आदत से मजबूर होकर बाहर की ओर ही ताकते है। खेती के विषय मे भी ऐसा ही करे, उसमे कोई आश्चर्य नहीं है। परन्तु बाहर से आयात की जाने वाली टेकनोलोजी हमारी अन्न की समस्या हल नहीं कर सकती है। इतना ही नहीं तो ऐसी आयाती टेकनोलोजी हमारी जमीन के लिए अत्यत हानिकारक है। ऐसा लगता है कि हमारी अच्छे से अच्छी जमीन मे भी वर्ष मे ५०-६० क्विटल फसल लेने के लिए हम जमीन की उर्वरता का नाश कर रहे है। ऐसी टेकनोलोजी कदाचित् अमेरिका, रशिया, ऑस्ट्रेलिया, दक्षिण अफ्रिका जैसे देशो के अनुकूल हो सकती है। क्योकि वहॉ बिना निवास की विशाल जमीन उपलब्ध है। उस जमीन से कुछ जमीन का उपयोग करते करते, उसके उर्वरताशून्य बन जाने पर उसको छोड़ दिया जा सकता है, और कृषि के लिए दूसरी जमीन का उपयोग हो सकता है। छोड़ दी गई जमीन समय व्यतीत होने पर प्राकृतिक रूप से पुन कृषियोग्य बन जाती है। परन्तु ऐसी पद्धति भारत के लिए कितनी उचित है, इसका विचार करना चाहिए। भारत भौगोलिक दृष्टि से भी घनी आबादी तथा हरियाली वाला होने के कारण ३०, ४० या १०० वर्षो मे भी हमारी कृषियोग्य भूमि बजर बनानेवाली टैक्नोलोजी हमारे अनुकूल नहीं है।

हमारे पास सन् १८५० की तुलना मे विचार करने के लिए कुछ अधिक समय है। हमे आधुनिक विज्ञान, टेकनोलॉजी और पाश्चात्य सस्थाओ का अनुभव भी प्राप्त है, इसलिए हमे २०० वर्ष पूर्व का भारतीय किसान बिना आज की विनाशकारी पद्धति का उपयोग किए प्रति हेक्टर दस टन तक की फसल प्राप्त करने के लिए क्या क्या करता था, वह जानने के गभीर प्रयास करने चाहिए। आज तो हमने सिचाईयुक्त जमीन पर आधुनिक पद्धतियो का प्रयोग किया है। वर्षा पर आधारित खेती को हमने छुआ नहीं है। ऐसी वर्षा पर आधारित खेती के विषय मे भारतीय किसान की ऊँची पैदावार देनेवाली पद्धतियो का प्रयोग करना चाहिए।

ऐसा तर्क किया जाता है कि आज की विशाल जनसख्या की आवश्यकता की पूर्ति के लिए भारतीय पद्धति नहीं चलेगी। हमे आधुनिक पाश्चात्य पद्धति अपनानी ही पड़ेगी।

यह तर्क ठीक है या नहीं, इसकी जॉच करना पहले जरुरी है। यदि इसमे तथ्य है, तो हमे कुछ लघु अवधि की और कुछ दीर्घ अवधि की नीति निश्चित करनी चाहिए। भारत और पाश्चात्य पद्धतियो का सयोजन करके अधिक से अधिक उत्पादन प्राप्त हो सके और जमीन हमेशा के लिये क्षतिग्रस्त न हो जाए, उसकी उर्वरता बनी रहे ऐसा

करना अपनी नीति का एक भाग होगा। भविष्य की जनसख्या वृद्धि का ध्यान करते हुए योजना बनाना, यह दूसरा भाग होगा। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध मे ओर पूरी बीसवीं शताब्दी मे भारत के पुनरुत्थान के सम्बन्ध मे बहुत ऊहापोह हुआ है। फिर भी इस प्रकार के प्रश्नो के उत्तर कभी ढूँढे नहीं गये है। बहुत लबे समय तक भारत का सचालन ऐसे लोगो के हाथ मे रहा है, जिनकी भारत की स्वभावगत वास्तविकताओ की जानकारी नहीं के बराबर है, और जो १५०-२०० वर्ष के ब्रिटिश शासन मे प्रचलित ओर प्रस्थापित ज्ञान, विज्ञान और टेकनोलोजी के अवशेषो को ही ब्रिटिशरो की विरासत मानकर देश के लिए उपयोग मे लाते रहे है। ऐसे लोग सब ज्ञान, टेकनोलॉजी, पद्धति यूरोप और अमेरिका से आयात कर रहे हैं। भारत के लोग या भारत का ज्ञान - दो मे से एक के साथ भी उनका कोई सबध स्थापित नहीं हुआ है।

उज्वल भविष्य के लिए विदेशो से किसी भी प्रकार का ज्ञान और किसी भी प्रकार की टेकनोलोजी आयात करने से पूर्व हमारा अपना आध्यात्मिक और बौद्धिक अधिष्टान ठीक प्रकार से अवगत कर के उस आधार पर ही बाहर से कुछ स्वीकार करने की योजना बनाना बहुत आवश्यक है। ऐसे जागृत प्रयास इस प्रकार के हो, जिनके परिणामस्वरूप एक या दो पीढियो मे हमारी लोकसख्या बढने की अपेक्षा स्थिर रहे, इतना ही नहीं, बल्कि कम भी हो-२०५० तक शायद ५० करोड जितनी हो। तब भी ऐसे प्रयासो का आधार तो आध्यात्मिक और बौद्धिक रीतिसे अत्यत बलवान होना चाहिए।

पश्चिम से कुछ भी सीखने की अरुचि होने के कारण मै इन बातो को आग्रहपूर्वक कह रहा हूँ ऐसा नहीं है। विश्व का समस्त ज्ञान देशी और विदेशी का मिश्रण ही होता है। इतिहास के प्रारम्भ काल से ही टेकनोलॉजी का आदान प्रदान होता ही रहा है। पश्चिम ने भी गत ६००-७०० वर्षो मे जो सिद्धियॉ प्राप्त की हैं, वे इस आदान प्रदान का ही परिणाम है। ब्रिटिशरो ने उत्तम प्रकार का पोलाद बनाने की, प्लास्टिक सर्जरी की और अन्य कई कलाएँ अठारहवीं शताब्दी के भारत से प्राप्त की है। परन्तु जो कुछ लेते है, उसे हमारी परिस्थिति, क्षमता तथा आवश्यकताओ के अनुकूल बना कर आत्मसात करने से ही सफलता और समृद्धि प्राप्त हो सकती है। यूरोप ने ऐसा किया है। सभी विषयो मे विवेकपूर्वक अपनी आवश्यकताओ के अनुसार जो योग्य है, उसी को स्वीकार करके, आवश्यकता के अनुसार उसमे परिवर्तन करने के बाद उसका उपयोग करने की पद्धति ही योग्य मानी जाती है।

भारत की उत्तम कृषि के लिए प्राकृतिक ससाधनो के विनियोग के विषय मे हम यदि वास्तव मे गभीर और प्रामाणिक है, तो इस समय जो कुछ चल रहा है, उसकी

दिशा पलटकर हमे अपने लोगो से और अपने ही प्राकृतिक परिवेश से सीखने की शुरुआत करनी चाहिए।

चेगलपट्ट के ८०० गॉवो का उत्पादन और उत्पादन क्षमता
१७६२-१७६५

	कुल नमूने	धान के उत्पादन की क्षमतायुक्त गॉव ५० क्वि /हेक्टर	धान उत्पादन की क्षमतायुक्त गाँव १०० क्वि /हेक्टर
गाँवों की सख्या	८००	१३०	१८
कुल परिवार	२५,६२०	६,६९८	२,४५५
कुल जमीन (हेक्टर में)	१,५१,८२१	२६,४२४,	९,४१५
जगल के अतर्गत जमीन (हेक्टर मे)	१५,८००	२,२०१	३९८
सिचाईयुक्त जमीन (हेक्टर मे)	२३,३९२	४,९६७	१,७९८
सिचाईयुक्त खेती (हेक्टर में)	३४,१३६	७,२०३	३,७४५
सूखी खेती (हेक्टर में)	१३,८५७	२,३६४	१,००६
धान की पैदावार (५ वर्ष की औसत) (१७६२-६५, क्विटल मे)	१२,३४,३२९	५,९१,१०७	३,२६,११४
दाल की पैदावार (१६६२-६५, ५ वर्ष की औसत क्विटल में)	२,१७,८९०	७१,९७५	२२,४२९
धान की पैदावार क्षमता क्वि /हेक्टर	३६ १६	८२ ०६	८७ ०८
दाल की पैदावार क्षमता क्वि /हेक्टर	१५ ७२	२५ १३	२२ ३०
क्षेत्र की औसत उत्पादन क्षमता क्वि /हे	३० २६	६५ ८७	७३ ३६
प्रतिपरिवार उत्पादन (क्वि मे)	५६ ६८	९९ ००	१४१ ९७

* १९९० में नई दिल्ली के इण्डिया इटरनेशनल सेटर (India International Centre) में आयोजित 'उत्तम कृषि के लिये प्राकृतिक ससाधनों का व्यवस्थापन (Natural Resource Management for Sustainable Agriculture) विषयक आन्तरराष्ट्रीय गोष्ठि मे प्रस्तुत पत्र

६. भारत में जनगणना (१८८१-१९३१)

लगता है कि अग्रेज भारत मे आए और बड़े बड़े प्रतिष्ठान ओर कारखाने[१] बनाने लगे, उससे पहले से ही वे जहॉ जहॉ स्थिर हुए, वहा के सर्वेक्षण करना, वहा की जनसख्या गिनना, वहा की सपत्ति और सैनिक क्षमता का अदाज लेना आदि कार्य करने के लिए उन्हे कहा जाता था। इस प्रकार जनगणना, अन्य सर्वेक्षण आदि जैसे काम तो अग्रेजो ने भारत मे लगभग सन् १६०० से पूर्व ही प्रारम्भ कर दिए थे, और लगभग १७५० के आसपास जब अग्रेजो ने भारत के अधिकाश प्रदेशो मे सैनिकी और राजकीय आधिपत्य जमा दिया, उसके बाद तो ऐसे बार बार होने वाले सर्वेक्षण एक आम बात हो गई।

सन् १७५० के बाद हुए सर्वेक्षणो मे दो सर्वेक्षण महत्त्वपूर्ण और ब्यौरेवार सर्वेक्षण थे। एक था मद्रास (चैन्नई) के नजदीक चेगलपट्टु जिले का और दूसरा था बगाल और बिहार प्रदेश की 'बाजी और चाकरण जमीन'[२] का। चेगलपट्टु के १७६७ से १७७४ दरम्यान किए गए सर्वेक्षण मे दो हजार से अधिक बस्तियो को समाविष्ट किया गया था। जमीन, पानी के स्रोत, मकान, बस्ती के प्रत्येक घर मे रहने वाले लोगो के व्यवसाय, कृषिपैदावार, लकडी, पशु, भेड़बकरी इत्यादि की विस्तृत पैमाइश की गई थी। १७७० मे किए गए बगाल के 'बाजी और चाकरण जमीन' के सर्वेक्षण मे इससे भी अधिक विस्तृत पैमाइश की गई थी। सन् १८०० आते आते प्रत्येक जिले मे ऐसे सर्वेक्षण किए गए थे। उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक प्रति वर्ष अन्यान्य प्रकार के सर्वेक्षण हो रहे थे।

एक प्रकार से देखे, तो ये सर्वेक्षण उस ब्रिटिश विजय के अभिन्न अग थे। समय बीतते भारत पर वर्चस्व जमाने के लिए और लोगो का नियन्त्रण करने के लिए एक प्रभावी साधन थे। साथ ही राज्य की नीति निर्धारित करने के लिए उनके परिणाम और निष्कर्ष बहुत उपयोगी थे। वैसे तो इस प्रकार के सर्वेक्षणो का विचार भारत मे पैदा नहीं हुआ था। ब्रिटिश कार्यपद्धति के अभिन्न अग के समान यह विचार इग्लैण्ड मे उत्पन्न हुआ था। इन सर्वेक्षणो मे आगे चलकर एक एक व्यक्ति की विशेषताओ का वर्णन लिखना प्रारम्भ हुआ। जमीन, मकान, घोडा, औजार, यत्रसामग्री, इत्यादि की गणना होने लगी। इग्लैण्ड मे जनगणना १८०१ मे हुई थी और उसके बाद आज तक हर दस वर्ष मे होती

रहती है।

१८५० के आसपास अंग्रेज पूरे भारत की जनगणना करने का विचार करने लगे थे, परन्तु ठीक १७ फरवरी १८८१ के दिन वह काम प्रारभ हो सका। १८८१ की जनगणना कोलकता के सेन्सस कमिशनर (जनगणना आयुक्त) के निर्देशन मे और प्रत्येक प्रान्त के प्रेसीडेन्सी के और देशी रजवाड़ो के सेन्सस सुपरिन्टेन्डन्ट (जनगणना अधीक्षक) के निरीक्षण मे की गई थी। इस गणना के अनुसार भारत का जमीनी क्षेत्रफल १३,८२,६२४ वर्ग मील था और जनसख्या २५,३८,८१,८२३ थी। अखिल भारतीय जनगणना का लिखित विवरण अलग अलग प्रकरणो मे विभाजित था। यहाँ उसका उल्लेख उपयोगी होगा।

१८८१ की जनगणना के लिखित विवरण के प्रथम खण्ड के साथ साथ अन्य तीन खण्ड भी प्रकाशित हुए थे। उसमे ऊपर दिए गए विवरण और विभागो के साथ सबधित अको की सारिणिया दी गई थीं। चार खण्ड मिलकर कुल लगभग १२०० फोलियो थे। प्रदेशो मे और प्रेसीडेन्सी मे यही क्रम अपनाया गया था। सन् १९४१ मे की गई सातवीं जनगणना तक यही पद्धति थोड़े बहुत सुधार के साथ अपनाई गई थी। १९४१ की जनगणना अधूरी थी, क्योंकि अंग्रेज और उनकी सरकार विश्वयुद्ध मे लगी हुई थी। इसलिए उस विषय का प्रकाशित साहित्य तुलना मे बहुत कम था। १८८१ से १९४१ तक की इन सातो जनगणनाओ के विवरण के कुल पृष्ठों की सख्या १,२०,००० जितनी होती है। लदन की इडिया ऑफिस के पुस्तकालय मे मुद्रित प्रतियो के आधार पर स्विट्जलैंड मे तैयार हुई ३६८३ माईक्रोफिश के रूप मे भी उपलब्ध है। जिसके लिए, और जहाँ यह जनगणना हुई थी, उस सपूर्ण भारत का या किसी एक प्रदेश का भी सपूर्ण विवरण उपलब्ध नहीं है।

इडिया ऑफिस लदन मे अथवा स्विट्जलैंड में भी कार्यालयीन अथवा सार्वजनिक उपयोग के लिए तैयार हुए मूल विवरण का आधा भाग ही उपलब्ध है। समग्र भारत और अलग अलग प्रदेशो के सभी विवरण उपलब्ध होते हुए भी गाँव और शहर, परगना और जिला इत्यादि के विषय मे ब्यौरेवार जानकारी उसमे नहीं मिलती है। यह जानकारी मूल विवरण मे तो छपी ही होगी। देशी रजवाडों ने व्यक्तिगत रूप मे छोटे पैमाने पर जो विवरण तैयार किए होगे, उन्हे भी इसमे शामिल नहीं किया गया है।

उपलब्ध होने वाले अधिक विस्तृत विवरण १८९१ (७२२ माइक्रोफीश) १९०१ (७५१ माइक्रोफीश) और १९३१ (५८८ माइक्रोफीश) की जनगणना के है। उनमें भी १८९१ के मैसूर राज्य के सभी विवरण सर्वाधिक विस्तृत है।

क्रम	अनुच्छेद	विवरण	पृष्ठक्रमाक
१	१-२९	क्षेत्र और घनता	१-१५
२	३०-७६	लोगो के पथ	१६-५०
३	७७-११५	स्त्री पुरुष अनुपात	५१-८३
४	११६-१५३	नागरिक स्थिति (विवाहित, अविवाहित, विधवा)	८४-११३
५	१५४-१७१	आयु	११४-१४१
६	१७२-२४०	मृत्युदर और आयु की अवधि	१४२-१८३
७	२४१-३५८	भाषा	१८४-२१६
८	३५९-३८५	जन्मस्थान के आकडे	२१७-२२६
९	३८६-४०४	शिक्षा के आकडे	२२७-२५४
१०	४०५-४३३	पागल, अध, बहरे, गूगे, और कुष्ठरोगी	२५५-२७०
११	४३४-४४८	नगरीय और ग्रामीण	२७१-२७६
१२	४४९-६९१	जाति के आकडे	२७७-३४६
१३	६९२-७७३	व्यवसाय	३४७-४५२
१४	७७४-७८९	यातायात	४५३-४६६
१५	७९०-८०५	उपसहार	४६७-४७३

२

प्रत्येक जनगणना जमीन के क्षेत्रफल तथा प्रदेश की भूरचना के वर्णन से प्रारम्भ होती है। बाद के दशकों मे, विशेष करके १९२१ और १९३१ मे, भारत के देशी उद्योगो के ह्रास का वर्णन भी है, साथ ही साथ यत्र आधारित आधुनिक उद्योगो के विस्तार का भी वर्णन है। उसमे पशु आदि की भी गणना है। फिर भी प्रत्येक जनगणना का मुख्य प्रयोजन तो भारत मे रहने वाले लोगो की सख्या, उनके जातिगत, सास्कृतिक, सामाजिक लक्षण और मन का झुकाव तथा उनकी आर्थिक गतिविधिया और आर्थिक समूहो के विषय मे जानकारी इकट्ठी करना था। लगभग १९११ तक यहाँ के लोगो के धर्म, पथ और उपपथो के विषय मे अधिक से अधिक अनुमान और छानबीन होती थी, और इससे भी अधिक यहाँ के सामाजिक वर्गो का वर्णन किया जाता था, सूचियाँ बनाई जाती थीं, गणना की जाती थी और विभिन्न प्रकार से 'जाति' की सारिणिया तैयार की जाती थीं।

१८९१ तक 'जाति' मे इनकी रुचि बहुत बढ गई थी। पजाब, उत्तर पश्चिम प्रान्त, अवध (वर्तमान उत्तरप्रदेश), मद्रास प्रेसीडेन्सी और हैदराबाद राज्य की जनगणना के विवरणो मे जातियो की अनुक्रमणिका भी शामिल की गई थी। पजाव की अनुकमणिका मे उपजातियो के रूप मे एख लाख से भी अधिक नाम थे। उत्तर प्रदेश मे ५४,०००, मद्रास प्रेसीडेन्सी मे लगभग ३०,००० और हैदराबाद मे लगभग ५,००० उपजातियों का उल्लेख था। १८९१ मे पजाब मे ४० लाख से अधिक मुसलमान, हिन्दू, सिख, और जाटो मे उपजातियो की सख्या ११,००० अकित थी। दूसरे अलग अलग समूहो के लिए ऐसी उपजातियो की सख्या ११०० से लेकर २००० तक की थी। मद्रास प्रेसीडेन्सी मे परियार की उपजातियो की सख्या लगभग ३५० और पल्ली की लगभग ३६५ थी। १९११ की गणना मे पजाब की उपजाति की गणना मे कुछ परिवर्तन किया गया था, परन्तु उसके बाद भी पजाब की सूची मे ५०,००० से अधिक जातियो के नाम थे। पजाब के जाटो की अभी भी ४,४७३ उपजातियॉ थीं।

१९११ की जनगणना के अनुसार पजाब की चयन की गईं १५ जातियो की उपजातियो की सख्या निम्नलिखित सारिणी मे दी गई है।

१५ चयनित जातियो की उपजातियो की सख्या

क्रम	जाति	वर्ष १८९१	वर्ष १९११ (सुधारित)
१	अग्रवाल	७०३	२८६
२	अहीर	५८७	४२०
३	आवान	२२४९	१०१३
४	बिलोच	१५५१	१०६०
५	ब्राह्मण	२१७३	१४८४
६	चूड़ा	३९१६	२३०५
७	फकीर	१०२२	९२७
८	जाट	११,१६१	४४७३
९	खत्री	३०८६	१५५९
१०	लोहार	३०५७	१८६८

११	माछी	१०४७	७८४
१२	मुसल्ली (ऊपर 'चूडा' के साथ सम्मिलित)		५८१
१३	राजपूत	५७२३	३५८६
१४	शेख	१६२७	१०६८
१५	सुनार	१५७६	१४९४

यदि सभी प्रदेशो ने, प्रेसीडेन्सियो ने और देशी रजवाडो ने ऐसे विवरण तैयार किए होते और छपवाए होते तो उपजातियो के कुल नामो की सख्या तीन से पॉच लाख हुई होती। इन सूचियो को बनाने मे और उनका वर्गीकरण करने मे वडी वड़ी गलतिया हुई थीं, फिर भी यह तो स्पष्ट ध्यान मे आता है कि प्रत्येक परिवार स्वय को अपने वश के आधार पर पहचानता है और उपजाति के रूप मे जो नाम देता है वह उसके कुल का नाम है। उस अनुक्रमणिका मे की गई अपेक्षा को पूर्ण करनेवाले गोत्र, उपजाति या जाति के नाम नहीं है।

इन विवरणो के अनुसार किसी भी प्रान्त या प्रेसीडेन्सी मे मुख्य जातियो की सख्या ३० से ५० थी और प्रत्येक प्रान्त मे वह कुल बस्ती के लगभग ७५ प्रतिशत थी। बगाल जैसे प्रान्त मे जहा मुसलमानो की सख्या बहुत अधिक थी, वहा मुसलमान धीरे धीरे 'शेख' के रूप मे पहचाने जाने लगे, और वे मुसलमानो की कुल बस्ती के ७५ प्रतिशत जितने हो गए। ऐसी मुख्य जातियो के अलावा लगभग एक सौ से तीन सौ तक अन्य समूह थे, जो कुल जनसख्या के २५ प्रतिशत जितने थे और विभिन्न कारीगरी के व्यवसाय करते थे। इसके अतिरिक्त अधिकाश प्रान्तो मे एक सौ से तीन सौ छोटे छोटे समूह थे, जो कुछ हजार अथवा सौ की गिनती मे बैठते थे।

३

जनगणना का निर्देशन करने वाले लोगो के लिए 'जाति' एक उलझनभरा और फिर भी आकर्षण का विषय था। फिर भी भारत का स्त्री और पुरुष का अनुपात उनके लिए अधिक रुचि का विषय बना। यूरोप मे प्राचीन और मध्य युग मे शिशुहत्या का प्रचलन था, उस बात का ब्रिटिशरो को ध्यान था, इसी कारण से इस विषय के प्रति उनका ध्यान एकदम आकर्षित हुआ। इसके अतिरिक्त उन्होने सत्रहवीं शताब्दी से यही सुना था कि भारत के कुछ प्रदेशो मे सती प्रथा का भी अस्तित्व है, और गुजरात तथा

उत्तर प्रदेश के कुछ प्रदेशो मे लड़कियो को दूध मे मुँह डुबोकर मार दिया जाता हे। इस कारण से भी स्त्री-पुरुष अनुपात की ओर उनका ध्यान अधिक गया। उसी से यह धारणा प्रचलित हुई कि भारत मे लड़कियो की हत्या की जाती है, और नहीं तो स्त्रियाँ उपेक्षा और दुर्व्यवहार की शिकार तो होती ही हे।

१८८१ की भारतव्यापी जनगणना पुरुषो की कुल सख्या १२,९९,४१,८५१ बताती है, जबकि स्त्रियो की १२,३९,४९,९७०। बगाल और उड़ीसा मिलकर पूर्व तथा मद्रास प्रेसिडेन्सी, मैसूर और त्रावणकोर मिलकर दक्षिण मे स्त्रियो की सख्या कुछ अधिक है, जबकि मध्य, उत्तर और पजाब, कश्मीर, उत्तर पश्चिम प्रान्त जैसे उत्तर भारत मे पुरुषों की सख्या अधिक है। जहॉ स्त्रियो की सख्या अधिक है, ऐसे बगाल और उड़ीसा की तुलना यूरोप के जर्मनी, नेधरलेन्डज, स्पेन आदि के साथ हो सकती है, जबकि मध्य और उत्तर की तुलना ग्रीस के साथ, जहॉ ५१ ७ प्रतिशत पुरुष और ४८ ३ प्रतिशत स्त्रियॉ थीं। बडे माने जाने वाले प्रदेशो मे मात्र पजाब मे पुरुषो का अनुपात अधिक था और वह था ५४ २५ प्रतिशत और ४५ ७५ प्रतिशत स्त्रियॉ।

स्त्रियो की सख्या का अनुपात कम है इस तथ्य पर भार देना और उसके कारण ढूँढना अग्रेजो ने १८८१ की जनगणना से पहले ही प्रारम्भ कर दिया था। १८७२ मे उत्तर पश्चिमी प्रदेश मे हुई जनगणना मे इस मुद्दे पर विशेष ध्यान दिया गया था और जाति के अनुपात के विषय मे लम्बा ६०० पृष्ठो का विवरण तैयार किया गया था। डबल्यू सी प्लाउडन, जिसके निर्देशन मे यह १८७२ की उत्तर पश्चिमी प्रदेश की जनगणना की गई थी, उसे ही १८८१ की जनगणना का मुख्य कमिश्नर बनाया गया। यह सूचित करता है कि ब्रिटिशरो को स्त्री-पुरुष अनुपात जानने मे बहुत रुचि थी। इस बात का भी उल्लेख करना चाहिए कि भारत के कुछ प्रदेशो मे पुरुषो की अपेक्षा स्त्रियो की सख्या अधिक थी, और अधिकाश प्रदेशो मे समान थी, परन्तु अग्रेजो की ऐसी रुचि और सरोकार के कारण उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध मे भारत के अधिकाश प्रदेशो मे स्त्रियो की सख्या मे उल्लेखनीय कमी हुई। अग्रेजो को भारत छोड़कर जाना पड़ा, उस समय तक स्त्रियो की सख्या का अनुपात सन् १८०० से पूर्व के अनुपात से ५ प्रतिशत कम हो गया।

४

दशक के बाद दशक मे जनगणना मे अधिकाधिक ब्यौरेवार जनाकारियॉ इकट्ठी होने लगीं। अभी तक जिन विषयो का उल्लेख नहीं हुआ था, ऐसी भारतीय समाज की कई बातो की प्रविष्टिया होने लगीं। ये विवरण बहुत विचित्र और विस्मय पैदा करने वाले

भी थे। उदाहरण के रूप मे उसमे दर्ज किया गया था कि मैसूर राज्य की अधिकाश जातियॉ १८ और ९ 'फणा' मे बॅटी हुई थीं, ब्राह्मणो के कर्मकाडो के ब्यौरे बारीकी से उसमे शामिल थे। इसी प्रकार उत्तर भारत के जाट और अन्य जातियो के विषय मे भी विवरण दिया गया था। यह भी लिखा गया था कि मैसूर राज्य के १९,६३० गाँवो मे ७,९३५ गॉवो के नाम के अत मे 'हल्ली', १२८९ के अत मे 'उरु' और १७७० गॉवो के नाम के अत मे 'पुर' आता था।

प्रारम्भ की जनगणना मे भारत के धर्म, पथ और जातियो के विषय मे खूब टिप्पणी की गई थी। १८८१ मे हुई पजाब की जनगणना मे दर्ज की गई टिप्पणी के कुछ नमूने इस प्रकार है।

१ हिन्दु धर्म का उसके अनुयायियो पर असर

'हिन्दू धर्म का उसके अनुयायियो के चरित्र पर कोई खास प्रभाव है, ऐसा नहीं लगता, क्योकि वह स्वय ही ऐसे चरित्र की निष्पत्ति और अभिव्यक्ति है वास्तव मे हिन्दू धर्म का प्रभाव पूर्ण रूप से नकारात्मक है। इन धर्मावलम्बियो को आचार विचार के विषय मे कोई चिन्ता नहीं है, वह उनमे धार्मिक या राजकीय कोई महत्त्वकाक्षा नहीं जगाता है, उन्हे धर्मान्तरण की भी चिन्ता नहीं है, वह अत्याचार के उपदेश नहीं देता है। वह 'जियो और जीने दो' से सतुष्ट है। हिन्दु शान्ति से और करकसरपूर्ण सादगी से जीता है। वह अपनी जमीन जोतता है, ब्राह्मणो को भोजन कराता है, अपनी स्त्रियो को पूजापाठ करने देता है, त्योहार और उत्सवो के समय उनके साथ मदिर जाता है। उसकी एक मात्र महत्त्वाकाक्षा है अपना घर बनाने की और अपनी लडकी का विवाह पड़ोसी से अधिक धूमधाम से करने मे पैसा खर्च करने की।'

२ पूर्व पजाब के मुसलमानो के विषय मे

'पूर्व पजाब मे मूल पवित्र इस्लाम की श्रद्धा केवल सैयद, पठान, अरब और विदेशी मूल के मुसलमानो मे ही देखने को मिलती थी। ये सभी अधिकाश नगर मे रहने वाले लोग थे। गॉव मे रहने वाले मुसलमान तो मात्र नाम के ही मुसलमान थे। वे परिक्रमा करते थे, कलमा पढते थे और स्थानीय देवताओ की पूजा करते थे। परन्तु विप्लव के बाद (१८५७ के स्वातत्र्य सग्राम के बाद) बहुत जागृति आ गई। मुल्ला मौलवियो ने खूब लम्बे चौड़े प्रवास करके सच्चे इस्लाम का उपदेश देना प्रारम्भ किया और मुसलमानो को मूर्ति पूजा बद करने के लिए समझाया परन्तु पूर्व पजाब का गॉव का मुसलमान अभी

भी बिलकुल नापाक है। चेनिग कहता है,' गॉव का मुसलमान दोनो पथो की दावत खाता है, परन्तु उपवास किसी का नहीं रखता है। '

३ पापी और निष्कासित जातियो के विषय मे

'इस अध्याय के प्रारम्भ मे मैने सूचित किया हे कि उच्च वर्ण के लोग पापी और जाति बहिष्कृत को अपने धर्म मे नहीं गिनते है, भले ही वे लोग उनके सभी आचारो का पालन करते हो, और उनके द्वारा निर्धारित की गई मर्यादाओ मे रहते हों। इस वर्ग मे लगभग २०,१२,००० हिन्दू, १,७३,००० सिख, ४,८२,००० मुसलमान और सैकडो बौद्धो का समावेश होता है। मुझे लगता है कि इन लोगो के आचार विचार के विषय मे हम कुछ भी जानते नहीं है। सामान्य रूप से कहा जा सकता है कि उन लोगो मे जो मुसलमान नहीं बन गए हें, वे अपने लोगो के मृतदेहो का अग्निसस्कार करते हैं और 'फेरा' करके विवाह करते हैं। अधिकाश लोगो के विवाह ब्राह्मण कराते हैं, परतु ऐसे ब्राह्मण भी उनके यजमानो के कारण ही पतित माने जाते है, और उन्हे जाति के बाहर कर दिया जाता है।'

४ जाति पर धर्मान्तरण का प्रभाव।

एक मुसलमान राजपूत, जाट या गुजर सामाजिक, जातिगत, कारोबार से सम्बन्धित और राजकीय विषयो मे हिन्दू राजपूत, जाट या गुजर से जरा भी अलग नहीं है। उसके सामाजिक रीतिरिवाज जरा भी नहीं बदलते है। उसके जातिगत बधन जरा भी ढीले नहीं होते है। उसके विवाह और विरासत विषयक नियम जरा भी बदलते नहीं है। अन्तर मात्र इतना ही है कि वह उसकी चोटी काट देता है, मस्जिद मे जाकर नमाज पढता है, और विवाह उत्सव में हिन्दू के साथ साथ मुसलमानी पद्धति भी अपनाता है।

मैने धर्म विषयक अध्याय मे सूचित किया है कि मुसलमान बनने के बाद भी वह मूल देवताओं की मूर्ति की पूजा करता है। केवल अभी अभी ही उसने ऐसा करना बन्द किया है। (मध्यम वर्ग, नगर और कस्बे मे रहने वालो के विषय मे स्थिति जरा अलग है। उनको अपने जाति के विषय मे कोई अभिमान नहीं है। उच्च शिक्षा और दूर के निवास के कारण शहरो मे गॉव की तरह जातिगत रूढियों का पालन सम्भव नहीं होता है। इस स्थिति मे धर्मांतरित हुए लोग 'शेख' उपनाम अपना लेते हैं। वैसे यह उपनाम बदलना ओर धर्मान्तरण करना भी अपवादरूप ही होता है।)

५ इस्लाम की विजय का जाति पर प्रभाव

पश्चिम पजाब की तरह पूर्व पजाब मे मुस्लिम आक्रमण इतना व्यापक नहीं था और आक्रमणकारियो का देश इतना नजदीक भी नहीं था कि स्थानीय लोगो के रीतिरिवाज व्यापक रूप मे और सर्वथा बदल जॉय, फिर भी उत्तर भारत पर हुए मुस्लिम आक्रमण के परिणामस्वरूप जाति के बन्धन शिथिल होने के स्थान पर अधिक कठोर और दृढ बन गए। ऐसा करने के लिए सरल पद्धति थी हिन्दुओ का नेतृत्व राजपूतो से छीन कर ब्राह्मणो के हाथ मे देना।

इस प्रश्न की अधिक विस्तार से चर्चा करने के लिए भारत की समाज रचना की अधिक ब्योरेवार जानकारी होना आवश्यक है। मेरे पास वह नहीं है। परन्तु मेरे सुझावो को प्रमाणित करने के लिये मै सक्षेप मे कुछ बाते कहूँगा। हम जानते है कि हिन्दू धर्म के प्राचीन और मध्यकालीन समय मे समाज के नेतृत्व के विषय मे ब्राह्मण और क्षत्रियो मे दीर्घ सघर्ष हुआ था (देखिए 'म्यूर की सस्कृत पुस्तक ' Muir's Sanskrit Texts - खण्ड १) मुसलमानो को राजपूत राजा अपने राजकीय दुश्मन लगते थे, इसलिए उनकी सत्ता छीन लेना और उनको परास्त करना उन्हे आवश्यक लगता था, परन्तु ब्राह्मणो की ओर से उनको ऐसा कोई भय नहीं था। इसलिए उन्होने ब्राह्मणो की ओर बहुत ध्यान नहीं दिया।

५

जनगणना के माध्यम से भारत के सामाजिक, सास्कृतिक, और आर्थिक पहलू की विविधता के विषय मे पर्याप्त जानकारी मिलती है, परन्तु इस जानकारी मे अप्रत्याशित भय, आतक और विषाद देखने को मिलते है।

जिनके विषय मे ये जानकारियॉ एकत्रित की गई है, उनके लिये तो नित्य परिचय होने के कारण से सब कुछ बहुत परिचित था। वे तो इस स्थिति मे रहने के लिये बाध्य हो गये थे। एक शतक से भी अधिक समय के लिये इतनी कठिनाइयो से गुजरने के बाद भी वे जी रहे थे। इस जानकारी का मूल्य तो इस दृष्टि से है कि लोग किस दारुण स्थिति से गुजरे थे इसका इकट्ठा विवरण हमे मिले।

१८८१ की मद्रास की जनगणना की टिप्पणी है, 'मद्रास मे पैदा होने वाले बचो मे २८ प्रतिशत बचे एक वर्ष के होने से पहले मृत्यु को प्राप्त हो जाते थे, लडको मे नौ वर्ष के होने से पहले और लड़कियो मे चौदह वर्ष की होने से पहले आधे बचे मृत्यु को प्राप्त होते है।' टिप्पणी आगे कहती है, 'इग्लैण्ड मे पुरुष ४५ वर्ष के और स्त्रिया ४७ वर्ष

की नहीं होतीं, तब तक जनसख्या इस प्रकार आधी नहीं हो जाती है', और जो मद्रास मे होता है, वह सभी जगह होता होगा, ऐसा मान लिया जाता था।

दूसरी भयानक जानकारी विधवाओ की सख्या के विषय मे है। १८८१ और १८९१ की जनगणना सूचित करती है कि एक से साठ वर्ष की आयु की स्त्रियो मे २० प्रतिशत विधवाएँ होती है। इसका अर्थ यह हुआ कि पॉच स्त्रियो के समूह मे दो अविवाहित हैं, तीन विवाहितो मे से दो सधवा है और सर्वसामान्य रूप से एक विधवा है। भारत के कुछ प्रदेशो मे, और कुछ जातियो मे विधवाओ का अनुपात एक तृतीयाश या इससे अधिक है, जबकि शेष अर्थात् साठ प्रतिशत जनसख्या मे यह अनुपात पद्रह प्रतिशत से कम है।

इस प्रकार के अन्य अनेक विवरण है, परन्तु आधे बचे नौ या चौदह वर्ष के होते ही मृत्यु को प्राप्त हो जाएँ और पॉचवे भाग की स्त्रियॉ विधवा हो जाएँ, ऐसा समाज बहुत दु खी होता है और उसकी करुणता पराकाष्ठा पर पहुँची होती है यही कहा जा सकता है। भारतीय समाज की ऐसी स्थिति वास्तव मे कब थी, यह बहुत व्यापक और गहन जॉच का विषय है। परन्तु अग्रेजो ने भारत की विजय का अभियान प्रारम्भ किया, तब से ही भारतीय समाज की निरन्तर लूट खसौट हुई है, लोगो को अनहद सताया गया है और भारत की भूमि तथा अन्य सम्पत्ति की उपेक्षा और शोषण के कारण दूसरा बचा जल्दी जन्म ले, उसकी प्रतीक्षा बढी होगी, और बचो की सख्या अधिक हो ऐसी इच्छा भी बलवत्तर हो जाती होगी। बचों की सख्या अधिक होगी, तो अन्त मे उनमे आधे तो बचेगे। वस्तुत इसी कारण से औपचारिक विवाह आयु कम हुई होगी। ऐसी इच्छा विशेष रूप से ब्राह्मणो मे अधिक होती है, जिनमे विवाहित होना शुभ माना जाता है। यदि किसी की छोटी आयु मे ही मृत्यु हो, तो वह गृहस्थाश्रम मे प्रवेश करके ही स्वर्गवासी हो यह वाछनीय माना जाता है।

मृत्यु का यह अनुपात है तो ब्रिटिश शासन के सौ, डेढ सौ वर्षों मे जनसख्या आधी हो जानी चाहिए। इस प्रकार १८८० तक, या इससे भी पूर्व हो जाना चाहिए। चौदहवीं और पन्द्रहवीं शताब्दी मे काले बुखार के कारण जनसख्या वैसे भी आधी हो गई थी। यदि जॉच के बाद यही वास्तविकता है, तो १७५० के आसपास भारत की जनसख्या तीस से चालीस करोड़ होनी चाहिए, अब तक की धारणा के अनुसार पन्द्रह से बीस करोड़ नहीं। यह बात भी विचार करने योग्य है कि आज एक परिवार औसत पॉच व्यक्तियो का बना हुआ माना जाता है' परन्तु यह बात अठारहवीं शताब्दी के परिवार को लागू नहीं है। खेती विषयक अक ध्यान मे लेने पर तो यह सिद्ध हो सकता है

कि उस समय के परिवारो मे पति पत्नी ओर दो या तीन वालको के अलावा अनेक लोगो का समावेश होता था।

६

जनगणना के साथ साथ भारतीय समाज को परिचालित करने के लिए महत्त्वपूर्ण नीतियाँ भी प्रयुक्त की गई देखने मे आती थीं ओर लागू भी की जाती थीं। यह काम ठीक नीचले स्तर मे चुस्ती से होता था। यह काम खास करके उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध मे और बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध मे भारतीय समाज के विभिन्न भागो मे होता था। इन सभी नीतियो के प्रभाव और सफलता को मापने के लिए और जॉच करने के लिए जगनगणना एक महत्त्वपूर्ण साधन था। सन् १८८१ की भारतव्यापी जनगणना से पूर्व सन् १८५० और १८७५ मे सभी प्रान्तो मे ओर देशी रजवाड़ो मे एक या एक से अधिक बार जनगणना की गई थी। सन् १८७५ मे लन्दन मे उसका ६४ पृष्ठो का विवरण ब्रिटिश ससद के सामने प्रस्तुत करने के लिए तैयार हुआ था। ब्रिटिश शासन के अतर्गत आधिपत्य वाले भारत मे, देशी 'भारतीय' भारत को मिलाकर भारत की कुल जनसख्या २३,८८,३०,९५८ थी। इसमे 'भारतीय' भारत की जनसख्या ४,८२,६७,९१० थी। इस विषय मे अधिक विस्तार से जानकारी नहीं दी गई थी।

इस विवरण मे सूचित किया गया था कि ब्रिटिश भारत की कुल १९,०३, ६३,०४८ और कुल हिदुओ की १४,९१,३०,१८५ की जनसख्या मे ८७,१२,८९९ जाति से निष्कासित लोग थे। कुल जनसख्या मे ४,०८,८२,५३८ मुसलमान थे। (बिहार, बगाल और उड़ीसा मे कुल १,९५,५३,८३१ मुसलमान थे।) मुसलमानो मे ७,९०,९८४ सैयद, १८,४१,६९३ पठान २,१९,७५५ मुगल, ४७,००,३२० शेख और ३,२६,७४,८०० बिना वर्ग के थे। यह लक्षणीय है कि ३०-३५ वर्षो के बाद की १९११ जनगणना मे अकेले बगाल मे ही २,२९,५२,९४४ और समग्र भारत मे ३,२१,३१,३४२ शेख थे। १७७५ का विवरण बगाल मे १०,६९,४९७ शेखो की सख्या सूचित करता है।

१४,९१,३०,१८५ हिन्दुओ मे ८७,१२,९९८ जाति से निष्कासित (जिनमे आधे से अधिक केवल मद्रास मे थे) के अतिरिक्त १,७७,१६,८२५ 'अर्ध हिन्दू मूल आदिवासी', ५,९५,८१५ देशी ईसाई, ११,७४,४३६ सिख, २८,३२,८५१ बौद्ध और जैन थे। इनमे २४,८७,८३१ उस समय के ब्रिटिश बर्मा मे रहने वाले बौद्ध थे।

जाति से निष्कासित (जो बाद मे दलित तथा अस्पृश्य, १९३१ मे बाह्य जातियाँ

और अन्त मे अलग अलग प्रदेशो की सूचियो के समूह के अनुसार अनुसूचित जातियो के रूप मे गिने जाते थे) लोग इसी प्रकार सख्या मे बढते गये जैसे शेख बढे थे। १९३१ मे जनगणना आयुक्त जे एच हटन ने उनको बाह्य जातियाँ कहा और उनकी कुल सख्या ५,०२,५०, ३४७ हुई। उस समय हिन्दुओ की सख्या २३,८६,२२,६०२ थी। इसी प्रकार जिन्हे 'आदिम जातियाँ ' कहा गया, उनकी सख्या २,४६,१३,८४८ थी।

७

जनगणना के विवरण मे अग्रेजी मे साक्षरता का आग्रह और यथासम्भव सस्कृत के उल्लेख की उपेक्षा करना ही अग्रेजो का नीतिगत आग्रह प्रतीत होता है। एस्टोनियन, जापानी और चीनी जैसी भाषाओ सहित विश्व की लगभग एक सौ भाषाएँ जनगणना के पत्रक मे होते हुए भी सस्कृत का समावेश 'अन्य भाषाएँ' के कोष्ठ मे हुआ था। १८९१ से ही कुछ चयन की गई जातियो के साक्षरता विषयक अक एकत्रित किए जाते थे। १८९१ के पजाब की साक्षरता विषयक सारिणी मे २३८ वे पृष्ठ पर शीर्षक लिखा गया था, 'अग्रेजी जानने वाले और न जानने वाले जाति, जनजाति और वशानुसार साक्षरो की सख्या।' पजाब की जनसख्या मे २,५१,३०,१२७ कुल साक्षर थे। इनमे पुरुषो की सख्या ७,९९,१७७ थी और स्त्रियो की २०,२०५, अग्रेजी मे साक्षरो की सख्या थी ४०,५५६ पुरुष और ४,८७७ स्त्रियाँ, इनमे से २१,८४९ पुरुष और ४,११६ स्त्रियाँ अग्रेजी मूल के थे और एक छोटा हिस्सा यूरोप के अन्य देशावासियो का अथवा यूरेशियन था। परन्तु उस समय तक ४१९३ खत्री, २६८४ ब्राह्मण, १३०७ अरोड़ा, ११४९ बनिए, १३१९ शेख, ७६३ कैथ, ७३६ राजपूत, ६५३ जाट, ५६५ बलोच, ५१७ सैयद और १,३७५ देशी ईसाई अग्रेजी मे साक्षर थे। अग्रेजी साक्षरता १३९ सोनी, ८० नाई, ८० लुहार, १५७ तबान, ३५ जुलाहे, २५ तेली और ९९ झींवार तक पहुची थी। ७७१ स्त्रियाँ अग्रेजी जानती थी, उनमे से ५८९ देशी ईसाई स्त्रियाँ थीं। अन्य स्त्रियों मे २८ खत्री, १८ शेख, ८ बलोच, १३ ब्राह्मण, १० राजपूत, ११ सैयद, २ कलाल और १ चमार थी।

१९४१ तक सभी प्रदेशो के जाति के अनुसार साक्षरता और उसमे भी अग्रेजी साक्षरता के अक एकत्रित किए गए। ये अक सूचित करते है कि साधारण साक्षरता और अग्रेजी साक्षरता को योजनापूर्वक मिलाया जाता था और देशी साक्षरता अग्रेजी साक्षरता से आगे न जाय, इसका ध्यान रखा जाता था। इसका विस्तृत विश्लेषण करने पर ध्यानमे आता है कि अधिकाश प्रदेशो में देशी साक्षरता और अग्रेजी साक्षरता का

अनुपात १० १ का और कम पश्चिमीकृत प्रदेशो मे १५ १ का रहा है। अनेक जातियो मे तो वैसे भी सामान्य लोग साक्षरता से दूर थे और अग्रेजी से तो ओर भी दूर। परन्तु ब्राह्मण, खत्री, कायस्थ जैसी जातियो के नगरनिवासी पुरुषो मे अग्रेजी साक्षरता की मात्रा १९३१ तक ५० प्रतिशत तक पहुची थी।

सन्दर्भ

१ भाडार इत्यादि के मकानो के लिए, नहीं कि वस्तुओ का उत्पादन करने वाले कारखाना के लिए एक प्रकार की किलेबन्दी।

२ ऐसी जमीन जिसके कर का उपयोग परपरागत और ऐनिहासिक रूप से धार्मिक, सास्कृतिक और धर्मादाय कार्यो तथा स्थानिक पुलिस और सैनिकों के वेतन के लिये होता था।

---

* अगस्त १९९३ में बेगलोर में लिखा गया आलेख

विभाग २

यूरोपीय आधिपत्य के अन्त के बाद भारत की समस्याएँ

७ लोग कहाॅ हैं ?

अभी अभी लोकसभा मे तृतीय पचवर्षीय योजना के मुसद्दे पर चर्चा हुई है। आचार्य कृपलानी, डॉ मेलकोटे, और अन्य कुछेक सदस्यो ने आशकाएँ व्यक्त की है। परन्तु कुल मिलाकर सभी चर्चाएँ नीरस रहीं। स्वतन्त्र पक्ष के मतविभाजन की माग के ऐतिहासिक निर्णय से भी उन चर्चाओ मे कोई प्राण नहीं आया और सरकार का प्रस्ताव ८ (आठ) विरुद्ध २२५ मतो से स्वीकृत हुआ।

परन्तु वर्तमान आयोजन की समस्या कुछ महत्त्वपूर्ण मुद्दे प्रस्तुत करती है। ये मुद्दे इस या उस मच पर की जानेवाली एकाध चर्चा मे ही पूर्ण हो जानेवाले नहीं है। यदि एक के बाद एक पचवर्षीय (या फिर पॉच से अधिक या कम समयावधि की) योजना को केवल कर्मकाण्ड मात्र बनने नहीं देना है तो प्रजा के प्रतिनिधियो को ससद मे, धारासभाओ मे या फिर इस प्रकार के अन्य किसी भी राजनैतिक या सामाजिक मच पर अपनी दैनन्दिन व्यस्तता से समय निकालकर वास्तविकताओं का विश्लेषण करना चाहिए, उसकी समीक्षा करनी चाहिए, और उनके साथ अपना व्यावहारिक एव भावात्मक सम्बन्ध पुन स्थापित भी करना चाहिए।

निस्सन्देह देश के पास, देश मे और देश के बाहर विद्वानो के द्वारा किए गए हमारी अन्यान्य गतिविधियो के मूल्याकन, सर्वेक्षण और निष्कर्ष अथवा निर्णय विपुल मात्रा मे उपलब्ध है। सचमुच यह सब पढना, और पढकर उसे सकलित कर सम्भावना व्यक्त करना भी एक बहुत बड़ा कार्य बन गया है। वास्तव मे तो यह भी पूछा जा सकता है कि जो कुछ उपलब्ध है उसे समझ पाना भी हमारे लिए सम्भवत असम्भव बन चुका हो तो ऐसे मे अधिक विश्लेषण की गुजाइश ही कहॉ रह जाती है। आयोजन एव विकास का प्रश्न मात्र आकडो और गिनति का ही विषय नहीं है, प्रतिव्यक्ति आय, यन्त्रसचालित वाहन, वायरलेस सेट, साइकिल, रेल्वे इजन व डिब्बो इत्यादि की सख्या या उर्वरक का वितरण अथवा आर्थिक विकास का दर इत्यादि का ही प्रश्न नहीं है। यदि अन्य कुछेक गभीर प्रश्न नहीं होते तो यह सारी जानकारी विकास की दिशा जानने हेतु उपयोगी भी सिद्ध होती। परन्तु जनसमाज का दौर्मनस्य, बेकारो की बढती हुई सख्या, समाज के

कुछ बड़े तबको की, विशेष रूपसे भूमिहीन खेतिहर मजदूरो की, बढती हुई गरीबी जैसे प्रश्न तो है ही। गरीबी का मापदण्ड केवल द्रव्य नहीं होने पर भी जो स्वय दूध का उत्पादन करते है ऐसे सम्पूर्ण शाकाहारी ग्रामीणो को भोजनमे अत्यन्त कम मात्रामे दूध उपलब्ध होता है यह चिन्ता का विषय है। तर्क हो सकता है कि उन्हे दूध नगर के ग्राहको को, सरकारी डेरी को या अन्य उपभोक्ताओ को बेचना चाहिए या नहीं इसका निर्णय करने के लिए वे स्वतन्त्र हैं, परन्तु यह तर्क अर्थहीन है। निश्चित रूपसे आयोजन मे कुछ गम्भीर गड़बड़ी है जिससे दूध उत्पादको को दूध स्वय ही उपयोग मे न लेकर बेचना पड़ता है।

किसान, बाध एव कारखाने या ग्रामीण कार्यशाला मे कार्यरत कारीगर एव नवयुवक किसी भी देश की सम्पत्ति है। विशेष रूपसे भारत मे ऐसे लोगो के लिए ही तो हम दिखावा करके आयोजन बनाते हैं, घण्टो चर्चाएँ करते है, रातो मे जागरण करते हैं। हमारे आयोजनकर्ताओ एव नेताओ को चिन्ता या सहानुभूति नहीं है ऐसा भी नहीं है। हमारी योजना के सामाजिक हेतु व उद्देश्यो के विषय मे विरोध लगभग न के बराबर है। परन्तु वास्तविकता से जिसका कोई मेल नहीं है ऐसे स्वनिर्मित स्वप्नो का दर्शन करते करते स्वय को पूर्णतया भूल जाने की क्षमता हम रखते हैं। सार्वजनिक चर्चाओ मे हम पारदर्शी नहीं हैं। परिणामस्वरूप व्यक्तिगत चर्चाओ मे हम असम्बद्ध बाते करते हैं। जिसके फलस्वरूप वास्तविकता और आयोजन इन दोनो के बीच की खाई बढती जाती है। यह कदाचित् हमारी दो सौ वर्षों की पराधीनता और उसके परिणाम स्वरूप पैदा होनेवाली लघुताग्रन्थि का परिणाम हो। इसका परिणाम यह होता है कि जिनके लिए हम योजनाएँ बनाते है, एव सपने देखते है वे लोग हि चित्र मे कहीं भी स्पष्ट नहीं हो पाते हैं। लोग तो केवल मजदूर ही हैं, रोजी रोटी कमानेवाले ही हैं, भारत का पुनर्निर्माण करने की योजना के साहस या क्षमता मे उनकी सहभागिता का बोध तो उन्हे होता ही नहीं है।

इस दौर्मनस्य की जडे बहुत गहरी है। वे भारत की आत्मा से जुडी है। बाँध, इस्पात और कारखानो से बाहर निकलकर हमे मनुष्य के विकास की, जिन्हे हम अज्ञानी मानते है ऐसे भारतीयो के विकास के, चींटियो के साथ जिनकी तुलना करते है ऐसे लाखो बेचारे हिन्दुस्तानियो के विकास के मुद्दे पर आने से पहले भारत की इस आत्मा को जाग्रत करने की आवश्यकता है। इस प्रकार की जागृति असम्भव नहीं है। अनेको प्रकार की विकट परिस्थितियो में भी गाधीजी ने इस प्रकार की जागृति को सम्भव बनाया है। हम सभी एक प्रकार से गाधीजी के वारिस है। हममे केवल विनम्रता एव प्रामाणिक अनुभूति की कमी है।

यह सत्य है कि दुनिया से, जागतिक सस्थाओ से या अन्यान्य देशो से हमने जो सहायता प्राप्त की है उससे हमारी सामान्य कठिनाईयॉ हलकी हुई हो तो भी परोक्ष रूप से उसके कारण से हम सामान्य मनुष्य से विमुख होकर बहुत दूर हो गए है। भिन्न परिस्थितियो मे ऐसी सुलभ सहायता, छोटीछोटी सुविधाएँ और हमारा यन्त्रो के प्रति लगाव कदाचित् मूल्यवान सिद्ध होता परन्तु वर्तमान समय में तो इसने हमे लोगो से मिलने से, उन्हे अपना दृष्टिकोण समझाने से, एव ऐसा न कर सके तो, हमारे स्वय के व्यक्तित्व मे बदलाव करने से ही रोक दिया है। वास्तव मे ऐसा लगता है कि हमने जन सामान्य से सम्पर्क के सभी क्षेत्र खो दिए है।

जब तक यह खोया हुआ सम्पर्क पुन स्थापित नहीं होता, तब तक कोई भी योजना ठोस स्वरूप धारण नहीं कर सकती, फिर चाहे विश्व सहायताओ की भरमार ही क्यो नहीं कर देता। भिन्नभिन्न मच, समितियॉ, या नामी सस्थाओ मे चर्चाएँ या वादविवाद करते रहने से कुछ नहीं होगा। इन सबका प्रयोजन अवश्य है, परन्तु जब भारतीय एकात्मता का भाव बनाये रखते हुए पुर्नरचना का एक आन्दोलन शुरू किया जाएगा, क्षेत्रश स्थानीय आवश्यकताओ व अपेक्षाओ के अनुसार उसका लक्ष्य निश्चित किया जाएगा और भव्यता नहीं अपितु उनके हृदय स्वीकार कर सके ऐसी योजना मे लोगो को सहभागी बनाया जाएगा तभी सब कुछ सम्भव होगा, अन्यथा नहीं।

---

* जुलाई से अगस्त, १९६० के 'अवार्ड' के मुखपत्र में प्रकाशित लेख। यह लेख सभी सासदों को भी भेजा गया था। इग्लैण्ड में शूमाखर के पास भी यह पहुचा था। १९६२-६३ में पूणे की गोखले इन्स्टीट्यूट ऑव् इकोनोमिक्स एण्ड पोलिटिक्स (Gokhale Institute of Economics and Politics) में दिये गये भाषण में शूमाखर ने इसके कुछ अश का उपयोग किया था।

८. भारत के सांसदों को पत्र

२१ नवम्बर १९६२
नयी दिल्ली

प्रिय मित्र,

ऑल इड़िया काग्रेस कमिटी सभी काग्रेसी सासद, धारासभा के सदस्य, विधान परिषद के सदस्य, प्रदेश व जिले की काग्रेस समिति के सदस्यो को कुछ समय पूर्व भेजे गए पत्रक मे सूचित करती है कि 'प्रधानमन्त्री की आलोचना के सन्दर्भ मे विधायक भूमिका की आवश्यकता है।' जो प्रधानमन्त्री की आलोचना करते हैं वे सभी षडयन्त्रकारी है ऐसा आग्रहपूर्वक कहने की आवश्यकता है।

बोमडीला के पतन की सूचना आकाशवाणी से प्रसारित करते हुए प्रधानमन्त्री ने कहा कि 'विदेशियो के द्वारा भारत पर किए जानेवाले इस प्रकार के आक्रमणो को हम नहीं सहेगे।' 'हमे अपने आप को प्रशिक्षित करना चाहिए।' 'इस प्रकार के कृत्यों का सामना करने के लिए व आक्रमणकारियो को जब तक भारत से खदेड़ न दे तब तक हम चैन की सास नहीं ले सकते है। इसके लिए हमें सुदृढ बनना चाहिए। एक छोटे से पराजय से हम डर गए हैं यह मानकर शत्रु के द्वारा किए गये प्रस्तावो का स्वीकार हम नहीं करेगे।' 'इस प्रकार की कोई भी पीछेहठ हमे अपने निश्चय मे से हिला नहीं सकती।' उन्होने अन्त मे कहा कि 'मै अभी और इसी क्षण शत्रु से कहना चाहता हूँ कि हम आर या पार की लडाई लडने के लिए तैयार है और अन्त मे विजय भारत की ही होगी।'

अफसोस ! ऐसे शब्द एव भावनाओ का उभार तो देश गत पन्द्रह वर्षो से सुन रहा है। केवल सन्दर्भ बदलते है। कभी वह 'अधिक अन्न उगाएँ' होता है तो कभी स्टील प्लाण्ट्स और बॉधो के रूप मे आधुनिक मन्दिरो का निर्माण होता है, कभी राष्ट्रीय एकता या पाकिस्तान से हमारी लडाई या पुराने 'वहमो' के आधार पर लड़ा जानेवाला युद्ध होता है। या ऐसी अन्य सैंकडो बाते होती है। वास्तविकता यह है कि ऐसे गुब्बारो से सत्त्व निकल गया है और प्रधानमन्त्री की प्रत्येक सूचना के प्रसारण के बाद आशा, निश्चय

और साहस जाग्रत होने के स्थान पर लोग अधिक हताश हो जाते है।

कदाचित प्रधानमन्त्री को सत्य का ज्ञान हुआ हो और वे बदल गए हो। परन्तु लोगो को इस बात की प्रतीति कैसे हो। पिछले ३० दिनो मे सरकार के द्वारा किया गया कार्यकलाप तो इसका सकेत नहीं देता है। २० अक्तूबर के बाद सरकार के द्वारा उठाए गए कदमो को अनदेखा नहीं किया जा सकता। उल्टे उसकी गणना हो सकती है। प्रधानमन्त्री ने रक्षामन्त्री को मुक्त कर दिया परन्तु इसके बाद तुरन्त ही उन्होंने सार्वजनिक रूप मे इसके लिए पश्चात्ताप व्यक्त किया है। राष्ट्रीय सुरक्षा परिषद और राष्ट्रीय नागरिक समिति की रचना हुई है। सुरक्षा परिषद के ३० सदस्यो से अभी भेट करना बाकी है। दूसरी परिषद के विषय मे जितना कम बोले उतना ही अच्छा है। भगवान करे इन दोनो परिषदो के क्रमश अध्यक्षपद पर शोभायमान प्रधानमन्त्री तथा उनकी पुत्री तथा प्रधानमन्त्री का दरबार इस देश व देश की स्वतन्त्रता की रक्षा करे। परन्तु हम क्या आशा कर सकते है ? अतीत तो समर्थन नहीं करता है।

इस बार प्रधानमन्त्री पुरातन समय के १९२९ के समय के लगते है। पर हम किस प्रकार भरोसा कर ले।

नामशेष हो चुके बोमडीला या चुशुल या किसी सीमावर्ती प्रदेश मे ७३ वर्ष के वृद्ध प्रधानमन्त्री कन्धे से कन्धा मिलाकर खड़े रहे यह अपेक्षा तो कोई नहीं करेगा। परन्तु वे जो कुछ कह रहे हैं वह पूर्ण प्रामाणिकता से ही कहते है, यदि उनकी प्रतिज्ञा का कुछ अर्थ है, यदि उनकी देशभक्ति मे कुछ आवेश है तो प्रधानमन्त्री तेजपुर, गोहाटी, या शिलोग या ऐसे ही किसी स्थान पर जाकर आसाम के लोगो को सुविधा प्रदान करके उनका विश्वास सम्पादित कर सकते है, नियुक्त किए गए सेनाधिकारियो का निरीक्षण कर सकते है और चीनी दलो से भारत की भूमि मुक्त नहीं होती तब तक वहीं रह सकते है। परन्तु उनमे इतना साहस है ? स्वय द्वारा बोले गए वचनो को वे मानते भी है ? उन्हे स्वय कोई आशा है ?

१८ नवम्बर १९५० के दिन भारत सरकार से चीन ने कहा था, 'चीन का पीपल्स लिबरेशन आर्मी तिब्बत के लोगो को मुक्त करेगा व चीन की सीमा की रक्षा करेगा। चीनी सरकार की यह दृढ नीति है।' चीन के द्वारा कही गई यह सीमा कौनसी थी ? क्या भारत सरकार ने इसकी जाच की थी ? क्या प्रधानमन्त्री ने इस पर विचार किया था ?

चीन को 'षड़यन्त्रकारी दुश्मन' कहने से लोकप्रियता मिलती होगी, परन्तु क्या हमें उचित समय पर इसकी सूचना प्राप्त नहीं हुई थी ? १२ वर्ष की समयावधि को कम

तो नही कहा जा सकता।

देश के लिए समय बहुत तेजी से बीत रहा है। चीनी इस देश के भूभाग का एक बड़ा हिस्सा अपने कब्जे मे ले लेगे तो समय आने पर उन्हे खदेडा नहीं जा सकेगा ऐसा नहीं है। अन्ततोगत्वा सत्य की विजय नहीं होनी ऐसा भी नहीं है। आक्रमणकारियो को प्रथम देश मे प्रवेश करने देना और बाद मे उन्हे देश से खदेड़ने के लिए अनन्तकाल तक प्रयत्नशील रहना ही क्या इस देश के भाग्य मे लिखा है ?

सर्वप्रथम प्रधानमन्त्री को व्यक्तिगत रूप से स्वय ही निश्चित कर लेना चाहिए। हमारी सीमाओ की रक्षा करनेवाले जवान और आसाम के निश्चित सुरक्षा व्यवस्था के विश्वास की अपेक्षा करनेवाले नागरिको के साथ वे प्रत्यक्ष रूप से रह सकते है ? उनमे इतना साहस है ? अपनी व्यक्तिगत भव्य प्रतिमा से ऊपर उठकर वे समूह के एक सदस्य बन सकते हैं ? उनके द्वारा निर्मित इस मामले की उलझी गुत्थी के विषय मे वे क्षमाप्रार्थी हैं ? प्राचीनकाल मे तो उनके स्थान पर स्थित कोई भी शासक अपने साथियो और ईश्वर से क्षमायाचना के लिये सैकडो हजारों मील घुटनो के बल चलकर आया होता। ऐसा करने के स्थान पर वे इस लायक न होने पर भी सार्वजनिक रूप मे जनता से क्षमायाचना कर सकते है ? यदि उन्हें सचमुच पश्चाताप हो रहा है तो भारत के लोग उनके समान वृद्ध शासक को क्षमा करने मे पीछेहठ नहीं करेगे।

इस सकट के समय मे इतना बड़ा दायित्व निभा सकें इतने सक्षम वे नहीं है यह कोई अपराध नहीं है। बीते हुए समय मे उनसे जो हो सका, उन्होने किया ही है। परन्तु यह समय पूर्वकाल मे किए गए कार्यो की और देखने का नहीं है। यह समय तो ऐसा कुछ करने के लिये है कि जिससे चीनी हमारे देश मे अब और आगे न बढ सके, समयान्तर पर उन्हे देश से खदेडा जा सके। इसके अतिरिक्त यह भी देखना है कि जो युद्ध हो रहा है उसका कुछ परिणाम निकले। लोग इस विषयमे निश्चित होना चाहते है कि हम दृढतापूर्वक, एक निश्चित योजना के अनुसार युद्ध कर रहे है।

अब चीनी युद्धविराम का प्रस्ताव रख रहे हैं। यह वास्तव मे कपट भी हो सकता है। परन्तु यदि मन्त्रणा और निर्णय का समय आए और जब भी आए तब सब कुछ कर सके और लोग जिनमे विश्वास रख सके ऐसे लोग चाहिए। प्रधानमन्त्री की पिछली कार्यपद्धति तो ऐसी रही है कि वे व्यक्तिगत सौदे ही करते है।

यदि प्रधानमन्त्री निश्चित नहीं कर सकते हैं तो, कोग्रेस पक्ष या देश की ससद अथवा ये दोनो नहीं करते हैं, तो राष्ट्रपति द्वारा प्रधानमन्त्री को निवृत्त होने का परामर्श देना चाहिए। और देश को ऐसी सरकार प्रदान करनी चाहिए कि जिसे वह स्वय क्या कर

रही है उसका पता चलता हो, जो विजय की केवल बाते ही न करके वर्तमान मे भी कुछ कर सकती हो।

भारत के लोगो को शरमिन्दा बनाया गया है। सरकार की कार्यपद्धति से वे उलझन मे पड़ गए है। लोग कब तक प्रतीक्षा करे ? इस देश के जो भी समझदार लोग है उन्होने लोगो की शरम और गुस्से की सीमा टूट न जाए और वे अशोभनीय मार्ग पर न बह जाय यह देखना चाहिए। अपने देश के लोगो के नहीं परन्तु आक्रमणकारियो के विरुद्ध कार्यवाही कर सके ऐसे किसी को मन्त्री का दायित्व सौपने की आवश्यकता है। जो लोग प्रधानमन्त्री की आलोचना करते हैं वे प्रधानमन्त्री से कम देशभक्त नहीं है। अन्तर इतना ही है कि उनकी देशभक्ति अधिक ठोस व बलवान है।

---

* मई २४, १९५७ को लन्दन के 'शान्ति समाचार (Peace News)' मे प्रकाशित लेख

९. राष्ट्र निर्माण में गांधीवादियों की भूमिका

गाधीवादी, रचनात्मक कार्यकर ओर विभिन्न स्वयसेवी क्रियाकलापो मे कार्यरत सभी कार्यकर्ताओ की स्वातत्र्योत्तर काल मे क्या भूमिका है ? क्या वे (अ) अपने स्वप्न के समाज का रेखाचित्र बनाकर अपने से सम्भव सर्वश्रेष्ठ प्रयत्नो से उसे साकार करना चाहेगे ? अपने स्वप्न के भविष्य के समाज की आकृति बनाकर सम्भव हे वैसे उत्तम प्रकार से वर्तमान मे उसे साकार करना है ? या (ब) मानव प्रयासो के विभिन्न क्षेत्रो मे अपने व्यक्तिगत आदर्श प्रस्तुत कर श्रेष्ठ मापदण्ड प्रस्थापित करेगे ? या (क) कल्याण राज्य को समर्पित सरकार के द्वारा पुकारने पर उसकी इच्छा के अनुसार सब कुछ करने के लिए सिद्ध रहेगे ? या (ड) भिन्न समय एव स्थिति मे भी गॉधीजी के कथनानुसार लोगो को यदि सत्ता के द्वारा अपना अपमान होता प्रतीत होता है तो सत्ता का प्रतिकार करने की शक्ति का विकास करने का और उससे भी बढकर सत्ता को नियन्त्रण और नियमन मे रखने की क्षमता निर्माण करने की दिशा मे लोगो को शिक्षित करने का महत्त्वपूर्ण दायित्व निभायेगे ?

बहुत ही दु ख एव सकोच के साथ लेखक अपने विचार कागज पर उतार रहा है। मै जो कुछ भी लिख रहा हूॅ उसके विषय मे गाधीवादी निश्चितरूप से गम्भीरतापूर्वक विचार करते होगे। इस बात मे बिलकुल सन्देह नहीं है कि जिस परिस्थिति से हम गुजर रहे है वह उनके लिए अधिक दु खदायी होगी।

१९६४ अप्रैल मे परिपत्रित और मई १९६४ मे मुबई मे 'जनता' नामक पत्रिका मे प्रकाशित और प्रमाणो के अभाव मे नहीं, अपितु अधिक ठोस कारणो से वे आज के समय की माग के अनुरूप उचित प्रतिसाद नहीं देते होगे। उनके जैसा धैर्य मुझमे नहीं है एव उनके समान अनुभव व दूरदर्शिता भी नहीं है, इसलिए मै अपने विचार सार्वजनिक रूप मे रख रहा हूॅ। मै मानता हूॅ कि इसमे वे भी जुड़े ही है।

१

स्वतन्त्रता प्राप्ति के समय गाधीजी के नेतृत्व मे स्वतन्त्रता सग्राम मे भाग लेनेवाले

कार्यकर्ताओ के समक्ष बहुत रास्ते खुले थे। गाधीजी मानते थे कि जिनकी अत्यधिक आवश्यकता है एव जिन्हे सरकार मे जाने मे रुचि है ऐसे अति अल्प लोगो के अतिरिक्त शेष सभी को विशाल लोक सेवक सघ का सदस्य बन जाना चाहिए और कुछ शताब्दियो की अवमानना, अनवस्था व कुशासन से पीड़ित भारतीय समाज को प्राणवान बनाकर उसकी पुनर्रचना का कार्य करना चाहिए। दिल्ली मे प्राप्त स्वराज्य को प्रत्येक नगर, कस्बा एव गॉव तक ही नहीं अपितु प्रत्येक नागरिक तक पहुँचाने का कार्य सरकार की अपेक्षा इन लोकसेवको का अधिक है। इस स्वराज्य को हाडमास का मूर्त स्वरूप देने के लिए उन्होने नया राज्यतन्त्र, नये आर्थिक सम्बन्ध एव नूतन समाज के दृष्टिकोण से सम्पूर्ण प्रौद्यौगिकी को कसने की बात कही। बीस के दशक मे उनके द्वारा दिया गया रचनात्मक कार्यक्रम-समय बीतने के साथसाथ कुछ नई बाते भी उसमे जुड़ी थीं - गाधीजी के मतानुसार स्वराज का सही वाहक था।

परन्तु परिस्थिति ने कुछ भिन्न रूप लिया। अपवादो को छोड़कर अधिकतर स्वतन्त्रतासेनानी एक नहीं तो दूसरी तरह से सरकार मे जुड़ गए। कुछ सरकार के आधारस्तम्भ बने, कुछ भिन्न स्तर पर उसके कार्यवाहक बने तो कुछ उसके अधिकृत आलोचक बने। जो कुछ बाहर रहे एव जिन्हे सही मे राजनीति से घृणा थी उन्होने रचनात्मक कार्यक्रम मे नये सिरे से समर्पित होने का निश्चय किया। परन्तु उसमे एक बहुत बडा अन्तर था। स्वतन्त्रता के बाद की सरकार के प्रति उनका रवैया बदल चुका था।

मूलत रचनात्मक कार्यक्रम गॉधीजी के द्वारा विदेशी शासन को दिया गया उत्तर था। यद्यपि उसमे एक सीमा तक सहअस्तित्व के सोपान अवश्य थे। फिर भी विदेशी शासन की ही उपज हो या उसका प्रतीक हो ऐसी कोई भी बात का स्वतन्त्रता आन्दोलन मे कोई स्थान नहीं था। सरकार के द्वारा की गई किसी भी कृति को उचित मानने की प्रवृत्ति रचनात्मक कार्यक्रम ने कभी नहीं बनाई थी। भारत को पराधीन बनानेवाली हर एक बात को पुन ढालना अथवा उसे बदलकर उसके स्थान पर पर्याय स्थापित करना ही उसका आशय था। स्वतन्त्रता के बाद रचनात्मक कार्यक्रम के प्रति समर्पित कार्यकर्ता नयी सरकार की बहुत सी गतिविधियो एव विचार से व्यथित थे। फिर भी कुल मिलाकर अब तक सरकार के द्वारा प्रारम्भ किया गया एव चलाया गया सब कुछ उन्होने स्वीकार कर लिया है। यद्यपि इस स्वीकार मे निष्ठा या उत्साह भी नहीं दिखाई देता है।

तर्क दिया जा सकता है कि रचनात्मक कार्यकर एव सत्याग्रह करने मे भी पीछे

नहीं रहनेवाले अन्य बहुत से लोगो ने स्वतन्त्र भारत मे यह मानने की गलती की कि सरकार का सम्मान बना रहना चाहिए एव उसके प्रति नरम रवेया अपनाना चाहिए। जबकि यह सत्य है कि, इन कार्यकरो के लिए कठोर रवेया अपनाकर उनके द्वारा बनाए गए राष्ट्रीय आदर्शो के विरुद्ध सरकार जो कुछ भी करे उसका खुलकर विरोध करना सम्भव था। फिर भी पूर्व के जैसी उग्रता एव असीम शत्रुतापूर्वक नयी सरकार एव उसकी सत्ता का विरोध करने मे अस्वाभाविकता ओर अवास्तविकता तो थी ही। स्वतन्त्र भारत की सरकार जितनी उनकी थी उतनी ही अन्यो की भी थी। इसलिए सरकार के सामने उग्रता एव बहिष्कार मे वे शिथिल पड जाय यह उनका दोप नहीं था। पर उन्होने अपनी गतिविधियो का क्षेत्र सीमित कर दिया यही उनका दोष था। उन्होने स्वय को सामान्य एव कर्मकाण्ड माने जाने योग्य रचनात्मक कार्यक्रम अथवा उसके समान ही गाधीवाद की परिधि के बाहर के कार्यक्रम को समर्पित कर दिया। ऐसा उन्होने शुभभाव से किया। फिर भी यह कृत्य उन्हीं के प्रमुख उद्देश्य को नष्ट करनेवाला सिद्ध हुआ, जिसके परिणाम स्वरूप वे राष्ट्रीय नीति एव पुरुषार्थ के क्षेत्र से ही बाहर कर दिए गए।

२

अत्यन्त खेदपूर्ण बात यह है कि गाधीवादियो मे से किसी ने भी गाधीजी के बाद आज के समाज मे स्वय की क्या भूमिका है इस विषय मे बिलकुल ही विचार नहीं किया है। सरकार की भूमिका एव अपना सरकार के प्रति क्या रवैया है इस विषय मे सोचने की उन्हे इच्छा ही नहीं थी। अथवा समय ही नहीं था। अधिकाश लोगो के अनुसार सरकार एक ऐसा अनिवार्य अनिष्ट था जिसे वे अपने स्वप्न के समाज मे कोई स्थान देना ही नहीं चाहते थे। कुछ लोगो को सरकार की कुछ बाते और नीतियॉ अच्छी नहीं लगती थीं फिर भी सरकार चलानेवाले सभी स्वतन्त्रता सग्राम मे सहभागी उनके अपने वरिष्ठ साथी होने के कारण से उनमे पूर्ण विश्वास रखकर वे शान्त हो गए थे। भले हमारी यह चाह रही कि एक लम्बे अन्तराल के बाद हम बिना सरकार के भी अपना काम कर लेगे, परन्तु अभी तो जब तक सरकार व अन्य सत्ताकेन्द्रों का अस्तित्व है तब तक उन सभी से सावध रहकर उन पर नियन्त्रण रखने की आवश्यकता है यह दृष्टि रचनात्मक कार्य करनेवाले स्वयसेवको के मन मे ही आई नहीं ऐसा लगता है।

शासको के प्रति नरम रवैया रखकर उनकी सभी बाते ग्रहण करने के बावजूद गाधीवादी कदाचित् अपने आप में भी यह मान्य करने से डरते हैं कि मुक्त समाज में अधिकाश गतिविधिया-लोकतान्त्रिक सरकार सहित-रचनात्मक कार्यक्रम से कुछ खास

भिन्न नहीं है। दोनो की कार्यपद्धति एव गुणवत्ता मे कदाचित् अन्तर हो सकता है , परन्तु तत्त्वत दोनो का उद्देश्य एक ही है।

गॉधीवादियो की 'आदर्श समाज' के प्रति निष्ठा कदाचित् उनके लिए कठिनाइयॉ उत्पन्न करती होगी। इस निष्ठा ने उन्हे वर्तमान सुधार के प्रति अपेक्षित रवैया रखने के लिए बाध्य किया है। इसी कारण वे (१) विचार का प्रचार या (२) भविष्य के प्रतिमान के विषय मे किए गए प्रयोग या (३) बारडोली, साबरमती, एव सेवाग्राम के समय मे आत्मसात् की गई व्यक्तिगत तपस्या एव समर्पण का यान्त्रिक पुनरावर्तन करने की दिशा मे आगे बढे है।

इस को कम नहीं समझना चाहिए, परन्तु इतना तो कहना ही पडेगा कि गाधीवादी अवमानना होते ही सत्ता का प्रतिरोध करने की क्षमता मे वृद्धि करना चूक गए हैं। यह क्षमता तो गाधीजी के अभिप्राय मे स्वराज के लिए पूर्वशर्त के समान थी। गाधीजी ने यह भी कहा था कि 'सत्ता को नियन्त्रित करना एव नियमन मे रखने की अपनी क्षमता के प्रति जाग्रत रहने के लिए जनसामान्य को शिक्षित कर के ही स्वराज्य प्राप्त करना होगा।' राज्य को हमेशा दूर रखने की चिन्ता मे या रचनात्मक कार्यकलापो के द्वीप के प्रति आसक्ति के कारण से गाधीवादी गाधीजी के समय मे सत्ता के नियमन एव नियन्त्रण की जो भी थोड़ी बहुत क्षमता भारत के लोगो ने प्राप्त की थी उसे भी नष्ट करने मे कारणभूत बने।

३

मेरा उद्देश्य अपने अपने क्षेत्र व विषय में कार्यरत एव रचनात्मक कार्य करनेवाले हजारो स्वयसेवको के क्रियाकलापो को कम समझना नहीं है। उनमे से बहुतो ने तो ऐसा अग्रगामी काम किया है कि उसकी उपेक्षा करना या उसे आगे नहीं बढ़ाना वे सभी एक या दूसरे प्रकार से जरूरतमदो को सहारा एव राहत प्रदान करने का कार्य कर रहे हैं। उनका जीवन सुसह्य बनाने के हरसम्भव प्रयास वे कर रहे है और यह सचमुच बहुत प्रशसा के पात्र ही हैं।

परन्तु इतना उत्तम कार्य एव इतना समर्पण, इतनी प्रेमपूर्ण देखभाल एव साथ ही स्वाभाविक रूपसे व्यक्तिगत सहानुभूति रखने पर भी इन रचनात्मक स्वयसेवी हजारो कार्यकरो की उपलब्धियो का कुल परिणाम सरकार के द्वारा राष्ट्रीय स्तर पर प्रत्यक्ष रूप से चलनेवाली गतिविधियो की तुलना मे बहुत ही अल्प है। इसके अतिरिक्त कार्यकरो के इतने विपुल कार्य के सामने हमारा समाज आज बहुत हीन बन गया है। गत वर्षों की

तुलना मे झूठ एव खोखलापन बहुत बढ गया है।

इस निरूपण से कदाचित् ऐसा लगेगा कि मै रचनात्मक स्वयसेवी कार्यक्रम एव प्रयास छोड़ देने का सुझाव दे रहा हूँ। ऐसा बिलकुल नहीं है। मेरा आग्रह यह है कि हमे भारत की वर्तमान स्थिति की पूरी जानकारी प्राप्त करना चाहिए एव भारत के समाज के लिए अपनी भूमिका के विषय मे नये सिरे से विचार करना चाहिए। सत्ता के विरुद्ध सत्याग्रह या सघर्ष करने की बात मै नहीं कर रहा। इस विषय मे जो सक्षम है वे समय आने पर बिना विचार किए नहीं रह पाएँगे। मेरी चिन्ता का विषय यह है कि इतने चिन्ता, समर्पण, अच्छाई एव परिश्रम के बावजूद भी भारत के बहुत से लोगो के लिए जीवन अत्यधिक सत्त्वहीन एव दुष्कर बन गया है। हमारे स्वातन्त्र्यसग्राम का भी यह विधिवैचित्र्य ही है कि स्वतन्त्रता के बाद भी अधिकतर लोगो को दैनिक जीवन मे स्वतन्त्रता का अनुभव नहीं हो रहा है। उन्हे पग पग पर सताए जाने का अनुभव हो रहा है। इस स्थिति का निर्माण करने मे किसी एक व्यक्तिविशेष का दोष हो ही नहीं सकता परन्तु कोई भी समझदार व्यक्ति, कोई गॉधीवादी, कोई रचनात्मक कार्यकर ऐसी स्थिति को सह नहीं सकता। यह तो रचनात्मक कार्यक्रम की नींव मे स्थित बात का ही निषेध हो रहा है।

४

और एक बात। 'रचनात्मक' गतिविधियो को तेजी से बढावा देने की मनीषा से प्रेरित होकर गाधीवादी सरकार की इस प्रकार की विभिन्न बातो को बिना सोचविचार के समर्थन देने लगे जिन्हे गाधीजी झूठ का पुलिन्दा कहते थे। इसके अनेक उदाहरण दिए जा सकते है। भोले होने से अधिक हानिकारक ये रचनात्मक कार्यकर स्वय ही इसका एक उदाहरण है। सरकार विभिन्न प्रकार के प्रशिक्षण एव तालीम के कार्यक्रमो मे जो उद्देश्य, प्रक्रियाएँ एव पद्धति का उपयोग करती है उसके साथ ये कार्यकर वास्तव मे सहमत न होने पर भी सहभागी बनते है और उसे सफल बनाते है।

उदाहरण के तौर पर ग्रामीण कार्यकर्ताओ के प्रशिक्षण को ही ले। सरकार के कथनानुसार यह ग्रामीण क्षेत्र का कार्यकर ग्रामजनो का मित्र, मार्गदर्शक एव चिन्तक होना चाहिए। खेती, शिक्षा, विविध कारीगरी इत्यादि ग्रामीण क्षेत्र की गतिविधियो के विषयो मे इस कार्यकर द्वारा मार्गदर्शन प्राप्त होना चाहिए। परन्तु वास्तव मे वह इस योग्य होता नहीं है। यदि ऐसी कल्पना की जाए कि ग्रामीण क्षेत्र का कार्यकर प्रधानमन्त्री के अश के समान प्रभावशाली होगा तब तो कदाचित् आनेवाली अनेक पीढियो तक प्रत्यक्ष

रूप से ऐसा हो ही नहीं सकता। अधिक से अधिक वह गॉव मे घूम सकता है, क्लर्की कर सकता है ओर जिसमे सरकारी या अन्य सत्ताधारियो से पाला पडता है ऐसे छोटे मोटे काम करवा सकता है। वह ग्रामजनो का पढालिखा भाई बन सकता है। सामान्यरूप से उसका चित्र एक बिना कामकाजी व्यक्ति का है। कभी कभी वह नगरीय एव ग्रामीण जीवन के आपसी आदान प्रदान से निर्मित कडी बनकर अपनी मौलिकता एव समझदारी दर्शा सकता है। यह सामान्य होने के बावजूद बहुत उपयोगी एव आदरपात्र कार्य है। यदि ऐसी ही व्याख्या ग्रामीण क्षेत्र के कार्यकर की होती तो हजारो गॉवो को समृद्ध बनाने मे उसकी शक्तियो का उपयोग हुआ होता। और उसे सन्तोष एव सार्थकता का अनुभव हुआ होता। परन्तु ऐसा होने के स्थान पर ग्रामीण क्षेत्र के कार्यकरो मे, वे जो कुछ भी कर रहे हैं, उसके कारण व्यापक हताशा, अविश्वास एव दोषदर्शी वृत्ति देखने को मिलती है।

ऐसी मिथ्या बातो की निरर्थकता के प्रति दृढता पूर्वक ध्यान केन्द्रित किया होता तो रचनात्मक कार्यकर कदाचित् निरन्तर बढती हुई मिथ्या प्रशसा और अविश्वास को बहुत कम कर सके होते, कदाचित रोक भी सकते।

५

ऐसी बहुत सी परिस्थितियो की चर्चा की जा सकती है जिनमे हमने बिना सोचे-समझे सिद्धान्तो एव सत्यनिष्ठा के साथ समझौता किया होगा, जिसके परिणाम स्वरूप कार्यकर को स्वय को तो हानि हुई ही परन्तु उससे भी अधिक सार्वजनिक हानि हुई। इसी कारण से अन्याय, विभिन्न प्रकार के झूठ, एव अनवस्था का सही रूपमे प्रतिरोध करनेवाले लोगो की अवमानना एव उपेक्षा होती है। इतना ही नहीं तो सार्थक उपलब्धियो एव प्रस्तावो के प्रति भी लोग साशक बनते है। जहॉ पैरो के नीचे से जमीन भी खिसक जाती हो वहॉ चद्र की अपेक्षा करने के कारण भव्य स्वप्न भी अर्थहीन बन जाते है।

गाधीवादियो एव स्वैच्छिक कार्यो के नेताओ से मेरी इतनी ही प्रार्थना है कि वे वर्तमान भारत मे स्वय की क्या भूमिका है उस सम्बन्ध मे पुनर्विचार करे। आज भी अन्य कई लोगों की अपेक्षा वे लोगो के अधिक निकट है। अभी भी वे विभिन्न प्रकार की विदेशी सकल्पनाओ के शिकार नहीं बने है। अभी भी वे केवल सूत्रो के सम्मोहन से ग्रस्त नहीं हुए है। सच तो यह है कि शासन मे लोगो की साझेदारी चाहिए। परन्तु आज शासकों एव लोगो के बीच मानसिकता एव सस्कृति के भेद के कारण दूरत्व बढ रहा है।

गाधीवादी कार्यकर आज भी थोडे से प्रयास से इस दूरत्व को निरस्त कर सकते हैं।

भारत के लोगो के लिए जो अनुकूल है या भारत के लोग जिसकी अपेक्षा करते हैं उसके अनुसार व्यवहार करने की शासको को कोई परवाह ही नहीं है। दृढ निश्चय एव सबसे प्रेम एव अनुकम्पा के कारण गादीवादी अभी भी शासको की लापरवाही, अपकृत्य एव तानाशाही को नियन्त्रित करने मे समर्थ बन सकते है। यह सच है कि वे अकेले कुछ भी नहीं कर सकते। गाधीजी भी लोगो के साथ एव सहयोग के कारण ही वह सब कुछ कर पाये जो उन्होने किया। लोग जो अनुभव करते थे, जो चाहते थे और उन्हे जो अच्छा लगता था परन्तु वे उसे व्यक्त नहीं कर पाते थे उन सभी बातो का मूर्त रूप गाधीजी थे। गाधीवादी और स्वैच्छिक कार्य करनेवालो को कम से कम इस समय तो अपनी सभी मनोरम्य कल्पनाओ, विचारप्रणालियो एव समस्याओ के समाधान के विचारो को एक ओर रखकर लोगो को सुनना चाहिए एव लोग आज के लिए एव आनेवाले कल के लिए क्या चाहते हैं वह जानकर उनकी आवश्यकताओ को पूर्ण करन मे उन्हे सहायता करनी चाहिए। उन्हे यदि उपदेश देने की लालसा हो तो उपदेश शासको को देना चाहिए। जहॉ तक लोगो का सवाल है, उनका सर्व प्रकार से सेवक बनने की आवश्यकता है। लोगो के सर्व प्रकार के काम करके अपनी सफलता सिद्ध करनी चाहिए। इसके बाद एक ऐसा समय आएगा कि यदि वे चाहते है तो अपनी सोच जनसामान्य के समक्ष प्रस्तुत कर सकेगे, यदि उन्हें रुचि हो तो। अभी तो उन्हे अपनी दुकान बन्द करके जनता के प्रवक्ता बनना चाहिए।

: अप्रैल १९६४ में परिपत्रित और मई १९६४ में मुम्बई के 'जनता' में प्रकाशित लेख

१०. जवाहरलाल नेहरू के मतानुसार भारतीय गणतन्त्र के प्रमुख के कार्य

Every man's के २२ दिसम्बर के अक मे दिल्ली सरकार विषयक अपनी मान्यता के विषय मे सर्वोदय कार्यकरो मे पैदा हुए विवाद के विषय मे पढा। लगता है कि ये लोग एव अन्य कई, फिर से १९४९ की स्थिति मे पहुँच गए है। ८ दिसम्बर, १९४९ को तत्कालीन प्रधानमन्त्री जवाहरलाल नेहरु ने राष्ट्रपति डॉ राजेन्द्रप्रसाद को एक पत्र लिखा। पत्र मे लिखा, 'मुझसे कहा गया है कि कुछ सप्ताह पूर्व वर्धामे एक सर्वोदय सम्मेलन हुआ था। उस समेलन मे कुछ भाषण अत्यत तीखे थे। एकाध सप्ताह पहले कोलकता के इण्डियन एसोसियेशन हॉल मे एक बैठक हुई थी। जे सी कुमारप्पा उसके अध्यक्ष थे। प्रफुल्ल घोष एव उनके गुट के अन्य लोग भी उसमे उपस्थित थे। कुमारप्पा एव प्रफुल्ल घोष ने बगाल सरकार एव केन्द्र सरकार के विरोध मे तेजाबी भाषण किए। इतना ही नहीं रारकार अनाज का सग्रह न कर सके इसलिए किसानो को भूमि जलाने की नीति का अनुसरण करने का आवाहन किया। उनका उद्देश्य सरकार को अधिक परेशान करके उसे ठिकाने लाना था।'

श्री नेहरू को, वर्तमान प्रधानमन्त्री उनकी पुत्री के समान ही, इस प्रकार के व्यवहार से बहुत बुरा लगा था। उन्हे गुस्सा आ गया था। उन्हे इस प्रकार का विरोध एव परामर्श बेमानी लगता था। परन्तु इसी पत्र मे प्रारम्भ मे लिखी हुई कुछ बातो से पता चलता है कि सर्वोदय कार्यकर ऐसा व्यवहार क्यो करते थे। नेहरू लिखते है, 'हमारे आसपास क्या दिखाई देता है ? मै कोई कठिन आर्थिक परिस्थिति की बात नहीं कर रहा। वह भी एक महत्त्वपूर्ण विषय है ही। परन्तु मुझे इससे भी अधिक पीड़ा इस बात की है कि बापू के द्वारा तैयार किया गया ढॉचा बहुत तेजी से टूट रहा है। काग्रेस मे चाहे जितने दोष हो पर फिर भी वह भारत के चित्त एव मन का प्रतिनिधित्व करती है। उसका स्थान कोई नहीं ले सकता। यदि कोई लेने का प्रयास भी करे तो समग्र भारत मे अराजकता, कष्ट ओर बिखराव का साम्राज्य हो जायेगा। ऐसी कॉग्रस हमारी आखो के सामने बिखर रही है। इसका बिखरना भी कदाचित् सह्य है, परन्तु स्थिति तो उससे भी

बदतर होती जा रही है। आज कोई अनुशासन बचा ही नहीं है। सामूहिक प्रयास होता ही नहीं है, सहयोग की भावना नहीं है, कुछ अपवादो को छोड़कर कोई रचनात्मक प्रयास नहीं है। छल, प्रपच एव तोडफोड़ मे ही हमारी शक्ति का व्यय हो रहा है।' यह सम्भव है कि वर्धा मे जो लोग एकत्रित हुए थे वे भी 'बहुत तेजी से टूट पड़ने की' एव बिखरने की ही बात कर रहे थे। परन्तु वे सरकार को एव उसके नेताओ को उसमे कारणभूत मानते थे। और उनके द्वारा रची गयी पद्धतियो से ही सरकार को ठिकाने लाने की बात सोच रहे थे।

यह टूट पड़ना इत्यादि जैसी टिप्पणियाँ यदि निश्चित उद्देश्य से की गई हो तो भी वह श्री नेहरू को केवल कभी कभार आया हुआ विचार नहीं था। इसके पूर्व भी १९ जून को उन्होने सरदार पटेल से कहा था, 'हम बहुत तेजी से जनसामान्य के मत से विमुख हो रहे है, जिसके फलस्वरूप हम केवल सरकार बनकर ही रह गए है, अन्य कुछ भी नहीं। इस सबकी अन्तिम फलश्रुति कोलकता है। दिल्ली मे भी कॉंग्रेस की कोई गरिमा रह गई है ऐसा नहीं लगता है। हमारे कार्यकर्ता यदि कोई बडा एव प्रभावी व्यक्ति उपस्थित न हो तो, सभाएँ करने मे सकोच का अनुभव करते हैं। यदि हम इस वास्तविकता पर नहीं सोचेगे तो हमेशा के लिए उपेक्षित हो जाएँगे।'

यह जानना भी उपयोगी सिद्ध होगा कि ऐसी स्थिति पैदा होने के कारणो के विषय मे डॉ राजेन्द्र प्रसाद के विचार क्या थे। श्री नेहरू को उन्होने १२ दिसम्बर को लिखा, 'इस समय की दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति के कारणो के विषय मे विचार करना उपयुक्त रहेगा, और यदि उचित लगता है तो मैं दूसरे पत्र मे इस विषय पर लिखूगा।' उन्होने वह पत्र लिखा हो या नहीं, परन्तु सरकार एव लोगो के बीच निर्मित खाई, एव १९४९ मे सर्वोदयी लोगो के दु ख एव गुस्से का कारण जानना उपयोगी रहेगा।

१९४९ की स्थिति निर्माण होने के लिए जो भी घटना घटी हो, श्री नेहरू के द्वारा की गई इन बातो के बाद के २५ वर्ष मानो प्रतीक्षा का समय था ऐसा लगता है। एक प्रकार से २५ वर्ष के इस प्रतीक्षा समय का भी कुछ उपयोग हो सकता है, परन्तु लगता है कि भारत ने बहुत कुछ खोया है। विशेष रूपसे स्वतन्त्रता आन्दोलन ने जो आशा एव भावनाएँ जगाई थीं उनका तो ह्रास हुआ ही है परन्तु जिन आधाररूप बातो को १९४७-४९ के काल मे उत्तेजनापूर्वक एक ओर रख दिया गया था वे आज पुन हमारे समक्ष उपस्थित हो गईं है।

भले ही हम लम्बी चौडी बाते करते हो तो भी यह सत्य है कि अग्रेज हमारे यहाँ से प्रत्यक्ष रूप से गए हो तो भी उनके कथनानुसार यह केवल 'ट्रान्सफर ऑव् पावर'-

'सत्ता का हस्तान्तरण' ही है। हमने इस सोपी हुई सत्ता का स्वीकार किया एव सत्ता के साथ ही मनोवैज्ञानिक एव प्रशासनिक सूचितार्थो का भी स्वीकार कर लिया। इससे यह समझ में आता है कि भारत अपना मार्ग स्वय ही निश्चित करके उसके अनुरूप प्रशासनिक, न्यायिक एव राजनैतिक जीवनस्तर क्यो निश्चित नहीं कर पा रहा है। राजनैतिक क्षेत्र मे व्याप्त बहुचर्चित भ्रष्टाचार एव अविरत बढते हुए सशय का कारण भी यही है। यह भ्रष्टाचार एव अराजकता इत्यादि सारी छोटी मोटी बाते अग्रेजो के द्वारा स्थापित व्यवस्थाओ को बनाये रखने की फलश्रुति है। इसके फलस्वरूप भारतीय सोच, एव आचारविचार दूषित हुए है, विशेष रूपसे वरिष्ठ अधिकारियो के। यहाँ तक कि उस समय पनपकर तैयार हो रहे गणतन्त्र के राष्ट्रपति कैसे होने चाहिए यह भी ब्रिटिश प्रभाव मे रहकर ही सोचा जाता था। ११ सितम्बर १९४९ के दिन श्री नेहरू द्वारा डॉ राजेन्द्र प्रसाद को लिखे गए पत्र के अनुसार राष्ट्रपति गणतन्त्र की राजधानी मे राजद्वारी लोगो के बीच एव गवर्नर जनरल को शोभा देनेवालीं विभिन्न औपचारिकताओ एव कार्यकलापो को उचित न्याय देने के लिये स्वय को सक्षम बना सके ऐसे होने चाहिए। ऐसी स्थिति मे राजनीति एव राजनेता भटक जाय तो कोई आश्चर्य की बात नहीं होगी। वरिष्ठ नेता चाहते हों या नहीं, ब्रिटिशरो के द्वारा स्थापित व्यवस्थाओ का स्वीकार करने के साथ ही स्वतन्त्रता आन्दोलन के सहभागी एव भिन्न भिन्न स्तर पर चुनाव जीतकर आए हुए लोग एक तरफ कर दिए जाएँ यह अनिवार्य एव स्वाभाविक था।

एक बार सत्ता एव उससे प्राप्त लाभो का स्वाद लग जाता है एव इस व्यवस्था मे अनेक गुना वृद्धि होती है तो उसके पश्चात् स्थापित व्यवस्था का स्वय को सुदृढ बना कर मनमानी करने का प्रयास करना भी अत्यन्त स्वाभाविक है। परन्तु सर्वोदय कार्यकर्ता ही नहीं कॉग्रेसियो के लिए भी प्रश्न केवल श्रीमती इदिरा गाधी का या अन्यान्य मुख्यमन्त्रियो का साथ देना या विरोध करना नहीं है। प्रश्न है भारत के लोगो की इच्छा एव आवश्यकताएँ पूर्ण करने के लिए अधिक योग्य एव मौलिक रास्ते ढूढने का, बनाने का एव प्रस्थापित करने का। यह कार्य अभी तक उपेक्षित ही रहा है।

---

* २४ दिसम्बर १९७४ को लन्दन में लिखित और नई दिल्ली के 'एवरीमेन्स (Every man's)' के लिये 'तन्त्री को पत्र (A Letter to the Editor)' के रूपमें प्रेषित पत्र

११. भारत की आपातकालीन स्थिति का अन्त

जिसे चमत्कार कह सकते हैं ऐसी घटना का उत्सव मनाने हम यहाँ महात्मा गाधी का नाम धारण करनेवाले विशाल कक्ष मे एकत्र हुए है। यह मुझे अत्यन्त उपयुक्त लगता है। आप सभी को भी लगता ही होगा। दि फ्रेन्ड्स ऑव् इण्ड़िया सोसायटी (The Friends of India Society) भारत मित्रमडल के निमन्त्रण से हम यहॉ एकत्र हुए है। हमे उनका अभिनन्दन करना चाहिए। केवल इसलिए नहीं कि उन्होने विश्वमत को चालना देने का महान कार्य किया है, विशेष कर विश्व मे फैले हुए भारतीय मूल के लोगों के मतनिर्माण का कार्य किया है। परन्तु इसलिए भी कि उन्होने इतनी शीघ्रता से इस उत्सव का आयोजन किया है। निश्चित रूप से हम सब भारत को, भारत की चुनी गई नई लोकसभा को एव नवरचित सरकार को हार्दिक बधाई देते है।

हम जिसका उत्सव मना रहे है वह सही अर्थ मे शान्त क्रान्ति है। यह एक दुर्घट राजनैतिक स्थिति का चुनाव की प्रक्रिया के माध्यम से गाधीमार्ग से होनेवाला पूर्ण रूपान्तर है। कई घटको को इसका श्रेय मिल सकता है। सबसे बडा श्रेय तो भारत के जनसामान्यकी विवेकशक्ति एव समजदारी को ही मिलेगा। समय समय पर जो सिद्ध होता आया है उस तथ्य को उन्होने एक बार फिर सत्य सिद्ध करके दिखा दिया है। वह तथ्य है, ''सत्यमेव जयते न अनृतम्'। यह सच है कि भारत की अधिकाश जनता आपातकाल के दौरान गलियों मे नहीं आई थी, लोगोने सामने आकर अपना विरोध व्यक्त नहीं किया था। उन पर अत्याचार करनेवालो के प्रति हिसापूर्ण आचरण नहीं किया गया था। यह बात व्यक्त करने लायक हो या न हो परन्तु लगता है कि यदि खुला विरोध करने से कुछ होनेवाला ही नहीं हैं ऐसा प्रतीत होता है तो लोग अपने घरो मे ही घुसे रहते हैं। मैंने ब्रिटिश समय का कुछ अध्ययन किया है। इसलिए मुझे ज्ञात है कि उस समय मे भी ऐसा ही होता था। यह बात आप सब भी जानते ही है। सन् १८११ में ब्रिटिशरो ने जब मकान कर लागू किया तब वाराणसी के एव अन्य स्थान के लोगो ने व्यापक रूप से आन्दोलन किया था। परन्तु अन्त मे उन्हें दबा दिया गया था। इस विरोध की तासीर ऐसी थी कि वाराणसी एव अन्य अनेक नगरो मे सब काम रुक गया।

यहाँ तक कि लोगोने स्मशान मे मृतदेहो को जलाना भी बन्द कर दिया था। यह आन्दोलन दबाया गया तब वाराणसी के समाहर्ता ने सरकार को लिखा कि लोगो को यह प्रतीति हो गई है कि उनके मालसामान की नीलामी या जप्ती करके कर वसूली करने से सरकार को रोका नहीं जा सकता है। परन्तु वे 'अपना आग्रह नहीं छोडेगे एव स्वखुशी से कर का भुगतान नहीं करेगे। इस प्रकार की घटनाए भारत मे अनेको बार घटी होगी, परन्तु आज हम जो देख रहे है उससे यह सिद्ध होता है कि जब भारत के लोगो को मौका मिलता है तब वे उभरकर आगे आते है एव अपना निश्चित किया हुआ काम पूरा करते हैं।

दूसरा श्रेय ऐसे अनगिनत कार्यकर्ताओ एव उससे भी अधिक उनके परिवार के सदस्यो को जाता है। ये ऐसे कार्यकर्ता है, जिन्हे २० मास एव कुछेक को २० मास से भी अधिक समयका कारावास हुआ था। उन्हे मानसिक रूप से कष्ट तो झेलना ही पडा, साथ ही साथ कारावास का कष्ट भी कम नहीं था। उनमे से बहुत कम को राजकैदी माना गया था। भारत मे राजकैदियो को अच्छा कहा जानेवाला भोजन, पढने के लिए पुस्तके एव अन्य सुविधाएँ मुहैया कराई जाती है, परन्तु यह सख्या तो बहुत कम थी। अधिकाश कार्यकर्ताओ को तो पीटा भी जाता था, असह्य यातनाएँ भी दी जाती थीं, उनकी नौकरी भी छिन गई थी एव उनके घर परिवार भी बिखर गए थे। ये कार्यकर्ता एव उनके परिवार के सदस्यो ने प्रखर सहनशक्ति दिखाई है।

तीसरा श्रेय विश्वबिरादरी के हक मे जाता है, जो स्वतन्त्रताप्रेमी एव लोकतान्त्रिक मिजाजवाले भारतीयो के साथ अडिगतापूर्वक रही। भारतीय जुल्मो के सामने इग्लैण्ड़ की प्रतिक्रिया तो सचमुच प्रशसनीय है। मै यह भी कहूँगा कि इन बीस मास मे इग्लैण्ड़ ने भूतकाल मे भारत के प्रति जो अपराध किया था उसके प्रायश्चित स्वरूप एक प्रकार की तपस्या ही की है।

परन्तु मैं एक नाम का उल्लेख अवश्य करूगा, एव आप सब भी मेरे साथ सहमत होगे ही कि उस एक मानव के बिना जो कुछ हुआ उसका एक अश भी नहीं हो सकता था, कम से कम अभी कुछ समय तक तो नहीं ही। वह है एक महामानव अर्थात् जयप्रकाश नारायण। वे सन्त है या राजनीतिज्ञ, आन्दोलनकारी हैं या प्रत्याघाती, यह मै नहीं जानता। परन्तु मुझे लगता है, एव मैं मानता हूँ और आपको भी लगता होगा कि राजनारायण (जो इन्दिरा गाधी की प्रतिद्वन्द्विता मे जीते हैं) एव इन्दिरा गाधी द्वारा नियुक्त किए गए सभी उम्मीदवारो की प्रतिद्वन्द्विता मे जीतने वाले लोगों मे जनसामान्य को जयप्रकाश नारायण एव उनके तत्त्व एव सत्त्व का चित्र ही स्पष्ट दिखाई देता है।

भारतवासियो के साथ साथ हम भी ईश्वर से प्रार्थना करे कि वह जयप्रकाश नारायण को दीर्घायु प्रदान करे, जिससे वे भारत को नए एव सुयोग्य मार्ग पर ले जाएँ। कुछ भारतवासियो के समान ही यहाँ उपस्थित अधिकाश लोग जयप्रकाश नारायण जो कुछ भी कहते हे उससे सहमत नहीं होते होगे। परन्तु मुझे विश्वास हे कि कॉग्रेसियो एव कॉग्रेस के प्रति सहानुभूति रखनेवाले लोगो, मार्क्सवादियो के साथ साथ हम सब भी इस विषय मे एकमत है ही। यह एक ही महामानव ऐसा हे जो भारत को वर्तमान स्थिति से बाहर निकाल कर एक अच्छे भविष्य की ओर ले जाएगा। ऐसा एक मौका हम ३० साल पूर्व खो चुके है।

हम इन्दिरा गाधी को भी भूल नहीं सकते। भारतवासियो को एव हमे भी इस बात के लिए उनका आभारी होना चाहिए कि अपने प्रधानमन्त्री के रूप मे किए गए शासन के अन्तिम दो मास उन्होने लोकतन्त्र की ओर अपना झुकाव बनाए रखा। कुछ लोगो को वे व्यक्तिगत रूप से हार गईं इस बात का दु ख भी है। २१ तारीख के बीबीसी के कार्यक्रम मे मैने कुछ लोगो को (कुछ युवको को) इस प्रकार दु खी होते हुए सुना, परन्तु मुझे लगता है कि जो कुछ हुआ है वह भारत के लिए तो सही है ही परन्तु उनके स्वय के लिए भी अच्छा ही हुआ है। यह हार उन्हे उनके द्वारा ही सर्जित पेचीदा उलझनो से बाहर निकलने मे सहायता करेगी एव उन्हे एकान्त जीवन जीने का मौका देगी। आज विशेष रूप से उन्हे इसकी बहुत आवश्यकता है। हमे याद रखना चाहिए कि उनकी आयु अभी ६० साल की है। भारत मे इसे छोटी आयु नहीं माना जाता।

साथ ही मुझे अधिकार नहीं है तो भी मै कहूँगा कि भारत मे नियम ही नहीं तो ऐसी परम्परा बनाना बहुत आवश्यक है कि व्यक्ति की आयु ६० वर्ष होने पर वह सक्रिय राजनीति से निवृत्त हो जाए। (भारत का राष्ट्रपतिपद इस का अपवाद हो सकता है)। साथ ही कोई भी व्यक्ति दस वर्ष से अधिक चुनाव के द्वारा प्राप्त सवैधानिक पद पर नहीं रहेगा। युवाओको और आनेवाली युवा पीढियो को देश चलाने मे सहभागी बनने का एव कर्तृत्व दिखाने का अवसर मिलना चाहिए।

मुझे यह भी कहना चाहिए कि यह टिप्पणी मै उपस्थित कुछ अनुभवसम्पन्न एव वृद्ध नेताओ के लिए नहीं कर रहा। उन सभी ने देश के लिए बहुत कुछ किया है। वे स्वय भी गत ३० वर्षों की राजनीति के शिकार हुए ही है। परिस्थिति अनुकूल होती तो उन्होने भी यही सुझाव दिया होता। इस बात पर मैं सजय गाधी के साथ सहमत हूँ, जब कि मेरा एव उनका आशय भिन्न है। वैसे तो मैं वृक्षारोपण का महत्त्व भी उनके समान ही मानता हूँ। परन्तु दुर्भाग्य से उन्हे किसी ने यह नहीं बताया कि भारत की राजनीति मे

वृद्ध एव अनुभवी नेताओ की सख्या इसलिए अधिक है कि उनके नाना एव मातुश्री ने किसी अन्य को यश एव प्रसिद्धि प्राप्त करने का अवसर ही नहीं दिया था, जिसके कारण बडी आयु वाले परन्तु अत्यन्त क्षमतावान लोग एक बडी सख्या मे गत २० वर्षो से प्रतीक्षा मे ही खडे है। आज अब उनकी अपेक्षा पूर्ण होने का सयोग निर्मित हुआ है। अब तक भारतीय विचारधारा ऐसी ही रही कै कि युवा अपने कार्यो से यश सम्पादन करे एव प्रौढ वानप्रस्थ बनकर अध्यात्मसाधना करे तथा युवको का मार्गदर्शन करे। श्रीराम, श्रीकृष्ण, अर्जुन, अभिमन्यु आदि तथा शकराचार्य, अकबर, शिवाजी, विवेकानद इत्यादि भी इसी कारण अपना कर्तृत्व दिखा सके थे।

हमारे लिए एव इन्दिराजी के लिए यह एक दुर्भाग्यपूर्ण बात है कि हेरोल्ड़ विल्सन के समान ही अधिकाश लोग उनके लिए जब श्रेष्ठ अभिप्राय रखते थे तभी सन् १९७२ मे ही उन्होने प्रधानमन्त्री पद का त्याग नहीं किया। खैर, आज भी यदि वे सार्वजनिक जीवन से निवृत्त होगी तो भारतीय लोग उनका सम्मान बनाए रखेगे एव उनका व उनके परिवार का शान्तिपूर्ण जीवनयापन करने मे सहयोग करेगे।

भारत मे नवजीवन का प्रारम्भ हुआ है। हम आशा करते है कि जनता पार्टी एव उसके सहयोगियो के घोषणापत्र के अनुसार भारत मे सचमुच नया प्रारम्भ होगा। हम ऐसी भी आशा करते है कि भारत की आम जनता, उसके कस्बे, उसके गॉव, नगर, शहर, उसकी व्यावसायिक कुशलताएॅ, उसका सामाजिक जीवन अब अकुरित होगा एव समृद्ध बनेगा। दो शताब्दियो तक इन सबका बहुत नुकसान एव उपेक्षा हुई है। हमे भूतकाल का शोक मनाते हुए ही नहीं बैठे रहना चाहिए। परन्तु भारत का पुनर्निर्माण अब इससे अधिक विलम्ब नहीं सह सकता। इस कार्य मे भारत को एक एक भारतवासी के सहयोग की आवश्यकता रहेगी। केवल इन्दिरा गाधी के प्रतिद्वन्द्वित्व मे जीते हुए जनप्रतिनिधियो का या उनको वोट देनेवाले कतिपय भारतवासियो का ही नहीं, इन्दिरा गाधी के समय मे दबे रहने वाले सभी कॉग्रेसी, नक्सलवादी एव उनके जैसे ही अन्य समूह, ऐसे हजारो लोग जो वर्षो तक कारावास मे सड़ते रहे उन सभी से सहायता एव सक्रिय सहयोग की आवश्यकता रहेगी। भारत को समग्र विश्व की भौतिक या तान्त्रिक सहायता की नहीं अपितु शुभेच्छा की आवश्यकता है। भारत को अपना सही मार्ग निर्माण करने के लिए अपने ही ससाधन एव अपने ही लोगो की मौलिक क्षमताओ पर निर्भर रहना चाहिए। भारत अपना रास्ता बनाएगा एव अपने ही अनुकूल तन्त्रज्ञान का विकास करेगा तभी वह समग्र विश्व की समस्याओ के निवारण मे अपना योगदान भी दे पायेगा।

अन्तमे भारत के लोगो ने जव भारत के शासनको महान पुरुषार्थ के आचरण की ड्योढी पर लाकर खडा कर लिया है तव जिन्होने कारावास की यातनाएँ सही है, नोकरी खोई है, ऐसे लोगो को भूलना नहीं चाहिए। वहुतो ने तो आपातकालीन स्थिति के विरोध मे सेवानिवृत्ति ले ली थी। ऐसे लोगो के प्रतिनिधि के रूप मे जस्टिस खन्ना का नाम लिया जा सकता है। जस्टिस खन्ना आपातकाल क सम्पूर्ण समय मे लोगो की स्वतन्त्रता एव मूलभूत अधिकारो के लिए उनके साथ कधे से कधा मिलाकर खडे थे। अव जिनकी नियुक्ति मुख्य न्यायाधीश के रूप मे हो चुकी है ऐसे जस्टिस वेग को उनकी नियुक्ति मे हुई भूल समझमे आएगी ऐसी मुझे आशा है। भारत के न्यायाधीश की परम्परा के अनुरूप एव स्वय अपनी विवेकबुद्धि का अनुसरण करके वे अपने पद से निवृत्ति ले ले जिससे सरकार जस्टिस खन्ना की नियुक्ति कर सके। यद्यपि उनकी यह नियुक्ति बहुत ही अल्पकालीन होगी। परन्तु जस्टिस खन्ना के अतिरिक्त ऐसे हजारो लोग एव परिवार भी है जिन्हे अन्याय हुआ है। उनकी आवश्यकताओ को उपेक्षित नहीं किया जाएगा ऐसी हम अपेक्षा करते है।

मैने आपका बहुत समय लिया है। आप उकता गए होगे। आपके धैर्य के लिए आपका आभार।

---

* २६ मार्च, १९७७ को लन्दन में भारतीय वाय एम सी ए (young Men's christian Association) की बैठक के अध्यक्ष के रूपमे दिया गया भाषण।

१२. अनुसूचित जातियों का गठन

बिहार पिछडी जाति पच (उनके अध्यक्ष के नाम से जो मुगेरीलाल पच के नाम से जाना जाता है) के पॉचवे रिपोर्ट मे बिहार के अनुसूचित समूहो की बात कही गई है। उस रिपोर्ट मे ऐसे समूहो की सख्या एव कुल जनसख्या विषयक कोई जानकारी नहीं दी गई है। इसलिए बिहार के समाज मे पशासन के द्वारा लादी गई एव दीर्घकाल से चली आ रही स्थिति के कारण से जिन प्रश्नो का उद्भव हुआ है उनकी गम्भीरता एव व्याप्ति का कोई चित्र स्पष्ट नहीं हो पा रहा है। ऐसे समूहो के नाम एव उनकी सख्या की सूचना वे जिस क्षेत्र मे रह रहे हैं वहाँ के जनसख्या अधिकारी के पास अथवा शासकीय अधिकारी के पास उपलब्ध होगे। किसी भी प्रकार की नीति का निर्धारण करते समय ऐसी सूचनॉए उपलब्ध होना अति आवश्यक है।

पच ने अपने वृत्तान्त मे ऐसे समूहो के प्रश्नो के विषय मे बहुत चिन्ता व्यक्त की है। साथ ही उसकी प्रस्तावना सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण दिखाई देती है। उस वर्णन के अनुसार ये सभी समूह ऐसे हैं जिनके पूर्वज योद्धा थे, जिन्होने फिरगियो के साथ निरन्तर लड़ाई की थी एव अन्त मे फिरगी की प्रबल सत्ता के सामने उन्हे झुकना पडा था। योद्धा होने के उपरान्त उनका मुख्य व्यवसाय शिकार, जादूगरी, नटविद्या, कलाबाजी, मदारी, गारुडी, नाटक, एव लोहारीकाम का था। उनकी पूर्ण शरणागति के बाद उन्हे शेष समाज से अलग कर दिया गया। उन पर पुलीस द्वारा निगरानी रखी जाती थी। अपनी अनिवार्य आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए वे चोरी एव भीख की ओर मुड़े। चोरी करने एव भीख मागने का उनका उद्देश्य धरना देना या अपनी जिद मनवाना भी था। इतना ही नहीं उनसे कानूनन मजदूरी भी करवाई जाती थी। कुछ समय बाद उनमे से कुछ लोगो को ब्रिटिश मुक्तिसेना सगठन (Salvation Army Organisation) के हस्तक भी रखा गया था।

ऐसी पार्श्वभूमि की जानकारी होने के बावजूद पच ने अपने विश्लेषण एव सिफारिशनामे मे उसका उपयोग नहीं किया है यह विचित्र लगता है। ऐसा न करने का कारण यह हो सकता है कि पच मे विचारविमर्श करते समय इन समूहों से किसी भी

अन्तमे भारत के लोगो ने जब भारत के शासनको महान पुरुषार्थ के आचरण की ड्योढी पर लाकर खडा कर लिया है तब जिन्होने कारावास की यातनाएँ सही है, नोकरी खोई है, ऐसे लोगो को भूलना नहीं चाहिए। बहुतो ने तो आपातकालीन स्थिति के विरोध मे सेवानिवृत्ति ले ली थी। ऐसे लोगो के प्रतिनिधि के रूप मे जस्टिस खन्ना का नाम लिया जा सकता है। जस्टिस खन्ना आपातकाल के सम्पूर्ण समय मे लोगो की स्वतन्त्रता एव मूलभूत अधिकारो के लिए उनके साथ कधे से कधा मिलाकर खडे थे। अब जिनकी नियुक्ति मुख्य न्यायाधीश के रूप मे हो चुकी है ऐसे जस्टिस बेग को उनकी नियुक्ति मे हुई भूल समझमे आएगी ऐसी मुझे आशा है। भारत के न्यायाधीश की परम्परा के अनुरूप एव स्वय अपनी विवेकबुद्धि का अनुसरण करके वे अपने पद से निवृत्ति ले ले जिससे सरकार जस्टिस खन्ना की नियुक्ति कर सके। यद्यपि उनकी यह नियुक्ति बहुत ही अल्पकालीन होगी। परन्तु जस्टिस खन्ना के अतिरिक्त ऐसे हजारो लोग एव परिवार भी है जिन्हे अन्याय हुआ है। उनकी आवश्यकताओ को उपेक्षित नहीं किया जाएगा ऐसी हम अपेक्षा करते है।

मैंने आपका बहुत समय लिया है। आप उकता गए होगे। आपके धैर्य के लिए आपका आभार।

---

* २६ मार्च, १९७७ को लन्दन में भारतीय वाय एम सी ए (young Men's christian

१२. अनुसूचित जातियों का गठन

बिहार पिछडी जाति पच (उनके अध्यक्ष के नाम से जो मुगेरीलाल पच के नाम से जाना जाता है) के पॉचवे रिपोर्ट मे बिहार के अनुसूचित समूहो की बात कही गई है। उस रिपोर्ट मे ऐसे समूहो की सख्या एव कुल जनसख्या विषयक कोई जानकारी नहीं दी गई है। इसलिए बिहार के समाज मे पशासन के द्वारा लादी गई एव दीर्घकाल से चली आ रही स्थिति के कारण से जिन प्रश्नो का उद्‌भव हुआ है उनकी गम्भीरता एव व्याप्ति का कोई चित्र स्पष्ट नहीं हो पा रहा है। ऐसे समूहो के नाम एव उनकी सख्या की सूचना वे जिस क्षेत्र मे रह रहे हैं वहॉ के जनसख्या अधिकारी के पास अथवा शासकीय अधिकारी के पास उपलब्ध होगे। किसी भी प्रकार की नीति का निर्धारण करते समय ऐसी सूचनॉए उपलब्ध होना अति आवश्यक है।

पच ने अपने वृत्तान्त मे ऐसे समूहो के प्रश्नो के विषय मे बहुत चिन्ता व्यक्त की है। साथ ही उसकी प्रस्तावना सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण दिखाई देती है। उस वर्णन के अनुसार ये सभी समूह ऐसे हैं जिनके पूर्वज योद्धा थे, जिन्होने फिरगियो के साथ निरन्तर लड़ाई की थी एव अन्त मे फिरगी की प्रबल सत्ता के सामने उन्हे झुकना पड़ा था। योद्धा होने के उपरान्त उनका मुख्य व्यवसाय शिकार, जादूगरी, नटविद्या, कलाबाजी, मदारी, गारुडी, नाटक, एव लोहारीकाम का था। उनकी पूर्ण शरणागति के बाद उन्हे शेष समाज से अलग कर दिया गया। उन पर पुलीस द्वारा निगरानी रखी जाती थी। अपनी अनिवार्य आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए वे चोरी एव भीख की ओर मुड़े। चोरी करने एव भीख मागने का उनका उद्देश्य धरना देना या अपनी जिद मनवाना भी था। इतना ही नहीं उनसे कानूनन मजदूरी भी करवाई जाती थी। कुछ समय बाद उनमे से कुछ लोगो को ब्रिटिश मुक्तिसेना सगठन (Salvation Army Organisation) के हस्तक भी रखा गया था।

ऐसी पार्श्वभूमि की जानकारी होने के बावजूद पच ने अपने विश्लेषण एव सिफारिशनामे मे उसका उपयोग नहीं किया है यह विचित्र लगता है। ऐसा न करने का कारण यह हो सकता है कि पच में विचारविमर्श करते समय इन समूहो से किसी भी

प्रतिनिधि को साथ नहीं रखा गया था। इसके स्वाभाविक परिणाम स्वरूप प्रस्तावना के बाद जो विश्लेषण एव उपाय दर्शाए गए वे सभी सामान्य ही बन कर रह गए, फिर पच के मन मे चाहे जितनी शुभकामनॉए एव उदारता हो। उदाहरण के तौर पर प्रस्तावनामे दर्शित उनकी कुशलताओ (लोहारीकाम, नटविद्या, जादूगरी इत्यादि) की ओर ध्यान देने के स्थान पर ऐसी सिफारिश की गई कि उन्हे खेती एव बुनाई काम मे एव अधिक से अधिक सरकार के चतुर्थ वर्ग के कर्मचारी के रूप मे काम पर लगाया जाए। पूर्वोक्त कुशलताऍ उनके साहित्य मे प्रतिबिम्बित होने की एव कहीं कहीं तो प्रत्यक्ष व्यवहार मे होने की भी पूर्ण सम्भावना है। एक ओर अहवाल मे कहा गया है कि उनके साथ काम करनेवाले लोगो को प्रेम एव सद्भाव से व्यवहार करना चाहिए, और दूसरी ओर स्थान स्थान पर उनके प्रति तिरस्कार का रुख भी देखने को मिलता है। उदाहरण के लिये परिच्छेद २०३ मे कहा गया है, 'परन्तु जो लोग ऐसी योजनाओ का लाभ नहीं लेना चाहते एव पडावो मे ही रहना चाहते है उनके साथ हमे कडा व्यवहार करना पडेगा।' अत्यन्त खेद की बात है कि उनके पूर्वजो की बहादुरी एव विपरीत परिस्थिति मे टिके रहने की उनकी सहनशक्ति की प्रशसा करने के स्थान पर हम अविचारी रूप से फिरगियो के समान ही व्यवहार करते है। हमारी भावनाऍ उनके प्रति शुभ हैं इसकी अनुभूति अगर हम उन्हे करवाना चाहते हैं तो वे क्या चाहते है यह हमने उन्हीं से पूछना चाहिए। उनकी स्वभावगत क्षमताऍ क्या क्या है, अपने विकास एव कल्याण के विषय मे उनका अपना मत क्या है यह जानना चाहिए। अधिकारियो के साथ पडे हुए उनके पाले का अब तक का अनुभव अत्यन्त भीषण रहा है। अभी भी उनके व्यक्तिगत एव सामाजिक जीवन के साथ जुडे प्रश्नो के विषय मे उनका स्वय का कोई अभिप्राय नहीं लिया गया तो यह बहुत ही अनुचित होगा।

अहवाल मे उनके जातीय व्यपहार, उनकी नशेबाजी एव ऐसी अन्य कई आदतो के विषय मे बहुत कुछ कहा गया है। वह सब कदाचित् सच हो तो भी ऐसी आदतो के गुलाम वे अकेले ही नहीं है। हमारे शासकवर्ग मे उच्च जीवन जीनेवाला वर्ग इन सभी बातो मे उनके जैसा ही है। खासकर बडे नगरो मे। अन्तर केवल इतना ही है कि अधिकारियो के पास सब कुछ है, मॅहगी से मॅहगी शैक्षणिक एव स्वास्थ्य से सम्बन्धित सुविधाऍ उन्हे प्राप्त हैं, जबकि इन लोगो के पास अपना कहा जा सके ऐसा कुछ भी नहीं हे। इस प्रकार का दुहरा मूल्याकन छोड़कर जो लोग सामने आवाज नहीं उठा सकते उनके साथ सहिष्णुतापूर्ण व्यवहार दर्शाया जाए तो हमारे समाज को ही लाभ होगा।

पूर्ण सम्भावना है कि इस समूह मे से अच्छी सख्या मे लोग केवल लोहे के उपकरणो की मरम्मत करनेवाले ही नहीं अपितु वास्तवमे लोहे एव फौलाद के उत्पादक भी थे। अठारहवीं एव उन्नीसवीं शताब्दी की प्राप्त सूचनाओ के अनुसार भारत के कई भागो मे विपुल मात्रा मे लोहे एव इस्पात का उत्पादन होता था। उसका स्वरूप कुटीर उद्योगो (लघु उद्योगो) का था।

* ७ दिसम्बर १९७७ को लिखित। १९७६ का बिहार सरकार के पिछडी जाति आयोग के पाचवे अहवाल पर टिप्पणी

१३. एक विचारणीय विषय

(विधानसभा के सदस्यो के निवास व पेन्शन)

१९७५ के अन्त मे कोमनवेल्थ पार्लामेन्टरी ॲसोसियेशन (Commonwealth Parliamentary Association) ने दिल्ली मे एक सम्मेलन किया। उस सम्मेलन की अन्य उपलब्धियाँ जो भी रही हो परन्तु हमे एक पुस्तक अवश्य मिली। वह है 'दी कोमनवेल्थ पार्लामेन्ट्स। (The Commonwealth parliaments) एक वर्ष मे ही उस पुस्तक का दूसरा सस्करण भी प्रकाशित हो चुका है। परन्तु लगता है कि उसमे निहित कुछ खास सूचनाओ की ओर भारतवासियो का ध्यान नहीं गया है। उसकी पूर्ति - २ मे एक ध्यानाकर्षक सूचना दी गई है। उसका शीर्षक है 'विभिन्न कोमनवेल्थ देशों मे सासदो एव अधिकारियो को प्राप्त वेतन, अधिदेय एव अन्य सुविधाएँ।' निम्नलिखित जानकारी के आधार पर पता चलेगा कि इस सूचना का अध्ययन विधानसभा के सदस्यो के साथ ही सर्वसामान्य लोगो ने भी करना चाहिए।

कोमनवेल्थ के तेइस देशो की जानकारियाँ दी गई है। इस मे विधानसभा अध्यक्ष, भिन्न भिन्न समितियो के अध्यक्ष, विपक्ष के नेता, नीचले गृहो के सदस्य, प्रतिनिधि सभा अर्थात् House of Representatives, सामान्य सदस्यो की सभा अर्थात् House of commons, लोकसभा इत्यादि के साथ ही उच्च गृह, सेनेट, हाउस ऑव् लॉर्ड्झ, राज्य सभा इत्यादि के सदस्य एव अधिकारीगण को मिलने योग्य वेतन, भत्ते एव अन्य सुविधाओ की जानकारी इसमे समाविष्ट है।

सदस्यो से सम्बन्धित सूचनाओ की सूची तो बहुत विस्तृत है। उसके सोपान इस प्रकार है। (१) वेतन (२) विशेष भत्ते (३) पर्यटन खर्च एव सुविधाएँ (४) अन्य भत्ते (५) पेन्शन (६) अन्य मुख्य सुविधाएँ। इनमे मे से कुछ विभाग जैसे (३) एव (६) - के उपविभाग भी हैं।

यह सब राशि देशो मे प्रचलित चलन मे दर्शाई गई है। इसलिए उसकी तुलना नहीं हो सकती। तुलनात्मक उद्देश्य से यदि उन सबको किसी एक देश के चलन मे बदल दिया जाए तब भी कोई उद्देश्य सिद्ध नहीं होगा। क्योकि एक तो प्रत्येक देश मे

प्रतिव्यक्ति आय का अनुपात भिन्नभिन्न होगा एव दूसरा अलग अलग देशो मे एक ही प्रकार के कामो के लिए अलग अलग अनुपात मे वेतन निर्धारित किया गया होगा। इस पूर्ति मे वेतन की राशि के विषय मे जो जानकारी दी गई है वह इतनी महत्त्वपूर्ण नहीं है जितनी कि अन्य सुविधाएँ। जिसके आधार पर ये सुविधाएँ दी गई है उन मार्गदर्शक सिद्धातो की जानकारी तो और भी अधिक महत्त्वपूर्ण है।

ससद सदस्य एव मतदारो के बीच सम्पर्क सुलभ हो (एव उसके लिए डाकसेवा नि शुल्क हो) यह एक अच्छी लोकतान्त्रिक पद्धति का मापदण्ड़ हो तो केनेडा का स्थान सबसे प्रथम माना जाएगा। ऐसा ही छपा है एव उसी पर सोचे तो, 'ससद सदस्य के द्वारा भेजी गई या अन्य किसी के द्वारा ससद सदस्य को प्रेषित की गई डाक केनेडा के किसी भी भाग मे नि शुल्क होगी।' (पृष्ठ २४९) केनेडा की सेनेट के सदस्यो के लिए भी ऐसी ही सुविधा है। अन्य देशो के सासद (आस्ट्रेलिया, बहामा, फिजी, गुयाना, जमैका, मालावी, माल्टा, मोरेशियस, न्यूजीलैड़, सिगापुर, श्रीलका, यू के एव झाम्बिया) कमअधिक अनुपात मे इस सुविधा का लाभ उठाते है। परन्तु उन्हे जो लोग पत्र भेजते हैं उन्हे वह लाभ नही मिल पाता है।

भारतवासियो की रुचि के अनुरूप अन्य सूचना यह है कि सदस्य एव उनके परिवार को राजधानी मे नि शुल्क वैद्यकीय चिकित्सा एव निवास की सुविधा मिलेगी। सदस्यो को पेन्शन भी मिलेगा। इन तीनों सुविधाओ के विषय मे जानकर मनमे जिज्ञासा अवश्य जागेगी।

सदस्यो एव उनके परिवार को नि शुल्क वैद्यकीय चिकित्सा प्रदान करने के विषय मे भारत अकेला नहीं है। सिगापुर मे भी इसी प्रकार की सुविधा है। मलेशिया मे केवल ससद सदस्यो को ही नि शुल्क वैद्यकीय चिकित्सा (पृ २५५) प्राप्त होती है, उनके परिवार के सदस्यो को नहीं।

परन्तु जिन २८ देशो की जानकारी पुस्तक मे दी गई है उसमे भारत के ससद सदस्य विशिष्ट हैं। उन्हे एव उनके परिवार को भी राजधानी मे सरकारी आवास की सुविधा प्राप्त होती है। आस्ट्रेलिया,कनाडा, तन्जानिया, यू के जैसे देश अपने ससद सदस्यो को कमअधिक अनुपात मे कार्यालय की सुविधाएँ तो प्रदान करते है, परन्तु सैंकडो की सख्या मे उन्हे एव उनके परिवार को आवास की सुविधा प्रदान नहीं करते हैं। हमारे यहाँ तो अब राज्यो मे विधानसभा के सदस्यो को भी उनके परिवार के साथ राज्यो की राजधानी मे सरकारी आवास की सुविधा दी जाती है।

भारत के ससद सदस्य सरकारी आवास की प्राप्ति मे तो अन्य देशो के ससद

सदस्यो से आगे है। परन्तु पेन्शन प्राप्त करने मे अन्य देश आगे है। विशेष गोरे गिने जाने वाले देश जैसे कि आस्ट्रेलिया, कनाडा, न्यूजीलेड एव यू के मे किसी न किसी प्रकार से पेन्शन या निवृत्ति भत्ता चुकाया जाता है।

प्रश्न यह है कि नि शुल्क डाक, नि शुल्क वैद्यकीय चिकित्सा, राजधानी मे नि शुल्क आवास एव पेन्शन के प्रबन्ध के विषय मे कोमनवेल्थ देशो मे इतना अन्तर क्यो है ? इस प्रश्न के कई स्पष्टीकरण होगे, एव उनमे से कुछ तो ऐतिहासिक माने जाने योग्य होगे। उनमे से कुछ भारत को लागू होते हो तो उनका उल्लेख उचित माना जाएगा।

उपर्युक्त कथनानुसार यदि ससद सदस्य एव उनके मतदारो के आपसी सम्पर्क अधिक लोकतान्त्रिक देशका लक्षण माना जाता है तो केनेडा अन्य देशोकी अपेक्षा अधिक लोकतान्त्रिक देश माना जाएगा। इसी प्रकार कुछ वर्षो तक दायित्व निभाने के बाद ससद सदस्य को पेन्शन दिये जाने की व्यवस्था भी कदाचित लोकतन्त्र के लिए अच्छी मानी जाती है, क्योकि यदि ससद सदस्य किसी प्रतिष्ठित घराने से ताल्लुक रखता है या समाज के धनाढय वर्ग से या नौकरी से निवृत होकर थोडा बहुत पेन्शन प्राप्त करके आता है, या अब इसने किसी भी प्रकार की आय की आवश्यकता ही न रहे इतना धन एकत्र कर लिया है तभी ससद सदस्यो के लिए किसी भी प्रकार के पेन्शन का प्रबन्ध नहीं करना पडेगा। या जिस देश मे ससद की सदस्यता समाप्त होने पर साधारण जीवन मे समाहित हो जाना स्वाभाविक होता है वहॉ पेन्शन की आवश्यकता नहीं रहेगी। अथवा गाधीवादी सोच रखनेवाले देशो मे भी पेन्शन की आवश्यकता नहीं पडेगी, क्योकि परिवार एव समाज ऐसे लोगो का पोषण स्वय ही करता है। साथ ही साथ ससद सदस्य भी समाज के साधारण वर्ग का जीवन ही अपनाते है। भाग्यवश भारत अभी उस स्थिति मे नहीं पहुचा है जहॉ समाज मे समाहित होना स्वाभाविक हुआ हो। अब तो भारत भी अन्य देशो के समान ही गाधीवादी विचार से विमुख बनता जा रहा है, भले ही हमारे नेता इस बात से सहमत न हो। फिर भी भारत के ससद सदस्यो के लिए पेन्शन की व्यवस्था नहीं है। उसका कारण यही है कि ब्रिटिश हाउस ऑव् कोमन्स के सदस्यो के लिए भी ऐसी व्यवस्था नहीं है। भारत के ससद सदस्य यदि केवल धनाढय एव प्रतिष्ठित परिवारो से या सेवानिवृत होकर ही न आनेवाले हो तो उनके लिये अधिक से अधिक पेन्शन की व्यवस्था होना आवश्यक है। मौजूदा हालात तो ऐसे बन रहे हैं कि बहुत से ससद सदस्य एव विधानसभा के सदस्य सामान्य परिवारो से आ रहे हैं। यह स्थिति अच्छी भी है। इसे टिकाए रखना है एव स्वस्थ राजनीति को प्रोत्साहित करना है तो दोनो सदनो की

सदस्यता के वाद अधिक से अधिक पेन्शन प्राप्त हो एव उससे अधिक समय बीतता है तो अनुपात कम हो। ऐसा करने से युवा प्रतिभा भी भारत की विधानसभा एव ससद मे आएगी।

ससद सदस्य एव विधानसभा के सदस्यो के लिए पेन्शन की व्यवस्था तो राज्यतन्त्र को अधिक लोकतान्त्रिक बनाने के लिए आवश्यक है, परन्तु सरकारी आवास की व्यवस्था उतनी ही हानिकारक है। हमारे देश मे ऐसी व्यवस्था होने के कारण भी इतिहास मे प्राप्त हो सकते है। हमारी ससद एव विधानसभा इग्लैण्ड की उपनिवेशी पद्धति का ही परिणाम है। ७०-८० वर्ष की समयावधि मे वाइसरॉय एव गवर्नर की काउन्सिल ने आज की ससद एव विधान सभा का रूप धारण किया है। ब्रिटिश काउन्सिलरो को आवास की सुविधा इस लिये आज के उनके वारिस के समान ही प्राप्त होती थी। ससद सदस्य एव विधान सभा के सदस्यो को भी आवास की सुविधा प्राप्त है। यद्यपि उसका अनुपात कुछ कम हुआ है। भारत के जनप्रतिनिधियो ने बिना सोचे स्वय को उपनिवेश के शासको की रीतिनीति मे ही ढाल लिया है। वे यह नहीं सोचते हैं कि ब्रिटिश काउन्सिलर विदेश मे आए थे, वे अपने देश से हजारो मील दूर थे, कर्तव्य निभाने के लिये ही आए थे, कर्तव्य पूर्ण होने पर उन्हे यहॉ न रहकर इग्लैण्ड़ वापस जाना था। उनके लिए तो आवास की व्यवस्था करना आवश्यक था, परन्तु हमारे ससद सदस्य और विधानसभा के सदस्य कोई उपनिवेशी नहीं है। उनके निर्वाचनक्षेत्र मे ही उनके घर है। वे ससद सदस्य या विधानसभा सदस्य न रहकर भी वहीं रहनेवाले है, इसके अलावा सासद तथा विधानसभा सदस्य के रूप मे वे आजीवन रहनेवाले भी नहीं हैं, तब सरकारी आवास व्यवस्था और वह भी अपने सम्पूर्ण परिवार के साथ यह उनके लिए कोई आवश्यकता की बात नहीं है। उन्हे अपने क्षेत्र मे रहने की आवश्यकता है, राजधानी मे नहीं। अपने क्षेत्र मे भी उन्हे कार्यालय, सचिव इत्यादि की आवश्यकता हो सकती है, आवास की नहीं। हमारी राजधानी के केन्द्र की मकान से सम्बन्धित कठिनाइयो को देखते हुए ससद या विधानसभा का अधिवेशन शुरू होने पर उन्हे अस्थायी आवास एव भोजन प्राप्त करवाने की व्यवस्था आवश्यक है।

पेन्शन की व्यवस्था न होना एव आवास की व्यवस्था होना भी उन्हे अपने समाज से अलग करने की ही बात हुई। इस स्थिति का निवारण करने के लिए कुछ करना बहुत ही आवश्यक है।

---

* ९ दिसम्बर १९७७ को पटना में लिखा गया लेख

१४. सुराज का तन्त्र

आज भारत को अनेको प्रश्न सताते है। आपातकाल एव आपातकाल की ओर ले जाने वाले उससे पूर्व के कई वर्षो ने हमारी समस्याओ को बढा दिया है एव उन्हे जटिल भी बना दिया है। सभी समस्याओ की सिरमौर गरीबी की समस्या है। अभी अभी हुए सर्वेक्षणो के अनुसार लगभग ४० प्रतिशत लोग मुश्किल से जीवित रहा जा सके उससे भी बदतर हालत मे जी रहे है। १९७२-७३ के अहवाल के अनुसार उनकी औसत दैनिक प्रतिव्यक्ति आय लगभग ३० नए पैसे है। स्पष्ट है कि बहुतो की उससे भी कम है। इसका क्या अर्थ है, यह तो जीवन आवश्यक वस्तुओ के आजकल क्या दाम हैं यह जानने पर ही पता चलेगा। आज सस्ते से सस्ते चाय के एक प्याले की कीमत १५ नए पैसे है। बिहार की सस्ते दाम की दुकान मे कम गुणवत्तावाले गेहूँ का मूल्य भी १ ३० रूपए किलोग्राम, चावल १ ६२ रूपए किलोग्राम, चीनी २ १५ रूपए किलोग्राम, सरसो का तेल १० रूपए किलोग्राम है। यही चीजे खुले बाजार मे खरीदी जाएँ तो क्रमश १ ५५ रूपए, २ २० रूपए ४ ०० रूपए, एव १७ ०० रूपए प्रति किलोग्राम पडेगी। सस्ते भाव की दुकान की स्थिति देखते हुए बहुत से लोगो को इन वस्तुओ को खुले बाजार से खरीदना पडता है। क्यो कि एक ओर इन दुकानो की सख्या कम होती है, वे बहुत दूर दूर होती है। इन दुकानो मे प्रवेश पाने की शक्ति या पहुँच गरीबो के पास नहीं होती है। अत उन्हे खुले बाजार मे ही जाना पडता है। गरीबो के लिए मक्का ठोस खुराक माना जाता है, परन्तु वह सस्ते भाव की दुकान पर नहीं मिलता है एव खुले बाजार मे उसका मूल्य १ ५० रूपए प्रति किलोग्राम होता है।

इस गरीबी के कई कारण है। इसके कारण हमारे इतिहास मे पडे हुए है। परन्तु वह इतिहास कोई प्राचीन नहीं है। भारत मे गरीबी हजारो वर्षो से चली आ रही समस्या नहीं है। वर्तमान गरीबी केवल सौ वर्ष पुरानी ही है। उस समय के अग्रेजो के हिसाब के अनुसार पूर्वी उत्तरप्रदेश एव बिहार के खेतमजदूरो की दैनिक मजदूरी इग्लैण्ड के मजदूरो की अपेक्षा अधिक थी। वह भी तब जब भारत तेजी से गरीब बनने लगा था। आज हम जो भी धारणा करते हैं उससे उस समय का जीवन बहुत भिन्न था। विलियम होज

नामक एक प्रसिद्ध चित्रकार सन् १७८१-८३ के दौरान पूर्वी उत्तरप्रदेश एव बिहार मे पर्यटन के लिए आया था। वह लिखता है कि 'हिन्दुओ मे स्वच्छता की भावना आश्चर्यजनक है। उनके गॉवो के रास्ते हमेशा बुहारे जाते है। रास्तो पर पानी का छिडकाव भी किया जाता है। घर के आगन मे कभी कभी रगोली भी बनाई जाती है।'

उस समय से भारत मे जो गरीबी प्रारम्भ हुई एव आज भी उसकी जो स्थिति है उसके कारण भी हमे जानने चाहिए। एक तो खेतीहर किसानो के अधिकार छिन गए, गॉवो के उद्योग एव खेती टूट से गए, इसलिए बेकारी बढने लगी, भूमि की देखभाल एव सिचाई के स्रोतो की उपेक्षा होने लगी, गॉव के चारागाह एव जगल नष्ट होने लगे एव इस के परिणाम स्वरूप त्रस्त लोगो की शारीरिक एव मानसिक शक्ति क्षीण होने लगी। इसके बाद तो ब्रिटिशरो की नीति के कारण समाज ऐसे टूटने लगा कि गरीबी एव उससे जन्म लेनेवाले कष्ट जीवन के चिरस्थाई भाग ही बन गए। कुछ काल के पश्चात घटनाएँ कुछ इस प्रकार ही घटने लगीं। फलस्वरूप गरीबी के कष्ट इस प्रकार से दैनन्दिन जीवन का हिस्सा बन गए कि अब उससे देश को उबारने का प्रयास करनेवाले लोगो को वह असम्भव सा लगता है। साक्षात राम एव कृष्ण अवतार लेकर धरती पर आ जाएँ तो भी वे कुछ नहीं कर पायेगे। इतना यह प्रश्न विकट बन गया है।

गत सौ वर्षो से गरीबी एव उससे पैदा होनेवाले कष्टो के विषय मे बहुत चर्चाएँ हो रही है। गत तीस वर्षो मे गरीबी नाबूद करने के वचन खुलकर दिए गए है, योजनाएँ बनाई गई है, परन्तु उसमे तनिक भी सफलता न मिलने के कारण क्या है ? कारण यह है कि आज गरीबी के उपरान्त एक अन्य तत्त्व भी देखने को मिलता है। वह है प्रशासकीय एव राजकीय ढॉचा। यह ढॉचा हमारी सभी सार्वजनिक गतिविधियो पर नियन्त्रण करता है। इस ढॉचे की नींव विदेशी है। आज उसका रूख, पद्धति एव नियम एकदम अप्रस्तुत बन गए हैं। इसीलिए किसी दुष्ट आशय से नहीं अपितु अपने सविधान के कारण ही हमारे लिए यह प्रश्न एक बडे विघ्न के समान बन गया है। आज के हमारे उद्देश्यो से वह एकदम विपरीत है इसलिए हमारे सभी प्रयासो को विफल कर देता है। यह ढॉचा ब्रिटिशरो की आवश्यकताओ के अनुसार रचा गया था। भारत से अधिक से अधिक धन बटोरना एव भारतवासियो को दबाकर एव डराकर रखना ही उस ढॉचे का लक्ष्य था। यह गौण बात थी कि यह धन इग्लैण्ड मे खर्च होगा या अन्य प्रदेश जीतने मे, या फिर प्रेसिडेन्सी के केन्द्रो मे, या फिर सभी जगहो पर।

कालान्तर मे शासको के अपने देश में तो इस ढॉचे मे कई बदल हुए, परन्तु

भारत मे तो लगभग एक शताब्दी तक वह ज्यो का त्यो ही रहा। वर्तमान शताब्दी के प्रारम्भ तक तो वह स्वय ब्रिटिशरो के लिए भी अत्यन्त जटिल, भाररूप एव अनुपयोगी बन गया था। फलस्वरूप मोन्टेग्यू चेम्सफर्ड सुधार आया, विकेन्द्रीकरण आया एव सन् १९२० के बाद की विधानसभाएँ एव स्थानीय सस्थाएँ आई। मोन्टेग्यू चेम्सफर्ड सुधार कहता है, 'ऐसी शिकायते आई है कि अधिकारी एव जनसामान्य के बीच कोई सम्पर्क न रहने के कारण ही वर्तमान असन्तोष निर्माण हुआ है, जिलाधिकारी नीति नियमो मे अत्यधिक जकड गए हैं, ऊपरी अधिकारी के लिये किये जाने वाले लिखित कार्य से ही उसे फुरसत नहीं मिल पाती है, वह मनुष्य नहीं रहा, यन्त्र बन गया है।' इतनी चेतना होने पर भी सन् १९२० मे हुए सुधार का कोई परिणाम नहीं निकला। क्यो कि मूलभूत ढॉचे मे कोई परिवर्तन नहीं किया गया। सन् १९४७ के बाद तो सरकार के अनेको विभाग बढ गए, कर्मचारियो की सख्या बढ गई एव फलस्वरूप जड़ता एव जटिलता मे और वृद्धि हो गई।

परन्तु इस प्रकार का विश्लेषण एव निरीक्षण कोई नई बात नहीं है। मन्त्री, मुख्यमन्त्री, प्रधानमन्त्री, उनके सलाहकार एव सहायक कदाचित् इस जटिलता के ब्रिटिश मूल से अनजान होगे, परन्तु कुछ भी नया करना कितना असम्भव है, और कदाचित् सम्भव भी है तो भी कितना निरर्थक है यह भली प्रकार जानते हैं। बिहार के वरिष्ठ मन्त्री तो मानते ही हैं कि यदि सचिवालय के स्टाफ को घटाकर एक तिहाई कर दिया जाए तो कदाचित् वे बेहतर ढग से काम कर पाएँगे। अन्य राज्यो एव केन्द्र की भी यही स्थिति होगी।

सरकार चलानेवालो को इससे भी अधिक अच्छे उपाय सूझते ही होगे। परन्तु उन उपायो को वे ठीक प्रकार से प्रस्तुत नहीं कर पाते है, उस पर विचार विमर्श नहीं होता है एव अमल किया जा सके ऐसे निष्कर्ष तक नहीं पहुँच पाते है। भारत की आवश्यकताओ को पूर्ण करने के लिए सरकार को निश्चयपूर्वक काम करने के लिए प्रेरित करने हेतु प्रयास करने के स्थान पर भारत के वर्तमान विदेश मन्त्री भी (३, दिसम्बर, १९७७ का गाधी मेदान, पटना का प्रवचन) सरकारी तन्त्र की जडता एव उसके भ्रष्ट प्रभावो का रोना रोते हैं। वैसे तो सरकारी तन्त्र सर्वत्र कुछ अश तक जडतायुक्त होता ही है एव सरकारी लोग भी असभ्य होते ही हैं परन्तु भारत मे तो उसकी पराकाष्ठा है।

भारत की समस्या भगवान के द्वारा सर्जित नहीं है, व हल न होने वाली नहीं है। यह तो हमारे पूर्व शासको के द्वारा पैदा की गई है। दृढ इच्छाशक्ति एव उचित सोच विचार से राजनैतिक एव उसके आनुषगिक उपाय सोचकर उनसे मुक्त हुआ जा सकता है।

निश्चितरूप से प्रयासो की पराकाष्ठा करनी पडेगी। यह भी सत्य है कि लोग अभी भले ही विपरीत स्थिति से गुजर रहे हो तो भी परिवर्तन के लिए जल्दी तैयार नहीं होते है। सरकारी ढॉचा भी इसमे अपवाद नहीं है। उनके क्रियाकलाप मे, उनके स्थान मे, कोई भी परिवर्तन सूचित किया जाता है तो यह तन्त्र उपर से नीचे तक हिल जाता है। परिवर्तन की आवश्यकता व उपयोग के विषय मे कितना भी समझाया जाए तो भी कर्मचारी कुछ न कुछ विरोध तो करेगे ही। आज केवल मन्त्रियो को ही यह निरर्थकता समझ मे आती है ऐसा बिलकुल नहीं है। अधिकाश कर्मचारी एव अधिकारीगण को भी इसका अनुभव आया है। मन्त्री अपने विभाग के अधिकारी एव कर्मचारियो से कभी कभी कामकाज के विषय मे विचारविमर्श करते ही है, विभागो की मुलाकात करते है तब उनके ध्यान पर यह कठिनाई आती ही है, यदि मन्त्री इसका सम्पर्क न रखते हो तो उन्हे ऐसे सम्पर्क मे रहने की आवश्यकता है।

बिहार सरकार के २५०-३०० कर्मचारियो वाले लेखा विभाग की दुर्दशा का उदाहरण ही पर्याप्त है। वहॉ कर्मचारियो को बैठने की भी जगह नहीं है एव काम करने के लिए कोई साधन नहीं है। स्थान के अभाव मे वहॉ के पुस्तकालय के पुस्तक भी बोरो मे भरकर रखे गए हैं। करोडो रूपयो की अत्यत मूल्यवान सामग्री को जग लग गया है। बॅटकर प्राप्त हुआ अनुदान ३१ मार्च को वापस न देना पडे इसलिए अन्धाधुन्ध खरीदी की जाती है। स्वतन्त्रता के तीस वर्ष बाद भी हम ऐसी कोई पद्धति नहीं ढूँढ पाए कि इस वर्ष का खर्च नहीं किया हुआ अनुदान बाद के वर्ष मे उपयोगमे ले जाया जा सके और अधिक निरर्थक खर्च बचाया जा सके।

तन्त्र को उपयोगी बनाने के लिए एव काम सरल बनाने के लिए, सुधार लाने के लिए किसी को दण्डित करने की आवश्यकता नहीं है। कुछ सुविचारित सिद्धान्तो के आधार पर ढॉचे की पुनर्रचना करने की आवश्यकता है। ऐसा पुन रचित ढॉचा काम को व्यवस्थित एव सुकर बनाएगा। मनुष्यो एव साधनो को आवश्यकता के अनुसार फिर से कुशलतापूर्वक काम पर लगाना पडेगा। जहॉ दोनो आवश्यकता से अधिक हैं वहॉ उन्हे कम करने से ही काम ठीक हो जाएगा। जो विभाग अनुपयोगी है उन्हे बन्द कर देना चाहिए। आवश्यकता पडने पर उन्हे फिर से खोला जा सकेगा। हमारे सामने रोजगारी, साक्षरता, स्वास्थ्य एव समाजसेवा के इतने काम हैं कि वर्तमान कार्यरत लोगो को मुक्त करने की आवश्यकता ही नहीं पडेगी। केवल उनका स्थानान्तरण ही करना पडेगा। कुछ लोगो के लिए तो यह परिवर्तन बहुत ही अनुकूल होगा। कुछेक के लिए प्रतिकूल होगा यह भी सच है। इन बातो को ध्यान मे रखना पडेगा। उदाहरण के तौर पर जिन लोगो

को सचिवालय के मुख्य केन्द्र से दूर जिला, तहसील या ग्रामकेन्द्रों पर भेजा जाएगा उन्हे कुछेक अन्य सुविधाएँ भी देना चाहिए, जैसे - अधिक भत्ता, वैद्यकीय चिकित्सा सुविधा, नये काम मे पदोन्नति इत्यादि। जिन लोगो को अपने वतन, गॉव या नगर मे जाने की इच्छा हो और वहॉ उनके लिए निर्धारित काम की अनुकूलता भी हो तो उन्हे वहीं भेज देना चाहिए। सचमुच स्वय ने जहॉ जन्म लिया एव पले बढे हो ऐसे वतन से जान बचा कर दूर भेजने की ब्रिटिश पद्धति को ही पहले दूर करना चाहिए। इसी प्रकार बार बार स्थानान्तरण करने की पद्धति भी ठीक नहीं है। ऐसा लगता है कि केवल हमारा तन्त्र ही नहीं तो हमारा मानस भी कुण्ठित हो गया है।

तीव्रता से सतानेवाली समस्याओ के निवारण के लिए तन्त्र मे परिवर्तन करने की एव उस प्रकार से तन्त्र को कार्यरत करने की आवश्यकता है। इस बात पर सभी सहमत हो जाएँ तो उसे ठोस स्वरूप देने की विभिन्न पद्धतिया अमल मे लाई जाएँ। उदाहरण के तौर पर केबिनेट एव अन्य मन्त्रालयो की समितियॉ तत्काल करने योग्य एव सुस्पष्ट परिवर्तन का प्रथम विचार करे। दूसरे क्रम मे केबीनेट सक्षम अधिकारियो को परिवर्तन की योजना तैयार करने को कहे। तृतीय क्रम मे सगठनात्मक रचना के क्षेत्र मे कार्यरत व्यावसायिक इकाईयो को भी मार्गदर्शन करने के लिए कहा जाए। अन्त मे, भारतवासियो का स्वभाव एव उनकी आवश्यकताएँ समझ सके ऐसे वैचारिक एव प्रशासनिक दक्षतावाले लोगो की एक सक्षम समिति बनाकर उसे वर्तमान ढॉचे की समीक्षा करने एव वैकल्पिक ढॉचा तैयार करने का काम सौपा जाए।

परन्तु केवल कारोबार सम्बन्धी ढॉचा सुधारने से काम नहीं चलेगा। उस ढॉचे की कार्यप्रणाली मे भी परिवर्तन की आवश्यकता है। पिछले तीस वर्षो मे ग्राम पचायत हो, लोकसभा हो या राज्यसभा हो, चुने गए जनप्रतिनिधि हताश दिखाई देते है। चुने जाने के बाद उन्हे जो सरकारी आवास मिलता है उसके कारण से वे जनसामान्य से एकदम बिछड़ से जाते है। हमारी ग्राम पचायते, विधानसभाएँ, लोकसभा अधिक उपयोगी कैसे बने एव हमारे चुने गये जनप्रतिनिधि अधिक सार्थकतापूर्ण कार्य किस प्रकार कर सके इस विषय पर गम्भीर विचार विमर्श की आवश्यकता है। एक पद्धति ऐसी भी सूचित की जा सकती है कि विधानसभा को अनेको छोटीछोटी इकाइयो मे विभाजित कर दिया जाए एव उन्हे तत्कालीन प्रश्न समझने की, अवलोकन करने की, उनका हल करने के लिए उपाय योजना करने की सत्ता दी जाए। अन्तिम निर्णय करते समय ही ऐसी विधानसभा एक साथ बैठे एव अन्तिम कार्रवाई करे।

जनता मोर्चा की सरकार ने जो कुछ किया है, या जो योजना बनाई है उसका

मूल्य कम आकने के लिए यह वहस नहीं की है। यह तो स्पष्ट ही है कि हमारा तन्त्र जितना निरर्थक हे उतना ही भारी खर्चीला भी है। व्यक्तिगत रूप से मन्त्री एव मुख्य मन्त्री भी तथा बहुत से कारोबार करनेवाले अपेक्षाकृत्त सादा जीवन जीते है। परन्तु व्यक्तिगत जीवन की सादगी चाहे जितनी अच्छी हो तो भी हमारी समस्याओ को हल करने की क्षमता उनमे नही है। समस्या तो दीर्घकालीन गरीबी की है, आत्यन्तिक सामाजिक विघटन की है एव यह सब विदेशी, अकार्यक्षम सरकारी पद्धति की फलश्रुति है।

प्रथम तो ऐसा परिवर्तन करना चाहिए जिससे कुण्ठित तन्त्र मे चेतना का सचार हो। उस जगे हुए तन्त्र को अपनी जिम्मेदारी का ख्याल हो, व्यर्थ खर्च बन्द हो एव स्वय को सौपे गए काम को पूर्ण करके दिखाने की वृत्ति हो। इसके बाद ही उसमे कार्यरत लोगो एव अन्य साधनो के स्थानान्तरण या पुनर्रचना के विषय मे सोचा जा सकेगा। आज तो थोड़ा कुछ करने के लिए भी बहुत अधिक परिश्रम करना पडता है। कडी मेहनत एव व्यक्तिगत समस्याओ के प्रति सवेदनशीलता मूल्यवान बाते है परन्तु आज उतना पर्याप्त नहीं है। महत्त्वपूर्ण बात तो विचारशीलता की है। बिना सोचे ही हमने जिन पद्धतियो को स्वीकार कर लिया है उनकी समीक्षा करने की आवश्यकता है। हमारे मार्ग का सबसे बडा अवरोध हमारी विचारहीनता है।

---

* २५ दिसम्बर १९७७ को पटना के 'द इण्डियन नेशन (The Indian Nation)' में प्रकाशित लेख

१५. जरा सोचें

अभी दिल्ली मे एक हास्य विनोद चल रहा था। एक बैठक मे अपने साथियो के समक्ष प्रधानमन्त्री ने कहा कि वे अभी बीस साल और जीनेवाले है एव ग्यारह वर्ष तक प्रधानमन्त्री के पद पर रहनेवाले है। एक ज्योतिषी ने भविष्यवाणी की थी। यह उन्होने सब को आतकित करने के लिए कहा या कौतुकित करने के लिए, यह तो नहीं कह सकते। यदि हम अधीर न हो गए हो तो श्री मोरारजीभाई देसाई की इस प्रकारकी घोषणा कुछ लोगो को आनन्दित करेगी एव कुछ लोगो मे कौतुक जगाएगी। इसके स्थान पर यह घोषणा भयभीत कर रही है, हमारे विषाद को और गहरा बना रही है एव आशका का निर्माण कर रही है। आचार्य कृपलानी लिखते है, 'गत वर्ष प्रधानमन्त्री के चुनाव मे मैने सहयोग किया यह मेरी सबसे बडी गलती थी।'

परन्तु हम ऐसी स्थिति मे फॅस गए है इसके लिए केवल मोरारजीभाई देसाई, चौधरी चरणसिह या बाबू जगजीवन राम ही दोषी नहीं है। जनता मोर्चा की सरकार बनी यह एक शान्त क्रान्ति थी, परन्तु पद्रह माह बीते न बीते कि हालात बिगड़ गए। आज लोगो के सामने इन्दिरा गाधी एव जनता मोर्चा इन दोनो मे किसे चुनना यह एक बड़ा उलझन भरा प्रश्न है। परन्तु यह दु खी या हताश होने का समय नहीं है। हमे जो चाहिए एव उसे पाने के लिए जो हम करते है उन दोनो मे आपस मे विरोधाभास है यह समझने की आवश्यकता है। हमारी सोच एव हमारा लक्ष्य दो विरुद्ध दिशाओ मे गति करते है। हम इस विरोध को किस प्रकार मिटा पाएँगे यह जब तक नहीं समझते है तब तक हमारा सकट दूर नहीं होगा।

कृपलानीजी जिस पर शोक व्यक्त कर रहे है वह मार्च १९८८ की मूर्खता भारत के हाल ही के इतिहास की एकमात्र घटना नहीं है। हम बारबार ऐसी मूर्खता करते रहे है। लगभग तीन सौ से भी अधिक वर्षो तक भारत अत्याचार सहता रहा। फिर उसने विद्रोह किया। फलस्वरूप क्रान्ति हुई। अन्ततोगत्वा वह हताश हो कर बैठ गया। सामाजिक, राजनीतिक क्षेत्र ऐसे लोगो के हवाले हो गया जो क्रान्ति के उद्देश्यो को मूर्त रूप देने के प्रति घृणा का भाव रखते हैं। वे या तो बलशाली नहीं है, या मूलतया 'जैसे थे' की वृत्ति

रखते है, या बिलकुल मूर्ख है।

तीन प्रकार के उदाहरण भारत के इतिहास मे दिखाई देते है। एक, मराठा काल, दूसरा अग्रेजो की ओर से भारत सरकार को सत्ता का हस्तान्तरण किया गया तब का काल , एव तीसरा जनता मोर्चा की सरकार टूटी तब का काल। भारत का राज्य अग्रेजो के हाथ मे गया यह प्रचलित मान्यता के अनुसार मुगलो के हाथ से नहीं, अपितु मराठाओ के हाथ से। शिवाजी महाराज के द्वारा प्राप्त किया गया बहुत ही कम समयावधि मे मराठाओ ने खो दिया। इन्दिरा गाधी के विनाशकारी शासन से भारत को मुक्त करने के लिये जिस अभूतपूर्व निर्णायक शक्ति को प्रदर्शित करते हुए जनता ने जिन जनप्रतिनिधियो को चुनकर सरकार बनाने के लिए नियुक्त किया उन्होने ही अपनी सरकार का विध्वस कर देश को पुन इन्दिरा गाधी के हवाले कर दिया।

अब ऐसा भी कहा जाता है कि मार्च १९७७ का लोकनिर्णय क्रान्ति नहीं थी, परन्तु आपातकालीन समय की ज्यादतियो के विरोध मे किया गया नकारात्मक मतदान था। इस प्रकार से लोगों के क्रियाकलापो का मूल्य कम आकना भारत का जैसे रिवाज बन गया है। अग्रेजो ने जब भारत छोडा तब भी ऐसा ही कहा गया था कि वे वृद्ध नेताओ एव ब्राउन इग्लिशमेन जैसे बुद्धिमानो से तग आ गए थे। इसलिए उन्होने 'सत्ता का हस्तान्तरण' किया। महात्मा गाधी से पूर्व एव महात्मा गाधी के समय मे हुए इसी प्रकार के कितने ही शान्त एव अहिसक प्रतिरोधो को क्रान्ति के रूप मे नहीं अपितु केवल असतुष्टो के नकारात्मक रूख के स्वरूप मे ही पहचाना गया।

क्रान्ति किसे कहते है ? अग्रेजो के समकालीन लेखको के अनुसार सिराजुद्दौला को परास्त कर १७५७ मे उसका स्थान मीर जाफर ने लिया उसे क्रान्ति कहते हैं। इतिहास की दृष्टि से देखे तो भारत मे या विश्व मे इस स्थान परिवर्तन का कोई प्रभाव नहीं पडा है। यही हाल सन् १७८९ की फ्रान्स की क्रान्ति या सन् १९१७ की अमेरिका की क्रान्ति के हैं।

१७८९ या १९१७ की तुलना मे या फिर जिसे भी अग्रेजो ने क्रान्ति की सज्ञा दी है उन सब की तुलना मे १९२० से महात्मा गाधी के नेतृत्व मे प्रारम्भ हुआ स्वराज्य का आन्दोलन, या फिर जिसके कारण अग्रेजो ने भारत से चले जाने का त्वरित निर्णय किया ऐसी १९४६ की परिस्थिति, या फिर फरवरी, मार्च १९७७ मे देश की जनता ने आपातकालीन स्थिति के विरोध मे आन्दोलन करके नए चुनाव करवाए वह घटना निश्चितरूप से अनेक गुना क्रान्ति कहलाएगी। इतिहास मे कभी भी लोगो ने दमनकारी शासन को हटाने की हलचल मे इतनी बडी सख्या मे भाग नहीं लिया है। इस सन्दर्भ मे

मार्च १९७७ के निर्णय को नकारात्मक मत कहना हास्यास्पद है।

मार्च १९७७ के चुकादे को 'नकारात्मक मत' कहने के विषय मे हम अधिक गहराई मे जाएँ उससे पूर्व विश्व की क्रान्ति के नाम से जानी जानेवाली घटनाओ की पार्श्वभूमि एव उद्देश्यो को ठीक प्रकार से समझने की आवश्यकता है। तभी हम फरवरी मार्च १९७७ की घटना का मूल्य अधिक अच्छी तरह समझ पाएँगे।

हॉ, इसमे अन्तर तो है ही। शासन मे बदलाव लाने के विषय मे भारत के लोग जो कुछ भी करते है वह अपेक्षाकृत अहिसक होने के कारण विश्व की किसी भी ऐसी घटना की अपेक्षा कम रक्तरजित होता है। महात्मा गाधी के नेतृत्व के कारण एव उनके सर्वव्यापी प्रभाव के कारण १९४० एव १९७७ की घटनाएँ पूर्णत रक्तविहीन थीं। रक्तपात, लूट एव खानाखराबी ही यदि कान्ति के मापदण्ड हो तो फरवरी मार्च १९७७ की तो क्या, उससे पूर्व घटित अनेको महत्वपूर्ण घटनाओ को भी 'क्रान्ति' का नाम नहीं दे सकते। परन्तु यदि जनसामान्य की सक्रियता से प्रवर्तमान शासन का अन्त होता है तो फरवरी मार्च १९७७ की घटना सर्वप्रथम 'क्रान्ति' मानी जाएगी क्यो कि उसमे आमजनता की भूमिका सबसे अधिक थी।

इसीलिए फरवरी, मार्च १९७७ या १९४० या १८५७ की असफलताएँ या मराठा एव अन्य लोगो के अग्रजो से पराजित होने की जिम्मेदारी भारत के बुद्धिमानों की है। विजय के लिए जाग्रत हुई जनशक्ति को वे योग्य मार्ग पर मोड नहीं सके। महात्मा गाधी अथवा जयप्रकाश नारायण के नेतृत्व के कारण जब अनिश्चित शासन पराजित होता है तब बौद्धिक लोग हुकूमत की बागडोर आपने हाथो मे ले लेते हैं एव हालात पहले के समान ही हो जाते हैं। एक तरह से यह शायद महात्मा गाधी या जयप्रकास नारायण जैसो की असफलता ही मानी जाएगी। उन्होने क्रान्ति के बाद के समय की आवश्यकता को ठीक से समझा नहीं, उस समय के लिए योग्य व्यक्तियो, योग्य साधनो को नहीं चुना। नई रचनाके नए नियम नही बनाए। यह सब किया होता तो उनकी प्रेरणा से लोगो ने जो प्राप्त किया था उसे परिणामलक्षी एव दीर्घजीवी बना पाए होते।

बार बार भारत मे ऐसी गभीर भूले क्यो होती रहती है ? भारतवासियो का जोश रातोरात जग उठता है, प्रचड प्रतिरोध, बहिष्कार एव सत्याग्रह का निर्माण होता है। तत्काल सफलता मिलती है। एव जोश जिस तरह से जगा था उसी तरह से रातोरात ठण्डा भी हो जाता है। ऐसा होने के शायद गहरे मनोवैज्ञानिक कारण हैं। भारत के ऐसे जोश की तुलना कदाचित भूकम्प या आँधी से की जा सकती है। अन्तर केवल इतना है कि लोगो का उफान कम विनाशक है, या दृश्य रूप से विनाशक नहीं है।

भारतवासी केवल ऊपरी तौर पर अनिच्छनीय व्यवस्था को हटा देते हे परन्तु शेष पूरा का पूरा ढॉचा वैसा का वैसा ही रहने देते हे। वह ढॉचा थोडा हिलता अवश्य है परन्तु फिर स्थिर हो जाता है, फलस्वरूप भारत की प्रत्येक क्रान्ति अत्यन्त अल्प समय मे असफल हो जाती है।

भारत की ऐसी द्वन्द्वात्मक स्थिति के लिए मानसिकता के उपरान्त अन्य कारण भी है। एक कारण है दीर्घकाल की मानसिक उलझन। भारत की मानसिकता है कि राज्य चलाना एक बडा परिवार चलाने के बराबर है। इसलिए मान लिया जाता है कि शासन की धुरा एक बार किसी विद्वान एव गुणवान व्यक्ति को सौपने पर समाज मे सब कुछ ठीक ही चलेगा। साधन एव ढॉचा दुष्ट होगे तो भी वे समाज का कुछ नहीं बिगाड़ पाएँगे। समाज की वर्तमान रचना एव शासन की आज की रीतिनीति से प्रजा एक लम्बे अरसे से अपरिचित है उसका भी यह परिणाम हो सकता है। इसके अलावा सामाजिक तथा बौद्धिक क्षेत्रमे भारतीय मन एक लम्बे अरसे से मूर्छित अवस्था मे रहा है उसका भी यह परिणाम हो सकता है या इसमे भी गहरे कारण होगे। वी एस नायपाल लिखते है, 'भारत का भारी सकट तो ऐसी घायल सभ्यता है जिसे बौद्धिक पोषण के बिना ही काम चलाना पड़ता है।'

यदि भारत को दो सौ वर्ष के अग्रेजी शासन के द्वारा निश्चित किया गया मार्ग छोडकर अपनी ही सृजनशीलता एव मौलिक रूप से अपना काम करना है तो एक अच्छे व्यक्तित्व, सुखी परिवार, एव सुआयोजित समाज का निर्माण करनेवाले तत्त्व कौन से है यह जानना होगा। यह तो अविवादित है कि किसी भी प्रकार की व्यवस्था मे सत्य, प्रेम व करुणा तो मानव निर्माण के आधारभूत मूल्य है, परन्तु समाजरचना मे केवल इतने से ही काम नहीं चलता। समाज को तो सुनियोजित ढॉचे व नियम की आवश्यकता पड़ती ही है। भारत की करुणता यह है कि उसका सामाजिक ढॉचा एव कायदे कानून वर्षों से क्षीण होते रहे, दो सौ वर्ष के अग्रेजी शासन ने उसका सर्वनाश किया एव उसके बाद के समय मे विदेशी एव मूल भारतीय मूल्यो का सघर्ष निरन्तर चलता रहा और उन मूल्यों मे विकृति आई। फलस्वरूप नई रचना एव नई रीतिनीति का निर्माण सम्भव हो ही नहीं पाया।

केवल समाज का ढॉचा एव रीतिनीति का ह्रास हुआ है ऐसा नहीं है। हम व्यक्तिगत जीवन के प्राचीन मूल्यो का गुणगान करते है, ज्यो ज्यो समय बीतता है त्यो त्यों हम अधिक मुखरित होकर प्राचीन मूल्यो की प्रशसा करते है परन्तु व्यवहार मे उस प्रकार का आचरण बिलकुल नहीं दिखता है। नहीं तो सभी लोग हमेशा जिसकी बहुत ही

प्रशसा करते है उस आश्रमव्यवस्था के अनुसार लोगो का व्यक्तिगत जीवन क्यो नहीं चलता ? शास्त्रो ने तो ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एव सन्यास ऐसे चार आश्रम एक व्यक्ति के लिए बताये है। परन्तु इस व्यवस्था का उल्लघन केवल अज्ञानी ही नहीं करते अपितु सबसे घृणित रूप तो सार्वजनिक जीवन मे पडे हुए वरिष्ठतम लोगो मे दिखाई देता है। वे तो मरते दम तक दुन्यवी बन्धनो से ग्रस्त रहने मे ही सार्थकता समझते है।

इसलिए स्वाभाविक रूप से ही विश्व के सबसे बडे लोकतन्त्र मे एक ओर तो एक तिहाई जनसख्या निरन्तर अभावो मे जी रही है, एव भूख के कारण मौत के मुहॅ मे चली जा रही है, जबकि दूसरी ओर महान नेता पुराने एव चिरपरिचित, उधार लिए हुए पारम्परिक मूल्यो का राग अलाप रहे है। वे इसी प्रकार की किसी बात मे जागरूकता दिखाते है जिसका सम्बन्ध उस सत्ता को टिकाए रखने के साथ हो, या उनके लम्बे चौडे परिवार का कोई लाभ होनेवाला हो, या उनके स्वार्थी मित्रो को कुछ मिलनेवाला हो। वे अपने पुख्त सन्तानो एव उनके दुष्कृत्यो के प्रति दयाभाव रखते है। सचमुच तो भारत पुख्त बचो का देश बन गया है। केवल पूर्व या वर्तमान प्रधानमन्त्री के ही नहीं पर उनके ही स्तर के अन्य नेताओ के चालीस पचास वर्ष के पुत्र भी छोटे बच्चो के समान अपने मातापिता का पल्लू पकडकर चलते हुए दिखाई देते हैं।

केवल बडे लोगो के पुत्र ही दोषी है ऐसा नहीं है। उनकी ही आयु एव प्रतिष्ठा के हजारो अन्य युवक भी उनके समान ही है। अपने परिवारजनो के प्रति अपने दायित्व का यह विकृत रूप है। अपने व्यक्तिगत जीवन की दु खद घटनाओ की स्मृति या फिर अन्य कोई मनोकायिक कारण इस प्रकार की मानसिकता की पृष्ठ भूमि मे रहे होगे। अब भारत के सामाजिक एव राजनैतिक ढॉचे मे सत्तारूढ वृद्ध आत्यन्तिक असुरक्षितता की ग्रन्थि से पीडित हैं ऐसा लगता है। इसीलिए वे अपने आसपास स्थित किसी को भी आगे नहीं आने देते है। विश्व का इतिहास देखे तो महापुरुष, विद्वान एव भारत के भी बडे लोगो ने पचास वर्ष की आयु तक ही - औसतन तीस वर्ष की आयु मे ही - महानता प्राप्त की है। यह देखते हुए आज की स्थिति पर आशका का साया पडे बिना नहीं रह सकता। गाधीजी ४० - ५० वर्ष के होने से पूर्व ही महात्मा कहलाए एव केवल गाधीजी ही क्यो स्वामी विवेकानन्द, श्री अरन्विद, अतीत मे देखे तो आदि शकराचार्य, राम, कृष्ण, शिवाजी, महाराणा प्रताप, अकबर आदि सभी को यह बात लागू है। इतना ही नहीं जब जवाहरलाल नेहरू भी प्रथम भारतीय राष्ट्रीय कॉग्रेस के प्रमुख बने एव उन्होने घोषणा की कि भारतीय स्वातत्र्य सग्राम का ध्येय पूर्ण स्वतन्त्रता ही हे तब उनकी आयु ४० वर्ष थी।

आज हमारे समक्ष यदि सर्वाधिक महत्वपूर्ण कोई काम है तो वह यह कि राजनैतिक एव सामाजिक जीवन की जकडन दूर हो और वह अविरत रूप से चलता रहे। तीस वर्षो से पूर्ण रोजगारी के लिए हम प्रयास कर रहे है परतु अभी तक यशस्वी नहीं हुए हे। यह भी एक महत्त्वपूर्ण काम ही हे। परन्तु वन्धन दूर करने की आवश्यकता तो उससे भी अधिक हे। यह सच है कि गत तीस वर्षो की राजनेतिक महत्त्वाकाक्षा छिन गई है। परन्तु ऐसे लोगो को सन्तुष्ट करने के लिए हम देश के भविष्य को सकट मे नहीं डाल सकते हैं। सन् १९७७ मे ऐसा किया वही हमारी वहुत बडी गलती हो गई।

कुछ देशो मे तो ऐसी किसी भी समस्या का हल सर काटकर ही किया जाता है । परन्तु हम अहिसक प्रजा हे। इसलिए अन्य कोई उपाय करना पडेगा। या तो जो सत्ता से वचित रह गए हें उन्हे अध्यात्म की ओर मोडे, नहीं तो सत्ता सोपने के बजाय उन्हें सभी प्रकार के मानसम्मान से नवाजे। सत्ता सोपने से तो नुकसान ही होगा। पिछले महीनो मे पर्याप्त नुकसान हो चुका हे। आशा, अपेक्षा एव पुरुषार्थ की अभिलाषा के स्थान पर हम मृत्यु सदृश मूर्छा से प्रभावित हो गए है।

हम युवको को सार्वजनिक जीवन मे लाएँ एव देश मे सब कुछ ठीक चले इसका दायित्व उन्हे सोपे। इस प्रकार सामाजिए राजनैतिक जीवन को खुला वातावरण मिलेगा। साथ ही नए नीतिनियम एव नई व्यवस्थाएँ भी करनी पडेगी, भले ही वे अस्थाई हो। एक व्यवस्था तो ऐसे लोगो की करनी पडेगी जो स्वेच्छा से सार्वजनिक जीवन से निवृत्ति लेते हैं। अभी ऐसी मान्यता प्रचलित है कि सार्वजनिक जीवन मे कार्यरत लोगो को किसी भी प्रकार का पेन्शन या अन्य कोई मुआवजा नहीं मिलना चाहिए। गाधीजी के प्रभाव के कारण ऐसा हुआ है। परन्तु यह वात तर्कसगत नहीं है। इसके कई विपरीत प्रभाव भी है। अन्य एक अव्यावहारिक बात यह भी निर्मित हुई है कि जब तक एक हद तक शारीरिक मानसिक पगुत्व नहीं होता तब तक विधानसभा, ससद या ऐसे कई स्थानो पर चिपके रहा जा सकता है। साथ ही ऐसी कोई आर्थिक व्यवस्था नहीं होने से लोग जब तक पद पर होते हे तब तक पैसा बनाने का काम भी करते रहते है। हम यदि सर काटने की प्रवृत्ति के काम के प्रारम्भ की शुरुआत न करनेवाले हो तो ऐसी कोई सुसस्कृत व्यवस्था करना अनिवार्य हो जाता है।

ऐसा हो सकता है कि अपेक्षाकृत कम आयु के नेता अपने बुजुर्गों से अधिक कार्यक्षम एव गुणवान नहीं होगे। कदाचित वे अपने बुजुर्गो से भी अधिक झगडालू हो। परन्तु महत्त्वपूर्ण मुद्दा यह है कि देश वर्तमान आवश्यकताओ एव वर्तमान मूल्यो के अनुसार चलना चाहिए। जिसे देश का सचालन इस प्रकार करने की इच्छा है उन्होने

अपनी समझ एव मौलिकता के रहते ऐसी क्षमता हस्तगत कर लेनी चाहिए। जो निराश हो गए है, बेहूदा हो गए है, स्वय को छोड़कर अन्य किसी के विषय मे सोच ही नहीं सकते, जड एव असवेदनशील हो गए है वे देश नहीं चला सकते। तथा जो स्वय ऐसे बन गए है वे अन्य ऐसे लोगो को गाली दे एव स्वय उनमे से एक नहीं हैं ऐसा माने इससे अधिक लज्जास्पद एव हानिकारक बात और कोई नहीं हो सकती।

दूसरी व्यवस्था प्रधानमन्त्री एव राज्यो के मुख्यमन्त्रियो के सत्ता एव अधिकारो के बीच बनी हुई खाई को दूर करने के लिए करनी पडेगी। अभी तो धारणा ऐसी है कि राजनैतिक महत्त्वाकाक्षा वाला व्यक्ति बिना प्रधानमन्त्री बने कुछ कर ही नहीं सकता। साथ ही साथ प्रधानमन्त्री पद का विशेष भार भी कम करने की आवश्यकता है। यदि नौजवान एव महत्वाकाक्षी लोग राज्य मे ही रहने के लिए प्रस्तुत रहे ऐसी स्थिति निर्माण करनी है तो प्रधानमन्त्री तथा मुख्यमन्त्री को लगभग समान दर्जा देना चाहिए। आगामी कुछ वर्षो तक तो प्रधानमन्त्री के उपरात चार या पॉच उपप्रधानमन्त्री हो, यह बहुत ही आवश्यक लगता है। इन सभी को भारत के भिन्न भिन्न क्षेत्रो का स्वतन्त्र अधिकार एव दायित्व सौपना चाहिए। ये सभी प्रधानमन्त्री के समकक्ष माने जाने चाहिए। भारत के राज्यतन्त्र के लिए, अच्छे सचालन के लिए एव विकास के लिए ऐसी व्यवस्था बहुत ही उपयोगी सिद्ध होगी। भारत जैसे विशाल देश के लिए, विभिन्न प्रकार की समस्याओ से घिरे हुए देश के लिए इग्लैण्ड का या अन्य किसी यूरोपीय देश का न्यादर्श किसी भी प्रकार से उपयोगी सिद्ध नहीं होगा।

भारत की प्रतिभा एव भारत की आवश्यकताओ के अनुरूप नए तन्त्र की रचना नहीं होती तब तक राज्यो मे भी अस्थाई रूप से इस प्रकार की व्यवस्था करना चाहिए एव उसे जिले तक ले जाना चाहिए। यदि जिलो को तत्काल चुने हुए प्रतिनिधियों का शासन दिया नहीं जा सकता है तो राज्य के केबीनेट स्तर के मन्त्री को राज्य की योजनाओ को एक एक जिले मे क्रियान्वित करने का दायित्व सौपना चाहिए। राज्य की विधानसभा का कार्यबोज येनकेन प्रकारेण कम करना चाहिए, एव अधिकतम निर्णय जिला स्तर पर लिए जाएँ ऐसी व्यवस्था करनी चाहिए। सचिवालयो मे एव राज्यो मे अनुपयोगी है ऐसे अनेक विभागो को बन्द करने का समय आ गया है।

सरकार कॉग्रेस की हो या वर्तमान जनता पार्टी की, हम एक ही बात दोहराते रहते हैं, एक ही प्रकार से निश्चित समयावधि मे योजनाएँ पूर्ण करने का निर्णय करते हैं। यह जादू का अक दस वर्ष का है। परन्तु ये दस वर्ष पूर्ण ही नहीं होते। हम स्वीकार करते है कि हमारा औद्योगिक क्षेत्र का उत्पादन अनेक गुना बढ गया है। खेती की पैदावर

दुगुनी हो गई है। परन्तु खेती पर निभनेवाले लोगो की सख्या भी उतनी ही बढ गई है। साथ ही यातायात बढने एव सीधे द्रव्यप्राप्ति का अर्थविचार प्रवल बनने के कारण योजना कल्याण राज्य की बनती है परन्तु पोष्टिक अन्न के अभाव मे लोगो का स्वास्थ्य बहुत बिगड़ रहा है। जब योजनाएँ शुरू हुई तब आज की अपेक्षा लोग अधिक स्वस्थ थे। आवास, भोजन एव सास्कृतिक जीवन के स्तर मे तो कोई सुधार नहीं हुआ है।

इसी समयावधि मे महानगरो मे एव भद्र विस्तारो मे रहनेवाले पॉच, दस या पचीस लाख लोगो का जीवन स्तर अनेको गुना उच्च हो गया है एव वे लोग तो लन्दन न्यूयॉर्क, वॉशिग्टन, पेरिस, रोम, टोकियो जेसे नगरो मे बसने वालो की बराबरी करने योग्य जीवन शैली अपनाने लगे है। उनका जीवन सहूलियतो से भरपूर बन गया है क्यो कि भारत मे तो उन्हे अनेको प्रकार से लोगा की सेवा भी उपलब्ध है।

हम कब से चर्चा कर रहे है कि हमारी शिक्षा पद्धति मे भारी सुधार की आवश्यकता है, भूमि सुधार करके अधिक फसल प्राप्त करने की तथा ग्राम विकास करने की आवश्यकता है, पूर्ण रोजगारी के अवसरो का निर्माण करके सभी को रोटी - कपडा - मकान प्राप्त करवाने की आवश्यकता है। जहॉ हमारी जनसख्या बडे समूहो म रहती है ऐसे क्षेत्रो मे आय एव ससाधन के स्रोतो का निर्माण करने की आवश्यकता है। सर्व प्रथम तो आवास क्षेत्रो मे पीने के स्वच्छ जल की व्यवस्था करना आवश्यक है। परन्तु इनमे से एक को भी हम अल्पाश मे भी पूर्ण नहीं कर पाए है।

गाधीजी कहते थे, 'भूखे को इश्वर अन्न के रूप मे ही दिखाई देता है।' आज भी हमारी एक तिहाई भाग से भी अधिक जनसख्या भूखे पेट सोती है। यह सख्या प्रतिदिन, प्रतिवर्ष बढती ही जा रही है। जिस देश पर प्रकृति की कृपा हो, जो देश सत्य, अहिसा एव शाति की बात करता हो वहॉ इससे अधिक लज्जास्पद बात क्या हो सकती है ? इस लज्जा का अनुभव करने के स्थान पर जब भी भूखे एव बेरोजगारो के लिए कुछ ठोस कार्य करने की बात आती है तब हम भरे पेट से बहुत सी सुख-सुविधाओ को भोगते हुए नीति एव अध्यात्म का उपदेश देते है। बेकारी भत्ते के प्रबन्ध से कितनी नैतिक हानि है उस पर प्रवचन करते है। मानो हमे किसी असाधारण व्यवस्थाएँ करने पर बाध्य किया जाता है इस तरह प्रतिभाव देते है। देश की अर्थव्यवस्था पर उसके कितने विपरीत प्रभाव होगे, हम दिवालिए हो जाएँगे, देश के कुछ हिस्सो मे ऐसा प्रबन्ध हो सकता है, सम्पूर्ण देश मे तो असम्भव है, इस प्रकार की गहरी चिता मे डूब जाते है। हम ऐसे निर्णय पर आते है कि बेकारो और बेरोजगारो को अति अल्प सहायता देना जहॉ सम्भव है वहॉ भी नहीं देना चाहिए। (हमने इग्लैण्ड की व्यवस्था के आधार पर अपना

व्यवस्था तन्त्र बनाया है, परन्तु हमे इस बात का पता नहीं है कि इग्लैण्ड मे भी १४वीं १५वीं शताब्दी मे जब समाज बिखरने की स्थिति मे था तब गरीबो को राहत सामग्री प्रदान करने का कर्तव्य राज्य का ही माना जाता था।) इससे बढकर बुद्धि एव हृदय की विकृति और क्या हो सकती है।

हम ऐसी विकृत एव दूषित बुद्धि का उपयोग सभी क्षेत्रो मे करते है। हमारे देश मे यदि दीर्घद्रष्टा लोग है, बडे लोग है तो उन्हे एक क्षण रुकने की, सोचने की, आत्मचिन्तन करने की अतीव आवश्यकता है।

हम सोचेगे तो पाएँगे कि भारतवासियो ने जिस क्षण भारत के पुनरुत्थान का अवसर हमे दिया उसी क्षण से हम गलत रास्ते पर चल पडे। यह हमारी सबसे बडी और गम्भीर गलती है। हम इस देश की विशालता एव महानता के अनुरूप इस देश का सचालन करेगे ऐसी अपेक्षा लोग हमसे करते थे। परन्तु हम विश्वासघाती सिद्ध हुए। हमने चाहे जानबूझकर, पक्के बदइरादे से ऐसा न किया हो फिर भी गलती तो हो ही गई है। यदि हमारे सभी नेता, चितक, सामाजिक कार्यकर्ता मिलकर भी गाधीजी के साथ तुलना के लिये प्रस्तुत होते है तो हम तो महात्मा गाधी के ही शब्दो मे, कह सकते है कि हमने 'हिमालय जैसी गलती की है।' आज भारत के बडे बडे नेता, जयप्रकाश नारायण, आचार्य कृपलानी, असख्य सर्वोदय कार्यकर्ता, अन्य सामाजिक कार्यकर्ता, आपातकालीन स्थिति के विरोध मे आन्दोलन करनेवाले कार्यकर्ता और आज जो लोग शासन की धुरा सभाले हुए है, उन सभी को आत्मचिन्तन करने की आवश्यकता है। जो कुछ भी हुआ है एव हो रहा है उसकी भद्दी वास्तविकता का सामना करना पडेगा। हमारी आकाक्षाएँ, हमारे आदर्श किस प्रकार नष्ट हुए यह सोचना पडेगा, तथा हमारे मूल प्रश्नो का हल ढूँढने मे हमारी बुद्धि का उपयोग करना पडेगा। हमारी प्रतिज्ञाएँ, हमारी महत्त्वाकाक्षाएँ, हमारे आग्रहो को मूर्त स्वरूप देने के लिए प्रयासशील रहना पडेगा। एकाध वर्ष मे तो हालात पूर्णतया हमारे काबू से बाहर हो जाएँगे। उसके बाद क्रान्ति की बात करना तो केवल शब्दछल ही होगा।

• ८ अक्तूबर १९७८ को कोलकाता के साप्ताहिक 'सण्डे (Sunday)' में प्रकाशित लेख

१६. विकेन्द्रीकरण का प्रश्न चूक घोषित

पचायती राज सस्थाओ के विषय मे तैयार किया गया अहवाल केवल आठ मास की समयावधि मे ही पेश कर दिया गया इसके लिए अशोक मेहता समिति अभिनन्दन के पात्र है। जो लोग भिन्न विचार के है उनको व्यर्थ ही प्रतीक्षा नहीं करनी पडेगी। वे अपने वैकल्पिक विचार भी देश के समक्ष रख सकेगे।

समिति ने चुनी गई सस्था की द्विस्तरीय रचना की हिमायत की है। एक - भारत के प्रत्येक जिले मे, जिला स्तर की ४०० एव मडल स्तर की ४०,००० इकाईयाँ हो। मडल अर्थात् १४,००० से २०,००० जनसख्या की इकाई। इसके अलावा जब तक मडल स्थान कार्यरत न हो जाए तब तक ब्लॉक स्तर की इकाईया जिला परिषद की असवैधानिक इकाई के रूप मे कार्यरत रहे। उसमे ग्रामसमिति की भी हिमायत की गई है। इस ग्राम समिति मे प्रत्येक विस्तार के मडल या जिला स्तर पर चुने गए प्रतिनिधि हो। छोटे छोटे किसानो के, महिला मड़ल के, युवक मडल के, स्वैच्छिक सस्थाओ के प्रतिनिधियो का समावेश उसमे हो। यह ग्राम समिति वर्ष मे दो बार ग्रामसभा का आयोजन करे। उस सभा के मडल पचायत के कार्यों का ब्यौरा समिति के द्वारा ग्रामजनो के समक्ष रखा जाए। साथ ही वह ग्रामजनो का प्रतिभाव मडल पचायत तक पहुँचाने का कार्य भी करे।

समिति ने इस नई रचना को 'विकास पचायत' नाम दिया है। और इसे 'न्याय पचायत' से अलग करने एव रखने की हिमायत की है। यह बात ध्यान देने योग्य है। इसके अलावा समिति, पचायती राज के चुनावो मे राजकीय पक्षो से भी प्रत्याशी को अपना सहयोग देती है। समिति का मानना है कि इससे 'राजनीतिक पक्षो की समिति के कार्यो के प्रति अभिमुखता मे वृद्धि होगी एव उच्चस्तरीय राजनैतिक प्रक्रियाओ के साथ सयोजित करने वाली कड़ियो को जोडने मे यह बात सहायक सिद्ध होगी।'

समिति के *कथनानुसार राज्य के कोष से लगभग ३१७५ कोटि रूपयो का* प्रबन्धन जिला एव मड़ल स्तर की सस्थाओ के द्वारा सम्पन्न होगा, जिससे ८० प्रतिशत राशि जिला पचायत को प्राप्त होगी और २० प्रतिशत ४०,००० मड़ल पचायतो के लिए

रहेगी। इतनी अधिक प्रतीत होने वाली राशि से कुछ नियत दायित्वो, जेसे कि इन सभी कार्यो के लिए वर्तमान मे राज्यस्तर पर कार्यरत कर्मचारियो को जिला या मडल स्तर पर भेजकर उनके वेतन मे खर्च होगी। और कितनी राशि वास्तव मे नए विकास कार्यों के लिए रहेगी इसकी कोई स्पष्टता अहवाल मे नहीं की गई है। इस राशि से कितनी सीधे केन्द्र सरकार के द्वारा एव कितनी राज्य सरकार के सचिवालयो एव विभिन्न विभागो के माध्यम से खर्च की जाएगी इसकी सूचना की अपेक्षा करना हमारे लिए कदाचित् कुछ ज्यादा ही होगा। इसके अतिरिक्त इन नई सस्थाओ को अन्य अतिरिक्त खर्च के लिए उपयोगी राशि विविध नये एव पुराने करो के माध्यम से प्राप्त करने की बात आग्रहपूर्वक की गई है। इन करो मे १५० वर्ष पुराने मकान कर, व्यवसाय कर, वाहन कर इत्यादि का भी समावेश है। इस प्रकार के स्थानीय करो से प्राप्त आय बहुत अधिक तो नहीं हो सकती। ऐसे स्थानीय कर का अनुमान भी लगभग १०० करोड़ लगाया गया है।

समिति की 'विकास' एव कमजोर वर्गों के लिए चिन्ता वास्तव मे गहरी है। अहवाल के अलग अलग सदर्भों से यह स्पष्ट दिखाई देती है। फिर भी उसमे पूर्ण रोजगारी एव उसके लिए पचायती राज सस्थाओ की जिम्मेदारी का कोई उल्लेख नहीं हैं। जहॉ तक समिति का सबध है वहॉ तो ऐसी किसी समस्या का अस्तित्व ही नहीं प्रतीत होता है। अहवाल मे 'चौखम्भा राज' और पचायतो के लोकतन्त्र के मूल आधार होने का उल्लेख अवश्य है।

समिति अनिच्छापूर्वक यह भी दर्ज करती है कि 'इस नई रचना को आवश्यक प्रतिष्ठा एव निरन्तर कार्यक्षमता दिलाने के लिए भारत सरकार के द्वारा सवैधानिक रूप से कुछ विचार करने की आवश्यकता है।' अन्य एक हिमायत के रूप मे दर्ज करती है कि 'जहॉ सुदृढ पारम्परिक जनजातियो के 'सगठन' कार्यरत है वहॉ उन्हे अपनी सामाजिक जिम्मेदारियो को कार्यरत रखने की छूट देनी चाहिए।' ये दोनो हिमायते स्वागत योग्य है। परन्तु यह समझ मे नहीं आता है कि समिति ने यह बात सभी पचायती राज समितियो पर लागू क्यो नहीं की। ऐसा किया होता तो सभी समितियॉ किसी भी प्रकार की निरीक्षक सत्ता के हस्तक्षेप के बिना अपना कार्य करने के लिए सक्षम होतीं। अपने ही क्षेत्र से अपने ही प्रयास से प्राप्त आय का अपने ही क्षेत्र के विकास की योजनाओ के लिए स्वय ही उपयोग कर सकने के लिए सक्षम होतीं।

समिति का वृत्तान्त बहुत विस्तृत है। पर्याप्त रूपसे तर्कपूर्ण है। बहुत सी अकीय पूर्तियॉ है फिर भी सब कुछ धुँधला है। कहीं कहीं तो उसमे आनुपातिक असन्तुलन भी दिखता है। एक ही उदाहरण पर्याप्त होगा। विश्व के यू एस ए , फ्रास, जर्मनी, जपान जैसे

देशो मे जहॉ प्रारम्भ से ग्रामीण जनसख्या का आधिक्य था वहॉ गत ४०-५० वर्षों मे वह नगण्य हो गई है वहीं भारत मे नगरीय जनसख्या जो १९२१ मे ११ २ प्रतिशत थी वह १९७१ मे १९ ९ प्रतिशत हुई है उससे समिति को लगता है कि 'नागरीकरण की गति उल्लेखनीय मात्रामे बढी' है।

भारत मे राज्य की रचना स्वतन्त्रतापूर्व जो थी लगभग आज भी वही हे। यह सच है कि स्थानीय, राज्य या केन्द्र स्तर पर कार्यरत कर्मचारियो की सख्या मे तीस वर्षों मे कई गुना वृद्धि ही हुई हे। सरकार के विभाग, निगम एव मडलो की सख्या मे भी पर्याप्त वृद्धि हुई है। फिर भी स्वतन्त्रता सग्राम के काल मे ओर स्वतन्त्रताप्राप्ति के बाद सविधान की रचना के समय उसकी रचना करनेवाले लोगो मे तीव्र असन्तोष व्याप्त था कि हम स्वतन्त्रता के परिणामस्वरूप जो चाहते थे वह हमे प्राप्त नहीं हुआ है। महात्मा गाधी की प्रेरणा एव मार्गदर्शन सार्थक होते नहीं दिखते थे। सविधान कैसा होगा यह जब उन्होने जाना तब महात्मा गॉधी ने कहा, 'सविधान समिति कहती है कि सूचित सविधान मे ग्रामपचायत के कार्य एव विकेन्द्रीकरण इन दो विषयो पर कोई टिप्पणी नहीं है। मुझे कहना चाहिए कि यह मेरी समझ मे नहीं आता है। स्वतन्त्रता का अर्थ यदि लोगोकी अपनी आवाज ही होता है तो सविधान मे उसे स्थान ही नहीं दिया गया है, पचायत के पास जितनी अधिक सत्ता होगी उतना ही लोगो के लिए अच्छा होगा। ('हरिजन', २१ दिसम्बर १९४७)

गाधीजी का अभिप्राय और सविधानसभा के अध्यक्ष डा राजेन्द्र प्रसाद के द्वारा व्यक्त की गई सदस्यो की चिन्ता को ध्यान मे रखकर सरकारके सवैधानिक परामर्शदाता श्री बी एन राउने मई १९४८ मे कहा, 'वर्तमान स्तर पर सविधान के मुसद्दे मे पचायत का विषय समाविष्ट नहीं किया जा सकता।' वैसे भी श्री बी एन राउ तथा सविधान रचना समिति के अन्य सदस्यो को पचायत या विकेन्द्रीकरण जैसी बातो मे कुछ खास रुचि नहीं थी। वर्तमान सविधान ऐसे लोगो ने ही तैयार किया है। अन्त मे एक अन्य विचार के रूप मे सविधान मे एक नई धारा (वर्तमान धारा ४० ए) एक सान्त्वना के रूप मे ('राज्य ग्राम पचायतो की रचना के लिए योग्य कदम उठायेगा। राज्य को देखना है कि ग्रामपचायते स्वतन्त्र प्रबध के लिए किस प्रकार सक्षम बने।') जोड दी गई। मूल आशय तो ऐसी रचना करना था जहॉ वह गॉव की आधारभूत इकाई से रचना होते होते ऊपर की ओर जाए और जो बाते नीचे के स्तर पर सम्भव नहीं है उन्हे ऊपरी स्तर पर सौंपा जाए। परन्तु हुआ उससे विपरीत। सविधान के रचनाकारो को यह बात समझ मे तो आई परन्तु उसका कोई अर्थ नहीं था। इसके बाद बलवन्तराय मेहता अध्ययन समिति एव उसीके जैसी अन्य समितियो ने अपना अहवाल दिया, कितने ही परिसवाद

एव चर्चासत्र आयोजित हुए, भूदान एव ग्रामदान का आन्दोलन हुआ, गॉव को सुदृढ बनाने के कई प्रयास हुए तो भी १९४७ के पूर्व की स्थिति ही प्रवर्तमान है। श्री जयप्रकाश नारायण के शब्दो मे 'यह उल्टा पिरामिड' है, जिसमे हमारी व्यवस्थाओ की जड़े जमीन मे नहीं है एव उसको पोषण मूल इकाईयो से न मिलकर ऊपर से ही मिलता है।

स्पष्ट है कि राज्य की रचना के विषय मे दो प्रकार के मत है और दोनो एक दूसरे से भिन्न एव अन्तिम छोर के है। एक सोच तो प्रभावी रूप से पश्चिमी है। इग्लैड मे इसकी विस्तारपूर्वक व्याख्या दी गई है। और नॉर्मन विजय से प्रारम्भ करके उन्नीसवीं शताब्दी तक इग्लैड़ मे उसका व्यवहार भी होता रहा है। उसके अनुसार सम्पूर्ण सत्ता एव ससाधन विजेता के आधिपत्य मे रहते है एव निम्नस्तर के लोगो को विजेता की इच्छा के अनुसार ही रहना पडता है। भारत मे अग्रेजो ने जिस प्रकार का ढॉचा बनाया और उसका क्रियान्वयन किया वह यही था। इसके विपरीत प्रकार का ढॉचा महात्मा गॉधीने सूचित किया। वह ढॉचा मूल मे भारतीय था। इस ढाचे के अनुसार राज्य तो मात्र एक छत्र या शिखर के समान है जिसके पास प्रारम्भ से अधिकाश सत्ता एव ससाधन रहते है। शिखर नींव पर आधारित होता है, यूरोप के समान नींव शिखर की सत्ता के अन्तर्गत नहीं होती। इस भारतीय रचना के अनुसार सभ्य समाज के अधिकाश कार्य स्थानीय स्तर पर, छोटे छोटे समूहो के द्वारा होते है एव वे जो नहीं कर सकते वही राज्य करता है।

परन्तु कोई भी रचना हो उसके पुरस्कर्ता एव आलोचक तो होते ही हैं। कुछ लोगो के मतानुसार 'उल्टा पिरामिड़' सैनिकी शक्ति एव आधुनिक औद्योगीकरण के लिए अनुकूल है। तो अन्य कुछ लोगो के मतानुसार विकेन्द्रित रचना मे लोगो की सहभागिता एव प्रत्यक्ष आपसी सम्बन्ध अधिक होता है। उनके अभिप्राय मे कस्बो, गावो, मुहल्लो एव छोटे नगरो मे लोगो को अपनी स्वय की बातो मे अधिकार न सोपा जाए, वे स्वय ही व्यवस्थाओ मे भागीदार न बने एव विशाल राज्यतन्त्र का स्वय एक सक्रिय अश है ऐसी उनकी भावना न बने, जब तक उनकी भावना एव आदर्शो के अनुरूप ही राज्य है ऐसी प्रतीति उन्हे न हो तब तक भारत मे लोकतन्त्र का ढॉचा सुदृढ नहीं बन पाएगा।

१९७४-७५ मे जयप्रकाश नारायण के नेतृत्व मे हुए एक आन्दोलन ने एव उसके बाद लोकमत से या लोकनिर्णय से बनी जनता पार्टी द्वारा १९७७ मे दिए गए वचनो से लोगो मे एक आशा जगी थी कि आखिर एक लम्बे अन्तराल के बाद भारत मे सार्थक एव उपयोगी पद्धति से सरकार काम करेगी। १९७७ मे जब अशोक मेहता

समिति की रचना हुई तब ऐसा विश्वास जगा कि यह उस दिशा मे उठाया गया पहला चरण है। परन्तु उस समिति ने जो वृत्तान्त दिया वह तो स्वतन्त्रता के बाद के तीस वर्षो मे जो कुछ हुआ था उससे जरा भी भिन्न नहीं है। एक नया प्रारम्भ करने के स्थान पर यह समिति प्रबन्धन सुधार समिति एव उसके समान ही अन्य समितियो के द्वारा कही गई बातो का ही पुनरावर्तन कर रही है। वास्तव मे विकेन्द्रीकरण एव स्थानीय आवश्यकताओ, कुशलताओ एव मान्यताओ के अनुरूप स्वशासन एव सवैधानिक ढॉचे का विषय तो अन्ततोगत्वा कूडेदान मे ही चला गया है।

---

* नई दिल्ली के 'द ऑल इण्डिया पचायत परिषद (The All India Panchayat Parishad)' के जर्नल 'पचायत सन्देश (Panchayat Sandesh)' के सितम्बर-अक्तूबर १९७८ (पृ १५-१६) में प्रकाशित १९७८ के 'अशोक मेहता कमिटी ऑन पचायत राज इन्स्टीट्यूशन्स (Ashok Mehta Committee on Panchayat Raj Institutions)' के अहवाल पर अवलोकन।

१७. भारत के पुन: औद्योगीकरण विषयक कुछ विचार

अठाहरवीं शताब्दी के अन्त तक खेती, पशुपालन, व्यापार, वाणिज्य, सास्कृतिक एव धार्मिक गतिविधियॉ, प्रबन्धन, पुलीस एव सैनिकी उद्यमो के अतिरिक्त उद्योगो से जुड़े हुए लोगो की सख्या कुल जनसख्या का लगभग २० से २५ प्रतिशत थी। इनमे अधिकाश लोग घर, मन्दिर, किले एव अन्य सार्वजनिक भवननिर्माण काम मे तथा रास्ते एव तालाबो के निर्माणकार्य मे लगे थे। चिनाई काम मे उपयोगी सामग्री मे पत्थर, ईट, मिट्टी, विभिन्न प्रकार की फर्श, लकडी, कुछ धातुऍ, विभिन्न प्रकार का चूना आदि का समावेश होता था। अन्य एक बडा भाग कपडा उत्पादन के कपास ओटने, धुनने, कातने, बुनने, छापने, रगने एव सजाने जैसे विभिन्न उपविभागो से जुड़ा हुआ था। सन् १८०० के आसपास भारत मे बुनकरो की सख्या लगभग १५ से २० लाख परिवारो की थी। रेशम, ऊन, या सूत कातनेवाले परिवारो की सख्या उससे लगभग १० गुना अधिक थी। इन दोनो उद्योगो के अतिरिक्त एक महत्त्वपूर्ण उद्योग था धातु उद्योग, जिसमे धातु खोदना, गलाना, उन से गृहोपयोगी चीजे बनाना, उपयोगी रसायन तैयार करना, नमक एव गन्धक तैयार करना इत्यादि का समावेश होता था। नदी, तालाब, या समुद्र से मछली पकडना भी एक उद्योग था। रग तैयार करने के लिए, उसे पकाने के लिए, उपयोगी द्रव्य तैयार करने के लिए वनस्पति एकत्र करना, चीनी, स्पिरीट, औषधी, वनस्पतिजन्य प्रसाधन, इत्र इत्यादि बनाने के उद्योग भी थे। लकड़ी, लोहा, चादी, सोना, हीरा, ताबा, पीतल, कासा, काच इत्यादि से अनेक प्रकार की वस्तुऍ बनानेवाले कारीगर भी बडी सख्या मे थे। इसके अतिरिक्त तेली, मोची, कुम्हार इत्यादि भी थे।

अठारहवीं शताब्दी के अन्त तक चिनाईकाम एव विविध प्रकार के धातुकाम से जुडे हुए लोग शिक्षण मे या फिर धार्मिक समारोहो मे स्वय को ब्राह्मण से कम नहीं समझते थे। ब्राह्मण भी उन्हे ऐसे मौके पर स्वय से भी उच्च स्थान एव सम्मान देते थे। परन्तु अठारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ मे उद्योग, व्यापार, वाणिज्य, शराफी इत्यादि मे जुड़े हुए लोगो की दुर्दशा शुरू हुई। इसके कारणो के विषय मे सोचने पर ऐसा लगता है कि या तो विदेशी शासन के आधिपत्य की धौंस बढी होगी या फिर खेती और उद्योग के बीच

किसी प्रकार का आन्तरिक सघर्ष निर्माण हुआ होगा या फिर दोनो के अतिरिक्त अन्य किसी कारक का निर्माण हुआ होगा। भारतीय उद्योगो के ह्रास का सकेत इस बात से मिलता है कि मदुराई के तिरुमल नायक महल के या जयपुर के सवाई जयसिह की खगोलशास्त्र की वेधशाला के निर्माण मे यूरोप एव अन्य पाश्चात्य देशो के शिल्पियो को बहुत महत्त्व दिया गया था।

उन्नीसवीं शताब्दी मे भारतीय उद्योगो का सर्वतोमुखी ह्रास हुआ। सभी उद्योग जैसे थम से गए। शताब्दियो की परम्परा से जो लोग इन उद्योगो से जुड़े थे वे सब केवल मजदूर बनकर रह गए। उन्हे परा कोटि का हीनताबोध करवाया गया। इग्लेड मे भी इसी प्रकार से हो रहा था एव भारत मे जो कुछ भी हुआ वह उसी की प्रतिकृति थी। कोयले एव बाष्प की ऊर्जा प्राप्त होने के बाद तो इग्लेंड़ के अतिरिक्त यूरोप के देशो मे भी ऐसा हुआ था। यह सब सन् १७५० के आसपास शुरू हुआ। परन्तु प्रारम्भ के, विस्थापित होने के समय के बाद इग्लेड़ के कारीगर नए ओद्योगिक ढॉचे मे धीरे धीरे समाविष्ट हो गए एव कुछ समय के पश्चात् खेती तथा आनुवाशिक कामो से जुडे हुए लोग भी ऊर्जा आधारित उद्योगो मे समाविष्ट हो गए। इग्लेड़ तथा यूरोप के अन्य देशो के ऐसे लोग नए औद्योगिक ढॉचे मे वरिष्ठ कारीगर, निरीक्षक, आलेखक, प्रशिक्षक के रूप मे जुड़े न कि बेमानी, कठोर मजदूरी करनेवाले मजदूरो के रूप मे।

परन्तु भारत मे कुछ अलग ही हुआ। नया रूप धारण किए हुए यूरोप के व्यापार एव वाणिज्य मे जो आवश्यकताएँ निर्मित हुई थीं उन्हे पूर्ण करने के लिए ब्रिटिश शासित भारत मे कारीगर एव उद्योजको की नियति अलग रूप से निर्मित हुई या बनाई गई। प्रारम्भ में वस्त्र उद्योग के, धातु उद्योग के, चिनाई उद्योग के कारीगर स्थानान्तरित हुए एव बेघर बने, बाद मे बधन मे पड़े एव नष्ट हुए। इसके कारण सर्जक, शिल्पी इत्यादि केवल मजदूर बनकर ही रह गए। शेष सभी ससाधनो के तथा उपयोगिता के अभाव के कारण उद्योग क्षेत्र के औद्धत्य एव जगालियत का शिकार हो गए। खान एव धातु उद्योग या तो सीधे सीधे प्रबन्धन सम्बन्धी प्रतिबन्ध के कारण या भार कर वसूली के आर्थिक घर्षण के कारण या सरकार द्वारा खान एव जगलो को सरकारी सम्पत्ति मानकर अपने कब्जे मे ले लेने के कारण और ब्रिटिश तथा अन्य यूरोपीय माल की आयात निर्यात की सुविधा की सहायता सुलभ होने के कारण नष्ट हो गए। धुनाई से लेकर छपाई तक के सम्पूर्ण वस्त्र उद्योग की भी सन् १९१५ के अरसे मे यही दशा हुई। सन् १९२० के आसपास तो भारतीय उद्योग बिलकुल टूट गया। सन् १९२१ मे महात्मा गाधी को यह स्थिति देखने को मिली थी।

देश के प्रमुख औद्योगिक केन्द्रों मे उद्योग की स्थिति सन् १८०० से ही दयनीय हो गई थी। ऐसी ही स्थिति अन्य केन्द्रो की भी होने लगी। खेती, व्यापार, वाणिज्य के ह्रास के कारण उद्योगो को भी नुकसान होने लगा। गॉवो एव कस्बो मे कारीगर का एक सम्मानजनक स्थान था। अधिकाश कारीगरो के अपने मकान थे। मकान के पिछले हिस्से मे बाडे थे, मान्यम जमीन थी एव फसल तैयार होने पर पर्याप्त मात्रा मे उसमे उन्हे हिस्सा भी प्राप्त होता था। इसी प्रकार व्यापार, वाणिज्य एव शराफी करनेवाले लोगो से भी उन्हे अश प्राप्त होता था। जैसे जैसे ब्रिटिशरो की तानाशाही एव सार्वत्रिक आर्थिक दुर्दशा के कारण यह केन्द्र टूटने या नष्ट होने लेगे वैसे वैसे यह कारीगर समुदाय गरीब बनता गया। अधिकाश बेकार बन गए। उन पर कानून की विभिन्न धाराएँ लगाकर उनकी जमीन, मकान व मान्यम के अधिकार छीन लिए गए। सम्पूर्ण उन्नीसवीं एव बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ मे यही चलता रहा और स्थानीय ढॉचे के अगभूत सभी कारीगर एव उनके सदृश अन्य सभी अपने स्थान छोडकर विस्थापित बनने के लिये बाध्य हो गये। भारत मे सर्वत्र यही चलता रहा, क्यो कि उनका उद्देश्य सम्पूर्ण देश को पशुपालन के माध्यम से कच्चा माल तैयार करनेवाला क्षेत्र बनाना ही था। बढई, लुहार या कुम्हार का भी खेती के लिए उपयोगी औजार तैयार करने भर का उपयोग था।

सन् १८८० के लगभग भारत के विभिन्न क्षेत्रो मे, विशेष कोलकाता एव मुम्बई में, नया औद्योगिक ढॉचा तैयार होने लगा। इसके पीछे अनेको कारण थे, परन्तु, अग्रेजो की मशा स्वय द्वारा प्राप्त की गई नई सपत्ति के किसी प्रकार से निवेश की थी। इस नए औद्योगिक ढॉचे के लिए बहुत बड़े पैमाने पर सस्ते दर की मजदूरी की आवश्यकता थी। भारत मे ऐसी सस्ती एव प्रभूत मात्रा मे मजदूरी को ही प्रोत्साहित किया गया। यह कहना बिलकुल सच होगा कि ये सभी सस्ते मजदूर पहले के प्रतिष्ठाप्राप्त कारीगर ही थे। खान एव धातु उद्योग के कारीगर, लोहे, इस्पात एव अन्य धातु के उद्योगो मे काम करनेवाले कारीगर, पत्थरकाम, शिल्प, स्थापत्य के क्षेत्र के कारीगर, रगरेज, राजगीर, तालाब खोदनेवाले, लोक निर्माण विभाग के तथा ठेकेदारो के मजदूर बन गये। इन सभी को सीधे सीधे मजदूर के रूप मे या बहुत हुआ तो मुकादम के रूप मे ही रखा जाता था।

इस प्रकार भारतीय उद्योग का मुख्य कारीगर वर्ग ऐसे व्यवसायो एव जातियो से बना हुआ था। ये जातियाँ ऐतिहासिक परम्परा से ये सब काम करती रही थीं। आज भी यही लोग ये सभी काम कर रहे है। स्पष्ट है कि यह पूरा कारीगर वर्ग, जो पीढियो से इन सभी प्रकार की कारीगरी के कार्यो मे विशाल अनुभव के कारण अत्यन्त कुशल है, वह यदि नष्ट हो जाता है तो आज के आधुनिक इन्जिनियर, मेनेजर, उद्योजक उद्योगो को

सुचारू रूप से चलाने मे नाकाम सिद्ध होगे। भारत के आधुनिक उद्योगक्षेत्र मे इन सबका स्थान उसी प्रकार का है जैसे प्रबन्धन एव अन्य सेवाओ मे अधिकारी वर्ग का। दोनो मे केवल उनका पद ही उन्हे प्रभावशाली बनाता है, ज्ञान या कुशलता नहीं। काम करने योग्य ढाँचे या सस्थाएँ बनाने के लिए इन सभी के पास कोई कार्यकुशलता नहीं है यह तो सार्वत्रिक अनुभव से हमे ज्ञात है।

भारतीय उद्योगों के जानकार पारम्परिक कारीगर तो आज भी विपुल मात्रा मे औद्योगिक ढाँचे के बाहर रहकर व्यक्तिगत रूप से अपनी पद्धति से ही कार्यरत है। वर्तमान परिभाषा के आधार पर उनमे से अधिकाश लोग 'पिछडी जाति' एव अन्य 'पिछड़ी जाति' - बी सी एव ओ बी सी - वर्ग के लोग माने जाते है। उनका व्यवसाय एव उनकी जाति भारत के राजनैतिक एव व्यवस्थातन्त्र के ढाँचे मे अपने लिए स्थान की अपेक्षा रखते है तो यह स्वाभाविक है। १९ वीं शताब्दी के मध्यकाल से इस ढाँचे मे ब्राह्मण, कायस्थ एव ऐसी ही अन्य जातियाँ प्रमुख स्थान पर है एव बी सी एव ओ बी सी गौण बन गई हैं। परन्तु इन सभी जातियो को सार्वजनिक ढाँचे मे स्थान मिलना ही चाहिए यह तो आवश्यक है ही, साथ ही यह वर्ग यदि भारत के औद्योगिक ढाँचे मे मेरुदण्ड के समान बनता है तो हमे बहुत लाभ होगा। उद्योगो की समग्र प्रक्रियाओ का उन्हे उत्तम ज्ञान है, उनके पास परम्परा है, परम्परा के कारण ही अभ्यास है, कुशलता है, परिश्रम है, लगन है, एव समझ है। वर्तमान औद्योगिक ढाँचे मे जो मुकादम और प्रबन्धक के रूप मे कार्यरत है उनके पास ऐसा ज्ञान या कुशलता नहीं है, क्योकि वे उस परम्परा से सम्बन्धित नहीं हैं। वे भारत की जनसख्या का दो प्रतिशत भाग भी नहीं हैं। आज भी हम यदि इस मूल भारतीय कारीगर वर्ग को जानने एव समझने का प्रयास करेगे तो हमे पता चलेगा कि वे आज भी व्यक्तिगत या जातिगत रूप से उतना ही ज्ञान, उतनी ही समझ, उतनी ही कुशलता एव वैसी ही दृष्टि के स्वामी है। उन्हे अपनी कुशलता पर विश्वास भी है। मद्रास के आसपासके पत्थरकटे को यह विश्वास है कि उन्हे मौका दिया जाय तो वे तजावुर के बृहदेश्वर मन्दिर के समान या तिरुअनन्तपुरम् के सूचीन्द्रम् के समान भव्य मन्दिर का निर्माण कर सकते है। एक सुनार को भी विश्वास है कि वह कम्प्युटर बना सकता है। ऐसा ही हर बात के लिए माना जा सकता है।

ब्रिटिशरो से हमे जो विरासत के रूप में मिला है वह है राजनैतिक, सास्कृतिक, रचनाकीय एव आध्यात्मिक रूप से अस्तव्यस्त या बिखरा हुआ भारत ब्रिटिश शासन मे जिस दारिद्य एव अभाव का निर्माण हुआ उसके कारण भारतीय जन का भौतिक नुकसान तो हुआ ही, उनकी व्यक्तिगत एव सामाजिक शक्ति तो नष्ट हुई ही परन्तु उनकी

ज्ञान की पद्धतियाँ एव व्यावसायिक एव कारीगरी के क्षेत्र की कुशलता भी नष्ट हो गई। सत्ता के हस्तान्तरण के रूप मे भारत को ब्रिटिशो ने जिन भारतीयो के हाथो मे सौपा वे पूर्णत पाश्चात्य मानसिकता वाले थे एव राजनैतिक तथा व्यवस्थाकीय रूप से पश्चिम के रग मे रगे हुए थे। ये प्रजा के एक बहुत ही छोटे वर्ग का प्रतिनिधित्व करते थे। महात्मा गाधी की प्रेरणा एव स्वतन्त्रता आन्दोलन का उत्साहप्रेरक वातावरण होने पर भी भारत एक उजड़ा हुआ वीरान प्रदेश बन गया था एव भारतीय प्रतिभा एव बुद्धि का उसमे कोई स्थान नहीं था। आज ऐसा लगता है कि ब्रिटिशरो की पकड थोडी ढीली हुई है फिर भी भारतीय प्रतिभा का उपयोग करने मे कोई अन्तर आया है ऐसा नहीं लगता है।

यह स्थिति बहुत समय तक सही नहीं जा सकती। मूल स्रोतो की कमी, प्रत्येक क्षेत्र में कभी पानी, कभी उपजाऊ जमीन का अभाव, बेरोजगारो एव अल्प रोजगारीवालो की बढती हुई सख्या, सामाजिक जीवनकी अनवस्था, अव्यवस्था एव अनारोग्यकर स्थिति-यह सब उस स्तर पर पहुँच चुका है कि अब तत्काल दिशा परिवर्तन करने की आवश्यकता है। हमारे लोगो की प्रतिभा, कुशलता, मौलिकता, सूझबूझ इन सभी के आधार पर एक नई रचना बनाने की आवश्यकता है। भारतीय समाज को जीवित रखने के लिए ऐसा करना आवश्यक है। पारम्परिक व्यवसाय करनेवाली जातियो को इस बदली हुई दिशा मे महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त होगा यह कहने की आवश्यकता नहीं है।

आज हमारी स्थिति ऐसी है कि हमने आधुनिक उद्योगो का जो मायाजाल बनाया है उसे तो सहना ही पडेगा, परन्तु भारत की आज की आवश्यकताओ मे इन उद्योगो का स्थान गौण है। यही बात वर्तमान विज्ञान एव टेक्नोलोजी की सस्थाओ के भी विषय मे सही है। इन सस्थाओ का निर्माण पुराने ब्रिटिश मोडेल के आधार पर हुआ है। कुछ मोडेल तो गत शताब्दी के है, कुछ ५० साल पुराने है। ये सभी सस्थाएँ आज के औद्योगिक ढाँचे को तान्त्रिक, व्यवस्थाकीय एव अनुसन्धानात्मक सहयोग प्रदान करने के लिए ही बनी है। यदि अब तक उपेक्षित भारतीय औद्योगिक प्रतिभा को पुन प्रतिष्ठित किया जाए तो उद्योगो को नवजीवन प्राप्त होगा, इसका आधार विशाल बनेगा एव उत्पादन दस गुना हो जाएगा।

मूल भारतीय प्रतिभा का महत्तम उपयोग करना है तो हमे एक नए औद्योगिक ढाँचे की आवश्यकता होगी। उत्पादन की पद्धतियाँ एव हमारा अभिगम हमें पूर्णरूप से बदलना पड़ेगा। नए ढाँचे के लिए उपयोगी सिद्ध होनेवाले अनुसन्धान एव विकास के ढाँचे की रचना करनी होगी। इसका अर्थ यह नहीं है कि पश्चिम के मोडेल के आधार पर रचित आधुनिक औद्योगिक ढाँचे को हम तत्काल छोड़ दे। हम उसका पूर्णरूप से

सैद्धान्तिक निषेध कर दे, ऐसा भी नहीं करना है। वह तो यथाकाल होगा ही, परन्तु वह समय अभी दूर है, क्यो कि सिद्धान्त के आधार पर पश्चिम के ढाँचे का विरोध करने के लिए हमे मनुष्य, समाज, राज्य और उसे बनाये रखनेवाली सस्थाओ के आपसी सम्बन्धो के विषय मे गहराई से एव मूल रूप से अध्ययन करना होगा। वर्तमान पाश्चात्य औद्योगिक ढाँचे का अभी तो केवल प्रयोजन बदलने की आवश्यकता है। उसका उपयोग मूल आवश्यकताओ एव उपयोगी वस्तुओ, ऊर्जा एव विदेशियो का प्रतिरोध करने के लिए सुरक्षा के साधनो का निर्माण करने मे होना चाहिए। दैनिक उपयोग की वस्तुओ का उत्पादन तो भारतीय कारीगरो की देखरेख मे चलनेवाले भारतीय उद्योगो को ही सौप देना चाहिए। ऐसे उद्योगो मे यन्त्र एव अन्य सामग्री भी भारतीय कारीगरो के द्वारा निर्मित होनी चाहिए। देखा जाए तो कई वर्षो से दैनिक उपयोग की वस्तुएँ कुटीर उद्योग एव लघुउद्योगो के द्वारा निर्मित होनी चाहिए इस विषय पर चर्चा चल रही है। इस चर्चा को मूर्त स्वरूप नहीं मिल पाया इसके लिए हमारा प्रमाद एव दुर्बल इच्छाशक्ति ही कारण है। यह दुर्गुण सभी क्षेत्रो मे पाया जाता है। पुन प्रस्थापित होनेवाले या हो रहे भारतीय औद्योगिक टेक्नोलोजी के ज्ञान एव व्यवस्थाकीय पद्धतियो का निर्माण करने के लिए किसी भी प्रकार का ठोस विचारविमर्श नहीं किया गया। हम तो अठारहवीं शताब्दी की पद्धतियो एव प्रयुक्तियो को उलट पलट कर पाश्चात्य प्रकार का औद्योगीकरण किस प्रकार किया जाए इसकी बहस ही करते रह गए। 'उपयुक्त तन्त्रज्ञान' - पाश्चात्य सोच से उपार्जित इस अतिपाश्चात्य सकल्पना ने तो हमारी उलझन और भी बढा दी है। वास्तव में देखा जाए तो 'उपयुक्त तन्त्रज्ञान' की सकल्पना के जनक इ एफ शूमाकर को इस पाश्चात्य ढाँचे मे भारत के देशीय तन्त्रज्ञान का कोई स्थान हो सकता है ऐसा नहीं लगा। उनके अनुसार तो यह तन्त्रज्ञान मृत अतीत की मृत वस्तु थी।

पश्चिम को एव पश्चिम के मानवो को गत १५०-२०० सालो मे ऐसा महसूस ही नहीं हुआ कि उनके अतिरिक्त कोई अन्य सभ्यता भी अपने आप अपना जीवन जी सकती है। यदि ऐसी कोई सम्भावना दृश्यमान होती है तो पश्चिम उसकी जड़े उखाड़कर फेक देने का प्रयास करता है। अभी कुछ समय से वह चुनाव का अवसर देने लगा है। उसके पास विनाश की एक से अधिक पद्धतियाँ हैं। वह एक राजनैतिक ढाँचा या शिक्षण पद्धतियाँ या तन्त्रज्ञान की पद्धति एव साधन हमे प्रदान करता है। हमे यदि एक पद्धति पसन्द नहीं आती है तो हम दूसरी पद्धति को अपना सकते हैं। पश्चिम के लिए तो आप कुछ भी चुने, सब समान ही है। परन्तु हमे वह उस से मुक्त हो कर अपने साधन एव पद्धतियो का उपयोग करने की छूट नहीं देता। जो कुछ भी चुना जाए, हमारा विनाश तो

निश्चित ही है।

प्राचीन ग्रीस के जमाने से आज तक यूरोप की जलवायु एव भूमि को देखते हुए लगता है कि उसे अपना जीवन बनाए रखने के लिए व्यापार की अनिवार्यरूप से आवश्यकता है। पिछले कई सौ वर्षो के दौरान शिक्षणतन्त्र ने एव बर्बर शारीरिक तथा औद्योगिक शक्ति ने उसे जैसे सनातन सत्य का स्वरूप दे दिया है। यह बहुत बडा दुर्भाग्य है कि हमारी राजनैतिक अपरिपक्वता के कारण ऐसे आतरराष्ट्रीय व्यापार एव आयातनिकास के षड़यन्त्र मे हम फस गए है। इससे भी अधिक अन्तर्विरोधी बात तो यह है कि जहॉ जहॉ हमारी बात कोई सुनता है ऐसा लगता है वहॉ वहॉ हम इस वृत्ति प्रवृत्ति का प्रचार भी करते है।

एक बार हम अपने औद्योगिक ढॉचे की दिशा परिवर्तित करने का निर्णय करे एव उसमे अप्रतिहत वृद्धि भी करना चाहे तो हमे कुछ काम विशेष रूप से करने पड़ेगे। (१) कुशल एव माहिर कारीगरो की खोज करना। (२) भारतीय उद्योगो के लिए विभिन्न क्षेत्रो से कितनी सख्या मे कारीगर मिल पाऍगे, इसका अनुमान लगाना। (३) उनमे कितने लोग विविध प्रकार से पाश्चात्य टेक्नोलोजी से भी परिचित हैं, इसकी जानकारी लेना (४) नए औद्योगिक ढॉचे के लिए 'अनुसन्धान एव विकास' प्रारम्भ करने की पद्धति खोज निकालना एव यह सब बडे पैमाने पर करने के लिए तन्त्रयुक्त एव सस्थाकीय रचना की योजना बनाकर उस पर अमल करना।

हमे समझ मे आएगा कि ऐसा सम्पूर्ण देशी ढॉचा बनाने मे हमे ऐसे लोगो की आवश्यकता होगी जिन्हे देशी के साथ साथ पाश्चात्य टेक्नोलोजी का भी ज्ञान है। ऐसे कई लोग हमे मिल जाऍगे, जिनकी सहायता से हमे तीव्र गति से नई विज्ञान एव टेक्नोलोजी की सस्थाओं का निर्माण करना होगा और उनका दर्जा वर्तमान आई आई टी के समान ही रखना होगा। अन्य देशो की ऐसी उच्च सस्थाओ जैसे कि अमेरीका की एम आई टी की बराबरी कर सके इस प्रकार का शिक्षण एव शोधकार्य उसमें होना चाहिए। उसमे प्रवेशप्राप्ति के मापदण्ड एव नियम भी वैसे ही प्रतिष्ठित होने चाहिए।

हाल मे हुए शोध के अनुसार १७५० के करीब विश्व के कुल औद्योगिक उत्पादन का लगभग ७३ प्रतिशत उत्पादन भारत एव चीन का मिलाकर होता था। हम यदि उचित ढॉचा निर्मित करते हैं एव लोगो को एक मौका देते है तो आज भी भारत एव चीन अपनी सन् १७५० की स्थिति बहुत ही अल्प समय मे प्राप्त कर लेगे, इसमे कोई सन्देह नहीं है।

* १९९०-९१ में प्रथम लिखा गया, अभी तक अप्रकाशित, १९९९ में कुछ विस्तार से लिखा गया लेख

१८. प्रवाह को मार्ग दें

मित्रो, मै इन सभी बैठको मे उपस्थित रहा हूँ। मै ने इनमे बहुत कुछ सीखा है। परन्तु मुझ पर जिसका गहरा प्रभाव हुआ है। उसी विषय पर मै आप से बात करूँगा। कुछ समय पूर्व मैंने सुना कि अब्दुल समद साहब के एक सभा को सम्बोधित करने के बाद श्रोताओ मे दो व्यक्ति आपस मे चर्चा कर रहे थे। उनमे एक हिन्दू था एव एक मुस्लिम। हिन्दू ने मुस्लिम से पूछा, 'अयोध्या मे हुए विध्वस से आपको गहरा सदमा पहुँचा होगा।' मुस्लिम ने कहा, 'हॉ, परन्तु अल्लाह जो चाहते है, वही होता है। फिर इसी कारण से हम और आप एक दूसरे से बात कर रहे है। नहीं तो हमे बात करने का मौका ही नहीं मिलता है।'

यह कैसा समाज है ? वर्तमान समय के एक बहुत बड़े पत्रकार श्री गिरिलाल जैन ने एक लेख मे लिखा है कि वे स्वय बहुत कम आधुनिक मुस्लिमो को जानते है। पिछले पचास वर्षो मे गिरिलाल जैन लाखो व्यक्तियो से मिले होगे। फिर भी आधुनिक मुस्लिमो की सख्या बहुत ही कम है। आधुनिक ही क्यो, वे रुढिवादी मुस्लिमो से भी नहीं मिले होगे। क्योकि यह तो बहुत ही कठिन बात है।

मुझे लगता है कि गिरिलाल जैन की यह निर्दम्भ स्वीकारोक्ति है।

परन्तु हममे से भी लगभग कोई मुस्लिमो को नहीं जानता है। मुसलमान तो क्या अन्य किसी हिन्दू को भी नहीं जानते है। यहॉ चेन्नई मे हमारा एक अध्ययन समूह है। इस समूह मे विज्ञान, समाजशास्त्र, इत्यादि क्षेत्र के कई तेजस्वी लोग है। भारत के ८ से १० स्थानो पर उनके मित्र एव साथी कार्यकर्ता हैं, परन्तु विभिन्न प्रकार के लोगो को जानने के विषय मे वे भी बहुत सीमित है। उनके सम्पर्क भी अधिकाश रूप मे ब्राह्मणो के साथ ही है। उनका किसानो, कारीगरो या ऐसे अन्य लोगो के साथ कोई सम्पर्क नहीं है। इसी प्रकार मुसलमानो के साथ भी सम्पर्क नहीं है। उन सबका व्यक्तिगत रूप से कोई मुसलमान मित्र हो सकता है, परन्तु इससे ज्यादा और कुछ भी नहीं है। यह बात हम सभी को समानरूप से लागू है।

मै आपके सामने मेरी स्मृति मे बसी एक घटना को प्रस्तुत करूगा। उत्तरप्रदेश मे

अतिरजन खेडा नामक एक स्थान है। यह एक प्राचीन स्थान है। यहॉ लगभग ईसा पूर्व १५०० वर्ष के पुरातात्त्विक अवशेष प्राप्त हुए है। कुछ वर्ष पूर्व मै इस स्थान पर गया था। प्रथम मै कलेक्टर एव अन्य सरकारी अधिकरियो के साथ गया था, फिर अकेला भी गया था। यह स्थान लगभग एक मील लम्बी एव आधा मील चौडी एक पहाड़ी है। एक चौकीदार अकेला उसकी चौकी करता है। मुझे देखकर यह चौकादार पुरानी बाते बताता है। वह किसी पौराणिक युग के राजा की बात बताता है। वह ऐसे समय की बात करता है जब देश मे किसी प्रकार का कर नही लिया जाता था। बाते करते करते वह बोला, 'परन्तु मै अकेला ही हूँ न।' मैने उससे पूछा कि अकेला कैसे ? तब उसने बताया कि 'मै ईसाई हूँ। इस गॉव मे ईसाई का एक ही घर है।'

मुझे लगा, ऐसा क्यों ? यह व्यक्ति पौराणिक विषयो का जानकार है। फिर भी इसे इस गॉव मे अकेले होने का अहसास होता है। स्थानीय लोग उसके साथ कोई सम्बन्ध नहीं रखते है ऐसा बिलकुल भी नहीं है। परन्तु उसे अपनापन नहीं लगता है। लोगो ने उसे स्वीकार करके अपने मे से एक नही माना है। मुझे लगता है कि यह स्थिति सार्वत्रिक है। अलग अलग रूप से हमारा सकोच होता जा रहा है। हम टूटते जा रहे है, बिखरते जा रहे है। हम इस प्रकार के समाज मे रहते है, और इस प्रकार के समाज मे ही अयोध्या जैसे प्रश्नो का उद्भव भी होता है।

समाज के टुकडे होने की स्थिति का निर्माण आज ही हुआ है ऐसा नहीं है। यह स्थिति बहुत समय से चली आ रही है। यह वर्तमान की, या सन् १९४७ के बाद की, या १७५० के बाद की स्थिति भी नहीं है। उससे भी पुरानी है। इस स्थिति का निर्माण मुस्लिम शासन के समयकाल का भी नहीं है। कदाचित यह हिन्दुस्तान के हिन्दू समाज की स्वभावगत समस्या है, हिन्दू विचार, हिन्दू पद्धति, हिन्दू सस्थाओ से उद्भूत समस्या है। अथवा कदाचित अन्य सस्कृतियो के आक्रमण से बचने के लिए हिन्दुओ द्वारा अपनाई गई एक रीति है। कुछ भी हो, परन्तु मै इस स्थिति को समझ पाने मे असमर्थ हूँ।

मै एक अन्य घटना का उल्लेख करता हूँ। लगभग १९६० के आसपास मै कुछ लोगों से मिला था। उनसे मिलकर मै भारत से परिचित हुआ। वह भारत मेरा, हमारा या यहॉ उपस्थित लोगो का भारत नहीं था। मै उस समय ग्वालियर से दिल्ली जा रहा था। मे सुबह दस बजे की गाड़ी से चढा एव मुझे छ घटो की यात्रा तीसरे दर्जे मे करनी थी। गाड़ी मे वहुत भीड थी, परन्तु किसी ने मुझे बैठने के लिये जगह दी। बैठने की जगह देने के लिए कोई नीचे बैठ गया था। वह दस बारह लोगो का समूह था। उसमे तीन चार

स्त्रियाँ थीं और शेष सभी पुरुष थे। मैने उनसे पूछा, 'आप लोग कहाँ से आ रहै है ?' उन्होने बताया कि 'हम लगभग तीन महिनो से यात्रा पर निकले है।' वे सभी रामेश्वरम् तक जाकर वापस आ रहे थे। हम बातचीत करने लगे।

उनके पास छोटी बडी गठरियाँ थी। कुछ मिट्टी के घडे थे। मैंने उनसे पूछा कि 'इन घडो मे क्या है।' उन्होने बताया कि उसमे उनका भोजन का सामान है। वे लोग लखनऊ के उत्तर मे स्थित अलग अलग गाँवो के निवासी थे। घी, आटा,गुड इत्यादि सामान वे अपने साथ लेकर निकले थे। अभी भी बचा हुआ सामान उनके साथ था।

महिलाएँ बैठक पर नहीं परन्तु नीचे बैठी थीं। आने जाने वाले लोगो की ठोकरे भी उन्हे लगती थीं। परन्तु उससे उन्हे कोई परेशानी नहीं थी। परन्तु खाने के सामान के घडे को यदि किसी का पैर छू भी जाए तो उन्हे आपत्ति थी। इसीलिए वे घडे को सम्हाल रही थीं।

हम बाते कर रहे थे। मैने पूछा कि सब एक ही जाति के होगे। उन्होने कहा, 'नहीं, हम एक ही जाति के नहीं है, अलग अलग जाति के है।' मैने सोचा ऐसा कैसे हो सकता है ? उन्होने कहा, 'यात्रा के समय जाति नहीं मानी जाती।' मुझे आश्चर्य हुआ। मैं यह नहीं जानता था। मै ३८ साल का था। मै एव मेरे जैसे अनेक लोग हमारे देश के लोगो के रीतिरिवाजो के विषय मे लगभग कुछ भी नहीं जानते थे।

मैने पूछा, 'आप लोग मद्रास गए थे ? मुबई गए थे ?' उन्होने कहा 'हॉ, हम इन नगरों से गुजरे थे।' 'आपने वहॉ क्या क्या देखा ?' उन्होने कहा, 'कुछ भी देखने के लिये समय ही नहीं था।।' मैने आधुनिक भारत के कई महत्त्वपूर्ण स्थानो के नाम बताए। वे अधिकाश स्थानो से गुजरे थे, परन्तु कहीं भी रुके नहीं थे। मैने पूछा, 'अब आप दिल्ली जाएँगे ?' उन्होने कहा, 'हा' 'आप दिल्ली मे रुकेगे ?' 'नहीं नहीं, हमे तो केवल गाडी ही बदलनी है। हम तो हरिद्वार जा रहे हैं।' मैने कहा, 'दिल्ली तो स्वतन्त्र भारत की राजधानी है। आप उसे नहीं देखेगे ?' उन्होने कहा, 'नहीं, हमारे पास समय नहीं है। फिर कभी देख लेगे, अभी नहीं। अभी तो हमे हरिद्वार जाना है, फिर जल्दी ही घर वापस जाना है।'

हमने लगभग पाँच छह घटे बात की। मै मनमे सोच रहा था, 'इस भारत की चिन्ता कौन करेगा ? हम किस भारत की बात कर रहे है ? हम तो आधुनिक ज्ञानमन्दिरो जैसे विश्वविद्यालयो वाले आधुनिक भव्य भारत की ही चिन्ता करते है। हम ये आधुनिक ज्ञानमन्दिर किसके लिए बनाते है ? इन यात्रियो को उनकी कोई चिन्ता ही नहीं है। परन्तु ये यात्री ही तो भारत के प्रतिनिधि हैं। परन्तु जिस भारत के प्रतिनिधि

जवाहरलाल नेहरू थे उस भारत के प्रतिनिधि ये लोग नहीं है। हम लोग भी जवाहरलाल नहेरू जैसे ही है, इन यात्रियो जैसे नहीं।'

इसी कालखण्ड मे इग्लैड़ की रानी एलिजाबेथ भारत मे आई थीं। उनकी भेट का वर्णन लन्दन के 'दि इकोनोमिस्ट (The Economist)' मे प्रकाशित हुआ था। उसके अनुसार रानी एलिजाबेथ अपने साथ अपना खानसामा एव सीधा सामान इग्लैंड से लेकर आई थीं। वे तो यूरोपीय बन चुके आधुनिक भारतीय स्थानो के ही दर्शन करना चाहती थीं।

मैने सोचा, कितनी समानता है। भारत के लोगो एव रानी एलिजाबेथ का व्यवहार कितना समान है। वे यात्री सचमुच राजसी ठाठवाले थे। बात हिन्दू या मुसलमान की नहीं है, अपने देश की सस्कृति की है। इस विषय मे भारत के हिन्दू, मुसलमान एव इसाई सभी समान है।

भारत के लोगो की दुनिया ही अलग है। हम जिसके विषय मे बात कर रहे है वह भारत उनका भारत नहीं है। हम जिस हिन्दुत्व की बात करते है वह हिन्दुत्व भी उनका हिन्दुत्व नहीं है। उनका हिन्दुत्व एव हमारा हिन्दुत्व एकदम भिन्न है। इसी प्रकार जिस इस्लाम की हम, श्री शाहबुद्दीन या जामा मस्जिद के शाही इमाम बात करते है वह भारत के लोगो का इस्लाम नहीं है। हम अर्थात् भारत के विद्वान एव भारत के लोगो की दुनिया अलग अलग है।

ये शाही इमाम कौन है ? हम उन्हे केवल इमाम कहने के स्थान पर शाही इमाम क्यो कहते है ? कदाचित हम गत कई शताब्दियो के दौरान शाही रीतियो, शाही पद्धतियो एव शाही मिजाज के साथ जुड गये है। परन्तु जनसामान्य की शाही अर्थात् राजसी पद्धतियो से हमारा कोई ताल्लुक नहीं है। हमारा सम्बन्ध विदेशीयत के साथ अधिक है। इसलिये हम सल्तनत, लोदी, मुघल आदि के विषय मे बात करते है। परन्तु वे लोग किस प्रकार के राजा या शासक थे ? उनकी जडे तो हमेशा अस्थिर ही थीं। और फिर वे कभी भी समग्र भारत के शासक नहीं थे। मुझे लगता है कि राष्ट्रीय स्वयसेवक सघ एव भारतीय जनता पार्टी ने मुस्लिम शासको के राज्य के विस्तार के विषय मे बहुत ही अतिशयोक्ति की है। ऐसी बातो के जनक तो यद्यपि इतिहासकार ही हैं परन्तु इतिहासकारो की कोई गणना नहीं करता तो चलता है, सघ एव बी जे पी की गणना करनी ही पडती है।

भारत मे मुस्लिम शासन कैसा था ? उसके आयाम कौन से थे ? मुस्लिम शासन कभी भी आधे भारत से अधिक क्षेत्र मे नहीं था। और फिर उसकी समयावधि

कितनी थी ? लगभग सन् १२०० से १७०० तक। निश्चित रूप से कहा जाय तो सन् १६९० तक, क्योकि औरगजेब के शासन का अन्त सन् १६९० मे हुआ। ब्रिटिश लोग यह भ्रान्ति प्रचारित एव प्रसारित करते रहे कि सन् १८५७ तक दिल्ली मे मुस्लिम शासन था। परन्तु ब्रिटिशो ने आर्कोट के नवाब के विषय मे भी ऐसा ही किया था। आर्कोट का नवाब तो ब्रिटिश छावनी का ताबेदार था। जब वह अग्रेजो से सन् १७४८ मे जुडा तब तो वह केवल १६ वर्ष का था। वह सन् १७९० तक जीवित रहा। उसके बाद उसका पुत्र, अथवा अन्य कोई सम्बन्धी उसका अनुगामी बना। वह १७९९ तक रहा। सन् १७९९ मे कानूनी तौर पर कर्नाटक ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत ले लिया गया तब आर्कोट का नवाब कर्नाटक का नवाब बन गया। परन्तु उसे निष्कासित कर दिया गया। ब्रिटिशरो की यही पद्धति है। वे जो कुछ भी करते है उसे कानून के अनुसार सही होने का स्वरूप देते हैं। हम उसी मे फॅस गए। हमे यह स्वीकार करने मे झटका लगने के स्थान पर आनन्द आता है। राममनोहर लोहिया कहते थे कि यदि जवाहरलाल नहेरू ने कहा होता कि वे स्वय थानेदार के पुत्र है, बडे अमीर उमरावो के नहीं, तो उनके स्वय के लिए एव देश के लिए वह लाभदायक होता। महान उमराव खानदान का होना, उसमे क्या विशेष है ? कुछ हजार मुस्लिम भी अरबो, तुर्कों, अफगानो एव ईरानियो के सीधे वशज है फिर भी उनकी मानसिकता भी जवाहरलाल नहेरू के समान ही है। इन मुस्लिमो ने नहेरू से प्रेरणा ली या नहेरू ने इन मुस्लिमो से यह तो शोध का विषय है।

हम एक सामान्य मनुष्य के वशज है, ऐसा क्यो नहीं कह पाते है। या फिर श्रीराम, श्रीकृष्ण, या अन्य किसी महापुरुष के वशज है ऐसा क्यो कहते है ? यदि ऐसा ही है तो हम सब एक ही पूर्वज के वशज है ऐसा कहना चाहिए। इसके बदले हम समाज को टुकडो मे बॉटते है। एक ओर कुछ लोग है, दूसरी ओर बहुत लोग हैं। यह समूची पद्धति ही क्षतियुक्त है। ऐसा करते है इसीलिए एक बहुत कम लोगो का समूह जो कहता है उसमे समाज के अधिकाश लोगो को कोई रुचि नहीं रहती। समाज मे फिर कोई परिणाम दिखाई नहीं देता है।

गत ४५ वर्षों से भारत मे क्या हो रहा है। कुछ भी नहीं बदला है। मै नहीं कहता कि ४५ वर्ष बिलकुल व्यर्थ ही हो गए है। देखा जाय तो कुछ भी व्यर्थ नहीं होता, परन्तु हमने ४५ वर्ष व्यतीत करने के सिवाय और कुछ नहीं किया है।

जब मै ऐसी बाते करता हूँ, तो लोग कहते है, 'परन्तु हम केन्द्रीकरण को छोड़ भी तो नहीं सकते। हमारे लिए केन्द्रीकरण बहुत ही मूल्यवान है।' हम इस प्रकार कहते हैं जैसे सारी दुनिया केन्द्रीकरण चाहती हो। इसलिए हम उसे कैसे छोड़ सकते है। परन्तु

दुनिया चाहती है इसलिए ही हमे ऐसा क्यो चाहना चाहिए ? यदि केन्द्रीकरण हमे रास नहीं आता है, हमारी क्षमताओ के साथ सगत नहीं है तो हमे उसे हृदय से चिपकाये रखने की क्या आवश्यकता है ? हम यदि पाकिस्तान या बागलादेश के भय के विरुद्ध सुरक्षा हेतु केन्द्रीकरण अपनाते हैं तो वह बिलकुल ही नहीं अपनाना चाहिए।

हमें जिसकी आवश्यकता है, वह हमे सुचारु रूप से प्राप्त हो उस प्रकार की व्यवस्था चाहिए। परन्तु इसके लिए हमारी आवश्यकता क्या है, इसका हमे पता होना चाहिए। इस विषय मे तो हम शरणागत जैसी भूमिका अपनाते हैं। हमारी चिन्ता और किसी के अधीन कर देते है। बीस वर्ष तक हम रशिया की छत्रछाया मे रहे। परन्तु हम यदि यही चाहते थे तो हमे स्पष्ट रूप से कहना भी चाहिए। ऐसा करने पर ही इसे सब लोग जान पाएँगे, और तभी हम शायद सम्मानपूर्वक इस स्थिति से मुक्त भी हो पाएँगे।

ऐसी स्थिति मे राष्ट्र टूटने लगता है। ऐसी स्थिति मे भारत के सामान्य लोगो को नई या पुरानी परेशानिया रहती है। समय समय पर एक या दूसरे कष्ट से मुक्ति प्राप्त करने के लिए वे एकत्रित होते रहते है। उदाहरण के तौर पर पिछले पॉच छ महिनो से आध्रप्रदेश मे शराब के विरोध मे एक आदोलन चल रहा है। यह आदोलन महिलाओ ने किया है। इसमे हजारो महिलाओ ने भाग लिया है। शायद लाखो की सख्या मे भी होगी। भारत की, या फिर आध्रप्रदेश की महिलाएँ एक अनिष्ट के विरोध मे आदोलन करे यह बहुत बडी बात है। आज यदि वे एक विषय पर आदोलन कर सकती है तो कल दूसरे विषय पर करेगी। वे भारत के लिए, भारत के सम्मान के लिए भी अपना योगदान दे सकती है।

लोग अपनी कोई न कोई आतरिक परेशानी आदोलन के माध्यम से व्यक्त करते है। यह बहुत स्वाभाविक घटना है। इस परिप्रेक्ष्य मे मै अयोध्या की इस घटना को देखता हूॅ। हम अयोध्या को किनारे कर सकते है, बाबरी मस्जिद की भी उपेक्षा कर सकते है, हर समय सभी को कुछ करना ही चाहिए, ऐसा तो नहीं है। जैसे कि प्रतिवर्ष लगभग ५० लाख लोग वाराणसी जाते है। उनमे से अधिकाश लोग भगवान विश्वनाथ के दर्शन करते ही होगे, परन्तु विश्वनाथ का दर्शन करते समय उन्हे वहॉ की मस्जिद का ख्याल नहीं आता होगा। जब तक कोई उनसे न कहे तब तक मस्जिद की ओर उनका ध्यान तक नहीं जाता है। क्योकि उसके साथ उनका कोई सबध नहीं है।

हाल में ही कोई कहता था कि तुलसीदासजी के रामचरितमानस मे बाबरी मस्जिद का उल्लेख नहीं है। परन्तु ऐसा उल्लेख क्यो होना चाहिए ? रामचरितमानस अपने समय का कोई दस्तावेज नहीं है। सोलहवीं शताब्दी मे क्या क्या हुआ उसका वर्षवार ब्यौरा देने के

लिए तुलसीदासजीने रामचरितमानस की रचना नहीं की है। वे तो कोई बहुत बड़ी
कहना चाहते है। हमारे मन मे उसका मूल्य कम या ज्यादा हो सकता है प
तुलसीदासजी के मन मे दैनिक घटनाओ की अपेक्षा राम के चरित्र का मूल्य अधिक
इसलिए बाबरी मस्जिद से उन्हे कोई लेना देना न हो यह स्वाभाविक ही है।

इसी प्रकार जो लोग काशी मे विश्वनाथ भगवान के दर्शन के लिए आते हैं
मस्जिद से कोई लेना देना न हो यह स्वाभाविक ही है। परन्तु यदि उनका ध्यान उस
आकर्षित किया जाए तो कुछ हलचल अवश्य होगी। यही बात होती है। समय समय
उनका ध्यान आकर्षित किया जाता है। परन्तु ऐसा ४५ वर्षों में ही हुआ है ऐसा नहीं है
फिर राष्ट्रीय स्वयसेवक सघ अथवा विश्व हिन्दु परिषद अथवा भारतीय जनता पार्टी ने
ध्यान आकर्षित किया हो, ऐसा भी नहीं है। हमारे यहॉ बडी सख्या मे सन्यासी है। वे
देश मे भ्रमण करते है। हमारे देश मे क्या क्या हुआ एव क्या हो रहा है इसकी बातें वे
से कहते है। लोग सुनते है। अधिकाश भूल जाते है, परन्तु उसमे से कभी कोई वि
महत्त्वपूर्ण बन जाता है, अभिनिवेश का मुद्दा बन जाता है।

हम अनुभव करते हैं कि अपमानास्पद तो बहुत कुछ है। हम उसे छिपाने
प्रयास करते है। परन्तु कभी सीमा आ ही जाती है। जब जब ऐसा होता है तब तब
अकेले हो जाते है। सर्व सामान्य जीवन से अलग होकर अधिक से अधिक सिकु
जाते है। व्यक्ति एव समाज दोनों के विषय मे ऐसा ही होता है। हमारे समाज के
बुहत समय से ऐसा ही होता आ रहा है। पिछले डेढसौ वर्षों मे तो इसकी मात्रा बहुत
बढ गई है। विशेष रूप से उत्तर भारत मे तीनसौ चारसौ वर्षों से अपमान सहते सहते
सिकुडते जा रहे हैं। दक्षिण मे ऐसा कम ही हुआ है। परन्तु न भी हुआ हो तो भी
उत्तर मे होता है उसका प्रतिसाद दक्षिण मे उठे बिना कैसे रह सकता है।

जब ऐसे अपमान का भाव पबल हो जाए एव उस अपमान का निमित्त कोई
ढॉचा, कोई एक भूतकाल का अवशेष है ऐसा लगे तो फिर कोई उसे रोक नहीं सक
सन् १९४७ मे हम स्वतन्त्र हुए हैं उसकी परीक्षा क्या है ? मै एक कारीगर, ग्रामवा
चमार या अन्य कोई हू तो मुझे कैसे पता चलेगा कि मै स्वतन्त्र हूँ ? कहो
स्वतन्त्रता ? क्या मेरी बात हो रही है ? मेरी बात सुनी जाती है ? क्या कलेक्टर
साथ समानता का व्यवहार करता है ? क्या आयोजन पच का सदस्य मेरे साथ समान
के स्तर पर बात करता है ? मैं केवल आज के ही आयोजन पच के सदस्यो की बात
रहा हूँ। वे सब तो सीधे स्वतन्त्रता आदोलन में से ही पैदा हुए थे जिसमे सामान्य ल
का बहुत योगदान था। वे भी सामान्य लोगो के साथ समानता से बात नहीं करते थे

भी सामान्य लोगो के प्रति तिरस्कार का भाव रख कर बात करते थे।

फिर सर्व सामान्य व्यक्ति क्या करे ? उसे एक स्वतन्त्र देश मे रहने की अनुमति कैसे हो ? उसका कुछ तो मापदड होगा ही। फिर लोग रोटी, कपड़ा एव मकान की आवश्यकताएँ पूरी नहीं की जाती है ऐसा कहेगे। यह सब सही हो या न हो परन्तु किसी न किसी रूप मे उनकी सवेदनाएँ, अपना बोध व्यक्त करने के लिए मार्ग ढूढ ही लेगी।

भारतीय किसान के बारे मे सन् १७७० मे लिखी हुई टिप्पणी है। उस समय के कोलकाता उच्च न्यायालय के एक ला मेइस्त्रे नामक न्यायाधीश द्वारा लिखी हुई वह टिप्पणी है। एक भारतीय किसान, उस पर लम्बे अरसे से क्या बीती है उसकी अभिव्यक्ति किस प्रकार करता है उस विषय पर टिप्पणी है। शुरुआत मे उसका किराया कम था, वह बढने लगा एव बढते बढते दस गुना हो गया। इसी प्रकार वह अन्य दुर्भाग्यपूर्ण बातो के बारे मे भी बताता है। परन्तु अत मे कहता है कि एक दिन ऐसा आएगा जब इन सारे दु खो का अत हो जाएगा।

अर्थात् हमारे देश के लोग ऐसे हैं। ये लोग ऐसे दिन की प्रतीक्षा मे होते है जब ये विदेशी ढॉचे नष्ट हो जाएँगे। उनका ध्यान अयोध्या की ओर या वाराणसी की ओर या उन ३००० मस्जिदो की ओर आकर्षित किया जाता है जो मेरे मित्र सीताराम गोयल के कथनानुसार मदिरो को तोड़कर बनाई गई है। एक समय ऐसा आता है जब लोग कहते है, 'हमे इस विषय मे कुछ करना चाहिए।' यो तो भारत के लोग बहुत ढीले है, बहुत आलसी है, फिर भी हलचल पैदा होती है एव लोग कुछ करने के लिए तैयार होते है।

इसलिए एक बार वे ऐसे स्थान पर जाते है। खास कुछ होता नहीं है। केवल धार्मिक उत्सव होता है। धार्मिक कार्यक्रम होते है। वे दूसरे वर्ष, तीसरे वर्ष, एव वर्षों वर्ष जाते है। परन्तु खास कुछ नहीं होता है। लोग कहने लगते है कि ये जो लोग हमे यहॉ भेजते हैं वे हमारे साथ खेल खेलते है। उन्हे कुछ करना नहीं है। सन् १९७७-७८ मे भी लोग ऐसा ही कहते थे। उस समय दिल्ली मे जनता पार्टी की सरकार बनी तब लोग बहुत खुश हुए थे, परन्तु एक वर्ष बीतने से पहले ही वे कहने लगे थे कि इदिरा गाधी वापस आ जाएँ तो अच्छा। और डेढ वर्ष मे इन्दिरा गाधी वापस आ भी गई थीं।

हो सकता है कि ६ दिसम्बर १९९२ के दिन भारत के प्रधानमन्त्रीने या भारतीय पुलिस दल ने या भारतीय सेनाने या भारतीय जनता पार्टी, विश्व हिन्दु परिषद एव राष्ट्रीय स्वयसेवक सघ ने या बजरग दल ने या शिवसेना ने या सभी ने या कुछ लोगो ने मिलकर यह षड़यत्र रचा हो। परन्तु यह वास्तविकता है कि इनमे से कोई भी एक सगठन अकेले दम पर यह नहीं कर सकता है। ऐसा करने की कल्पना भी नहीं कर सकता है। क्योकि

विश्व हिन्दु परिषद और भारतीय जनता पार्टी तो अयोध्या का मसला नहीं चाहते थे, वे तो उसे ऐसे ही चालू रखना चाहते थे। उन्हे तो सालो सा भव्य तमाशा करना ही था। क्योकि हम ऐसे तमाशो के आधार पर ही जीते है ाकिस्तान ४५ सालो से धमकी दे रहा है। हम उस पर ही अपना गुजारा कर रहे एक सकट से दूसरे सकट मे ही जाते रहते है और उस मुद्दे को दोहराते रहते है भारत के लोगो के लिए सचमुच कुछ करने से बचा जा सके।

अत ऐसे ही चलता रहता। मुझे विश्वास है कि भारतीय इस मुद्दे को कुछ वर्षो तक इसी प्रकार जीवित रखती। मै यह नहीं कहता कि श्री अड़वाणी या ऐसे ही किसी अन्य व्यक्ति की यह व्यक्तिगत इच्छा होगी। पक्ष के रूप मे ऐसा इरादा हो सकता है। कॉग्रेस भी वर्षो से एक या दूसरे मुद्दो तमाशा करती ही आई है। भारतीय जनता पार्टी भी कोग्रेस, जनता दल या क्षी दलो से भिन्न नहीं है। सभी समान ही है। यहॉ तक कि स्वय को नेता कहनेवाले देवीलाल भी ऐसा ही व्यवहार करते है।

परन्तु षड़यत्र के परिणाम स्वरूप हो या लोगो की के परिणाम स्वरूप परन्तु एक ढॉचा टूटा। लोगो ने उसे नष्ट कर दिया। टूट गया एव दूसरे दिन मैंने उसकी खबर सुनी तब मैने चैन की सास ली। यहॉ लोगो को भी ऐसा ही लगा होगा। यहॉ बैठे कुछ लोग तो भारतीय जनता पार्टी स्वयसेवक सघ से प्रभावित होगे, असाप्रदायिक लोग भी होगे। परन्तु उन्होने सास ली होगी। किसी बहुत बीमार व्यक्ति का लबी बीमारी के बाद निधन तब जिस प्रकार राहत का भाव उत्पन्न होता है उस राहत के भाव की बात हूँ। खेद, खुशी, एव क्रोध ये तीनो मनोभावो का अनुभव एक साथ होता है स्थिति की बात मै कर रहा हूँ।

बाद में तो प्रत्येक को अपने अपने मोर्चे को सार्वजनिक कथितो मे दृष्टिकोण निश्चित करना था। फिर दगल भी हुए। भी हुई। पुलिस के अत्याचार भी हुए। हमारे पुलिस दल पर भी हद से ७ । इस लिए सहायता के लिए सेना को भी आना पडता है। हमारे पास पुलिस मात्रा मे नहीं है। ब्रिटन एव अमेरिका की अपेक्षा प्रति हजार पर हमारे सख्या बहुत कम है। इसलिए देश मे अलग अलग तीन सौ से चार सौ सेना की व्यवस्था करनी पडी। दगल, पुलिस कार्रवाई और पुलिस के लोग मारे गए। कुछ हजार लोग मृत्यु को प्राप्त हुए।

प॒ कल्पना कीजिए कि ढॉचा नहीं टूटा होता तो क्या होता ? तो देशभर मे जो हताशा लहर फैल गई होती वह असहनीय हो जाती। उसके परिणाम स्वरूप जो स्थिति बन उसे भी कोई नियत्रित नहीं कर पाता। जवाहरलाल नेहरू या इन्दिरा गाधी जैसे अडि क्तित्ववाले लोग जीवित होते तो भी यह सभव नहीं था। जवाहरलाल नेहरू तो स ९४९ मे जब अयोध्या मे मूर्तियो की स्थापना की गई तब भी कुछ नहीं कर पाए थे ।ायद कुछ करना ही नहीं चाहते थे क्योकि वे लोगो का मूड़ जानते थे।

राज नेता को तो लोगो का मूड परख कर ही चलना पडता है। लोगो को जो स्वीकार्य । प्राप्त परिस्थिति मे जो सम्भव है वही राजकीय नेता को करना पड़ता है। स्टालिन कोई तानाशाह शायद लोगो की इच्छा से अलग कुछ कर सके। परन्तु ऐसा भी नहीं है। क्यो कि स्टालिन ने जो कुछ किया वह भी ध्वस्त हो गया। फिर भी स्टालिन या एव रशियन लोगो के लिए कुछ न कुछ तो किया ही होगा। परन्तु हम इतना भी र सकते क्योकि हम स्टालिन नहीं है। हम यूरोपीय भी नहीं हैं। हम भारतीय हैं। इ हम आलसी है। हम थोड़ा सा भी कुछ करने के बाद आराम की इच्छा रखते हैस्टालिन जैसा नहीं कर सकते। हम लोगो को रौद नहीं सकते।

इसीलि हता हूँ कि उस दिन बाबरी मस्जिद का ढॉचा टूटा यह भारत के लिए अच्छा थ ा परिणाम भले ही कुछ भी हो। यद्यपि उसके बाद इतने लोग मारे गए यह अच्छा ुआ। परन्तु भारत मे इसी तरह लोग मारे जाते है। ऐसा खून खराबा केवल ि मुस्लिमो के बीच ही होता है, ऐसा भी नहीं है। इसके अतिरिक्त भी अनेक प्रका रकाट चलती ही रहती है। ऐसी निरतर मारकाट १९४७ के बाद से ही नहीं हो है। उन्नीसवीं शताब्दी मे जो कत्लेआम हुआ वह तो और भयानक है। तरहवीं एव उन्नीसवीं शताब्दी मे भूखमरी के कारण जो मृत्यु हुई उसकी तुलना ो के साथ हो ही नहीं सकती। आज हम जो अन्न, वस्त्र एव आवास की स जूझ रहे है वह अठारहवीं एव उन्नीसवीं शताब्दी की तुलना मे कुछ भी नहीं है

अयोध्य ना ने हमे अपनी समस्याओ के बारे मे सोचने पर विवश कर दिया है। अयोध् सके बाद घटी हुई घटनाओ के बारे मे बहुत बोला एव लिखा गया है। असख्य उसकी चर्चा हुई है। अलग अलग भूमिकाएँ ली जाती रही है। पुरानी भूमिकाअ व आया है। इस प्रकार की तरह तरह की भूमिकाएँ ली जाती रहेगी एव चर्चाएँ। हम एक मुद्दे को छोड़कर दूसरा पकड़ लेगे तो इसमे कोई आश्चर्य की बात।

यद्यपि यह भी सभव है कि हम इसी मुद्दे पर लगे रहे। तब अयोध्या मे मदिर बन जाएगा और अडवानीजी के प्रस्ताव के अनुसार सभी विवादो का अत हो जाएगा। अड़वानीजी ने कहा है कि यदि मुस्लिम अयोध्या मे मदिर बनाने की बात पर सहमत हो जाते हैं तो सभी विवादो का अत हो जाएगा। अड़वानीजी ने जब ऐसा कहा था तब मै वहॉ उपस्थित था। उस समय ढॉचा नहीं टूटा था, इसलिए अड़वानीजी ने कहा कि मुस्लिम यदि मस्जिद दूसरी जगह ले जाएँ तो वे स्वय पार्टी को तथा साथी कार्यकर्ताओ को मथुरा एव वाराणसी का मुद्दा छोड देने के लिए समझाएँगे।

अड़वानीजी का कथन सुनकर मुझे उस समय भी आश्चर्य हुआ था। राजकीय पक्ष के नेता के रूप मे उन्हे ऐसा कहने की कभी कभी आवश्यकता पड भी सकती है, परन्तु जिस समय उन्होने यह कहा था तब तो ऐसी कोई स्फोटक परिस्थिति का निर्माण नहीं हुआ था। उस समय दिल्ली मे हिमाचल भवन मे वे किन्ही दो पुस्तको का लोकार्पण कर रहे थे। वह कोई आपातकालीन स्थिति का समय नहीं था। फिर भी उन्होने ऐसा कहा था। किसी ने ऐसा भी कहा था कि काशी, मथुरा एव अयोध्या के तीन मदिर बहुत है। और लोगो ने और प्रस्ताव रखे थे।

परन्तु ऐसे विषयो मे कोई कैसे कुछ भी निर्णय कर सकता है ? कोई किस प्रकार कह सकता है कि अमुक मदिरो का ध्वस नहीं किया जाएगा ? हमारे देश मे प्राचीन से लेकर वर्तमान समय के असख्य चर्च एव असख्य मदिर है। मदिरो का तो कोई मालिक भी नहीं है। उन चर्चो एव मदिरो का विध्वस नहीं होगा इसकी जिम्मेदारी कौन ले सकता है। ये मदिर एव गिरजाघर कोई सास्कृतिक या शैक्षिणक गतिविधियो के केन्द्र भी नहीं हैं। फिर भी उनके विषय मे कौन कुछ भी निश्चयात्मक रूप से कह या कर सकता है ?

कुछ दिन पूर्व मै उत्तर प्रदेश की जनगणना के आकड़े देख रहा था। उत्तरप्रदेश मे केवल डेढ लाख ईसाई है। उत्तरप्रदेश मे ५८ से ६० जिले है। इसलिए जिलो के आधार पर औसतन तीन से चार हजार ईसाइयो की जनसख्या मानी जा सकती है। परन्तु प्रत्येक जिले मे चर्च एव ईसाई शिक्षा सस्थाओ का अनुपात बहुत अधिक है। इन सभी चर्चों एव शिक्षा सस्थाओ को सुरक्षा प्रदान करनेवाला लगभग कोई नहीं है।

यही बात अनेक स्थानो पर हिन्दू मदिरो के सम्बन्ध मे भी सही है। कई मदिरो मे तो कोई जाता भी नहीं होगा। ऐसे मदिरो को हम क्यो सम्हाल कर रखते है। हम तो पाकिस्तान मे भी हिन्दू मदिर चाहिए ऐसा कहते हैं। क्यो ? किस लिए ? सिध को छोड़कर वहॉ कोई हिन्दू नहीं है। जिस विषय मे किसी को रुचि नहीं है ऐसी बातो को सम्हाल कर रखने मे क्या स्वारस्य है ? विवेकपूर्ण ढग से ऐसे प्रश्नो के सम्बन्ध मे सोचा

जा सकता है। कोई नीति की रचना हो ऐसा कोई कानून हमे निर्माण करने की आवश्यकता है। अतत हमे विवेकपूर्ण रूप से रहनेवाले रईस बनने की ही जरुरत है, जिससे हमारे आसपास के स्थानो एव घटनाओ के साथ हमारा विवेकपूर्ण सबध भी स्थापित हो।

हम इस प्रकार के एक केन्द्रित चित्र का निर्माण किस लिए करते है ? एक केन्द्रीकृत मुस्लिम एव एक केन्द्रीकृत हिन्दू कौन है ? क्या उनके अन्य कोई सम्बन्धक्षेत्र ही नहीं है ? क्या हिन्दू की पहचान एक हिन्दू के अलावा और कुछ नहीं है ? वह हिन्दू होने के साथसाथ अन्य भी बहुत कुछ है। वह एक नागरिक है। वह एक जाति का अग है, वह एक व्यवसायी है एव व्यवसाय अर्थात् केवल विज्ञान, तन्त्रज्ञान, या अन्य विषयो का सैद्धातिक ज्ञान नहीं है। वह बढई (मिस्त्री), मोची, लुहार या अन्य बहुत कुछ हो सकता है। इसी प्रकार मुस्लिम भी एक मुस्लिम होने के साथ साथ बहुत कुछ है। हम लोगो को इस प्रकार सकुचित बाड़े मे क्यो बाध देते है ? हम उनकी सीमित पहचान को ही क्यो आगे रखते है ?

मुझे लगता है कि हमारा समग्र दृष्टिकोण बदलने की आवश्यकता है। यदि अयोध्या इस परिवर्तन का प्रतीक है तो उसका स्वागत है। विश्व हिन्दु परिषद, या उनके विरोधी नेता, या समाचार पत्रो के सपादक को क्या चाहिए इस का कोई महत्त्व नहीं है। वे सब तो आनेवाले दस वर्षों के कालखण्ड मे प्रभावहीन हो जाएँगे। वे सब तो ब्रिटिश राज्य के अवशेष हैं, बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ मे जन्मे हुए लोग है। इस शताब्दी के अत तक उनका भी अत हो जाएगा। इसलिए उनका महत्त्व नहीं है। युवा पीढी का, स्वतन्त्रताप्राप्ति के बाद जन्मी पीढी का ही महत्त्व है।

आज हम दुनिया से कितना डरते हैं। किसलिए ? दुनिया तो हमेशा से ऐसी ही है। दुनिया हमेशा हिसापूर्ण होती है। हमेशा उसका अपना एक स्वार्थ होता है। उसे किसी की भी सेवा नहीं करनी होती है। हमे यूरोप के द्वारा दुनिया को सभ्य बनाने के मिशन का अनुभव है। यूरोप का एक मिशन था। इसलिए उसने दुनिया जीतकर उसका चेहरा बदलने का प्रयास किया। पर यह सब चलता ही रहेगा। पुन पुन इस प्रकार के प्रयास होगे। कभी वे उसे पर्यावरण का नाम देगे, कभी मानव अधिकार का, कभी और कुछ।

इस्लाम भी हमेशा युद्धरत ही रहा है। सातवीं शताब्दी मे हजरत मुहम्मद पयगबर की मृत्यु के बाद तुरत ही इस्लाम ने दुनिया जीतने का आरभ किया। ५० वर्षों में वह पश्चिम मे स्पेन एव पूर्व मे सिध तक पहुँच गया। परन्तु यह व्यापक विश्वविजय उसे

आधुनिकता के माध्यम से प्राप्त नहीं हुई थी, या फिर टेक्नोलोजी की बडी बडी सस्थाओ मे उत्पन्न आधुनिक टेक्नोलोजी के माध्यम से भी प्राप्त नहीं हुई थी, या फिर आधुनिक वैज्ञानिक आविष्कारो के माध्यम से भी प्राप्त नहीं हुई थी। विजय तो केवल इच्छाशक्ति, सकल्प एव उत्साह के बल पर ही प्राप्त हुई थी। ऐसा अभी भी हो सकता है, परन्तु जिन लोगो ने इस विजय को सपन्न किया उन्हे कोई बहुत बड़ा भौतिक लाभ हुआ ऐसा भी नहीं है। यूरोप ने भी जब विजययात्रा प्रारम्भ की तब जिन देशो को उसने जीता उनकी अपेक्षा विशेष कुछ भी यूरोप के पास अधिक नहीं था। यही स्थिति इस्लाम की भी थी।

आज विश्व मे ऐसे लोग है जिनके पास यत्र एव साधन विपुल मात्रा मे है। उनके पास महॅगी वस्तुऍ है, उनका जीवन स्तर बहुत ऊॅचा है। परन्तु वह कोई मुद्दा नहीं है। मुद्दा यह है कि हमारा उत्साह कैसा है। हम क्या चाहते है ? हम अपनापन चाहते है ? क्या भारतीय के रूप मे हमारी कोई खास बात है ? यदि हममे एक भारतीय के रूप मे कोई खास बात नहीं है तो हमे यह सब छोड़ देना चाहिए, क्योंकि जिसका अपना कुछ नहीं होता है एव जो नेताओ के पीछे भेड बकरियो के समान ही दौड़ना चाहते है उनके लिए यह दुनिया नहीं है।

मुझे हमारे विषय मे आश्चर्य होता है। भारतीय पहचान एव भारतीय समझ को प्रस्थापित करने के प्रयासो के प्रति हमारी जो प्रतिक्रिया है उसे देखकर। सामान्य लोग तो अज्ञानी होते हैं, वे एहसास एव उत्तेजना के वश मे जल्दी आ जाते है, परन्तु जब भारतीय अस्मिता पर आघात होने का प्रसग आया तब महात्मा गाधी ने भी ऐसा ही प्रतिभाव दिया। (मुझे लगता है कि अभी दस या बीस वर्ष तक महात्मा गॉधी का नाम लेना हमे बद कर देना चाहिए) सन् १९२४ या २५ मे गुलबर्गा मे एक मदिर का विध्वस किया गया था। उसके बाद चार पॉच मास मे ही गाधीजी का प्रतिभाव आया। दो वर्ष बाद वे गुलबर्गा गए। वहॉ उन्होने इस घटना के सम्बन्ध मे प्रवचन दिया। 'सम्पूर्ण गाधी वाङ्मय' मे डेढ पृष्ठ का यह प्रवचन दिया गया है। उसमे से एक परिच्छेद मै आपके समक्ष पढकर सुनाता हूॅ। 'मैं आपके समक्ष अपनी व्यथा पेश करना चाहता हूॅ, परन्तु मुझे पता है कि वह एक प्रकार से 'अरण्यरुदन' होगा। इसलिए मैं रोज सुबह भगवान से प्रार्थना करता हू, 'भगवान हमे इस दावानल से बचाओ।'परन्तु एक आस्तिक एव सत्याग्रही हिन्दू होकर यदि मैं अपने अन्दर के भावो को आपके समक्ष व्यक्त नहीं करुगॉ तो वह सही नहीं होगा। मैं मदिर मे गया तब मुझे हटाई गई मूर्ति एव नष्ट किए गए नन्दी का स्थान दिखाया गया। मुझे यह देखकर बहुत दु ख हुआ। आप मुझे मूर्तिपूजक कह सकते

है। मै सर्वत्र सभी मे ईश्वर को देखता हूॅ। परन्तु मदिर तोडने की क्रिया को भगवान कभी योग्य नहीं मानेगे। जब मै यरवडा जेल मे था तब मैने मौलाना शिबली का 'लाइफ ऑव ए प्रोफेट-पयगबर का जीवन' पढा। मैने 'अस्व-ए- सहावा' भी पढा। इसके बाद ही मै कहता हूॅ कि यह कृत्य करनेवाले ने बहुत ही गलत किया है। इस्लाम कभी भी इस बात की अनुमति नहीं देता है। इन लोगो ने भगवान का तथा मनुष्य का अपराध किया है।'

महात्मा गाधी जैसे सयमी, मितभाषी व्यक्ति यदि इस प्रकार कहते है तो सामान्य आदमी को तो क्या लगता होगा यह समझ मे आने वाली बात है। कोई यदि कहता है कि महात्मा गाधी तो दो वर्ष पूर्व ही घटी हुई घटना के विषय मे कह रहे थे जबकि ये लोग तो पाच सौ वर्ष पूर्व घटित घटना के विषय मे इतने उग्र बने है। परन्तु लोग यदि इस भाव का एहसास करते है तो दो वर्ष हो या पाच सौ कोई अन्तर नहीं पड़ता है। मनुष्य स्वभाव ही ऐसा है। बात नई हो या पुरानी, हृदय को छू जाए तो वह स्वाभाविक ही लगती है। हमे मनुष्य को मनुष्य के रूप मे ही अपनाना चाहिए। लोग देवता नहीं है, सन्यासी नहीं है, वे सामान्य गृहस्थ है। वे अतार्किक या तार्किक हो सकते है, क्रोधी या शात हो सकते है, निष्क्रिय या सक्रिय हो सकते है। विविध प्रकार से उनकी उत्तेजना व्यक्त हो सकती है, एव उफान का शमन हो जाने पर वे शात भी हो सकते है।

यदि राष्ट्रपति भवन, ससद भवन, आयोजनपच का भवन इत्यादि का ध्वस हो जाए तो हमारा प्रतिभाव कैसा होगा ? एक दिन यह भी होनेवाला है। और इसमे बहुत समय नहीं लगेगा। कदाचित् ५० वर्ष लगेगे। तुगलखाबाद का ध्वस हुआ है, अन्य कई स्थान भी नष्ट हुए ही है। उसी प्रकार ब्रिटिश ढॉचो का भी एक दिन ध्वस होगा।

समाज मे यह सब होता ही है। और होना भी चाहिए। नहीं तो हमारी सस्थाओ, व्यवस्थाओ और हमारी सवेदनाओ का अगडखगड नष्ट ही नहीं होगा। वास्तविक रूप से तो इस प्रकार के कचरे को दूर करके सफाई करना भी एक बड़ा काम है। हम तो सैकडो वर्षो से कचरा इकट्ठा करते चले आ रहे है। इतिहास मे अतिम सफाई की प्रक्रिया महाभारत के युद्ध के समय मे हुई थी। उस समय देवताओ ने ही सफाई का कार्यक्रम बनाया था।

जब तक ऐसी सफाई नहीं होगी, हमारा ठिकाना नहीं बैठेगा। हमारा जीवन तो जैसे चलता है वैसे ही चलता रहेगा, परन्तु हमारा बहाव रुक सा गया है। कदाचित पॉच दस लाख परिवार अच्छा जीवन जीते होगे। परन्तु यह तो इग्लैंड़, अमेरिका या यूरोप मे जीने जैसा होगा। ऐसे लोगो के पास सत्ता होगी, अधिकार होगे। भारत मे लगभग पचास हजार अधिकारी हैं, शायद उससे दुगुने होगे जो आसपास के लोगो को आदेश दे सकते

है। इस तरह देश तो चलता ही रहेगा।

परतु यदि इसी तरह चलने देना है, तो हमे कहना पड़ेगा कि देश के ८० करोड लोगो का कोई मूल्य ही नहीं है। उन सभी को नष्ट कर दो। जिस प्रकार यूरोप के लोग इन ८० करोड़ लोगो के नाश के लिए जिम्मेदार थे, उसी प्रकार हम भी है, यह कबूल कीजिए। यूरोपने तो प्रजा के कल्याण एव प्रजा के नाश की जिम्मेदारी ली थी। आज भी वह अन्य देशो मे इसी प्रकार करता है। यूरोप तो अपने यहाँ भी इसी प्रकार करता है। यूरोप ने क्रूरतापूर्ण आचरण केवल बाहर ही नहीं स्वय के देश मे भी किया है, और वह भी प्लेटो के जमाने से या शायद उससे भी पहले से। हमारे मन मे यूरोप का जो मोहक चित्र है वह सच नहीं है। जवाहरलाल नेहरू को ऐसा मोह हुआ होगा, महात्मा गाधी को नहीं हुआ था। महात्मा गाधी ने शायद अन्य विषयो मे भूल की होगी परन्तु इस विषय मे नहीं की है।

हमे और स्पष्ट होना चाहिये। क्या हमे यूरोपीय समाज चाहिए ? हम वह समाज भारत के सर पर थोपना चाहते है ? हममे ऐसी ताकत है ? मुझे लगता है कि नहीं है। हम आरामप्रिय एव निष्क्रिय लोग है। हम यह सब नहीं कर सकते हैं। इसलिए हमे अपने आप को ही समझाना पडेगा। हमारे लोग क्या कर सकते है, एव क्या सम्हाल सकते है यह समझने की आवश्यकता है। लोग असभव बातो का बोझ उठाकर नहीं चल सकते हैं। आज तक हम लोगो के सिर पर ऐसी बातो का बोझ डालते ही रहै है।

मुझे लगता है कि शराब के विरोध मे आदोलन करनेवाली आध्रप्रदेश की महिलाएँ, ६ दिसम्बर १९९२ के दिन अयोध्या मे एकत्रित लोग एव ऐसे ही कुछ मुद्दो को लेकर आदोलन करनेवाले अन्य लोग कुछ विशेष सकेत कर रहे है। यदि यह सब उनकी अतरात्मा मे स्थित भावो का आविष्कार है-भले ही वह तार्किक है या नहीं-तो हमे जानना चाहिए कि हम कुछ अलग प्रकार के ही राज्यतन्त्र की ओर जा रहे है एव ठीक हो रहे हैं। यदि ऐसा नहीं है तो अभी भी हम इसी प्रकार से टकराते ही रहेगे।

चर्चा

लोगो का समूहीकरण एव केन्द्रीकृत राज्य

राधा राजन आपके वार्तालाप ने बहुत ही अस्वस्थता उत्पन्न कर दी है। प्रथम तो आप केन्द्रीकरण के हिमायती नहीं हैं ऐसा लगता है। आपने उसके विकल्प के विषय में अवश्य सोचा होगा। वह विकल्प कौन सा है ?

दूसरा, आप सस्थाओ एव सार्वजनिक स्थानो को हमारी विवेक बुद्धि पर आघात करनेवाला मानते हो ऐसा लगता है। इसलिए अयोध्या मे हुए बाबरी ढॉचे के ध्वस को उचित मानते है। हमारे सार्वजनिक जीवन की उलझनो को सर्जित करने मे ढॉचे का भी हिस्सा था इसलिए कभी न कभी तो उसे गिरना ही था, ऐसा आप मानते है। परन्तु क्या अनिष्ट है एव क्या नहीं है, क्या सुदर है एव क्या नहीं है, क्या आघात करनेवाला है एव क्या नहीं है-इस विषय मे लोगो एव समूहो के अभिमत अलग अलग होते है। ऐसे समूहो को जो अच्छा नहीं लगता है - फिर वह राष्ट्रपतिभवन हो या आयोजनपच का भवन,या मथुरा और काशी की मस्जिदे - लोग यदि उन्हे केवल स्वयको पसद नहीं है इसलिये ध्वस्त करते रहेगे तो उसका तो कहीं अत ही नहीं होगा। हम इस विषय मे निर्णय किस प्रकार करेगे ? कितने ढॉचे एव कितने सस्थानो को हम नष्ट करेगे ? और हम कब रुकेगे ?

धर्मपाल हम किस केन्द्रीकरण की बात कर रहे है यह मै नहीं समझ पा रहा हूँ। ब्रिटिशरो से हमे केन्द्रीकृत व्यवस्था का ढॉचा मिला है। हमने उसे छाती से लगाकर रखा है। वह तो छिन्न विच्छिन्न होनेवाला ढॉचा था। वह तो १९०० मे ही चरमरा गया था। ब्रिटिशर ही ऐसा कहते थे। वह बिलकुल अनुपयोगी था। उन्होने यहॉ वहॉ मरम्मत करके उसे ठीक करने का प्रयास किया था। परन्तु वे सुधार प्रभावक नहीं थे।

हमे ऐसा ही चरमरा गया ढॉचा विरासत मे मिला है। हमने भी अपनी पद्धति से उसकी कोरो को सीने का प्रयास किया है। हमने उसे ठीक करने के लिए विशेषज्ञ लोगो की सहायता ली है। ऐसे विशेषज्ञ सन् १९४८ मे ही दुनिया के भिन्न भिन्न भागो से हमे प्राप्त हुए है। उन्होने हमे अलग अलग योजनाएँ दी है। सन् १९२० से हमारे पास सिचाइ, उत्पादन, यत्रनिर्मिति, एव तन्त्रशिक्षण की पुरानी योजनाएँ भी थीं। उन योजानाओ को झाड पोछकर हमने भाखरा नगल बॉध एव आई आई टी जैसे सस्थान बनाए। हमे ऐसी योजनाओ पर गर्व भी है।

परन्तु ऐसा अस्थाई ब्रिटिश ढॉचा, दुनिया के विशेषज्ञो के तरह तरह के परामर्श एव सुझाव, भूले हुए समय एव स्थान मे समायोजित न होनेवाले ढॉचे-ये सब केन्द्रीकृत राज्यतन्त्र का अग नहीं है। केन्द्रीकृत व्यवस्था के नाम पर हम तो ब्रिटिश साम्राज्य के अवशेषों को अपनाते हैं। उस का कुछ भाग ब्रिटिशरो ने उनसे पूर्व के दिल्ली के शासको से प्राप्त किया था। या वे ऐसा कहते थे कि यह तो आपने अपना ही अपनाया है। ऐसे अवशेष चलते नहीं हैं। ऐसे अवशेष केन्द्रीकृत व्यवस्था का भाग नहीं हो सकते हैं।

यदि हमे आवश्यकता है तो हमे अपना केन्द्रीकृत ढॉचा बनाना चाहिये। परन्तु

हमने ऐसा नहीं किया। हमने सस्थानो या व्यवस्था के नियमो या कानून के विषय मे कुछ नहीं किया। हमारे पास सरकारी व्यवस्था के अलग अलग विभाग, पुलिस स्टेशन, कोष, भिन्न भिन्न कचहरियो की व्यवस्था के लिए ब्रिटिशो द्वारा निर्मित लगभग ३०० कार्यनिर्देशिकाएँ है। उनमें से अधिकाश नियम एव नियमन सन् १७७० से १८३० के कालखण्ड मे राजस्व विभाग, लश्कर विभाग एव अन्य विभागो मे बनाए गए थे। बाद में उनमे थोडा बहुत सुधार करके इन कार्यनिर्देशिकाओ मे शामिल कर दिए गए थे। हमारा सविधान भी ब्रिटिश कायदे कानून के आधार पर ही बनाया गया। इतना ही नहीं मूल ब्रिटिश कानूनपोथी मे दुनिया के अन्य सविधानो से भी कुछ ब्यौरे शामिल किए गए थे।

आपकी दूसरी चिता यह है कि अलग अलग समूह यदि मनस्वी व्यवहार करते है तो क्या होगा। परतु भारत के लोग जब उनकी जाति, उनके रिहायशी इलाके, उनके व्यवसाय आदि को केन्द्र मे रखकर समूह बनाते है तब अपनी स्वय की मरजी के अनुसार ही रहते भी हैं। हम उन्हे रहने का तरीका सिखानेवाले होते कौन है ?

मै पॉच-छह वर्ष पूर्व मुरादाबाद में एक पार्टी मे गया था। वहॉ डीआईजी एव एसएसपी कक्षा के पुलिस अफसर भी थे। लगभग होली के आसपास का समय था। ये पुलिस अफसर किसी मुस्लिम इलाके के लोगो की बात कर रहे थे। उन्होने कहा कि इस मुस्लिम इलाके एव मुरादाबाद के आसपास के गॉवो के लोग कहते थे कि दूरदर्शन ने हमारे जीवन पर आक्रमण किया है, उससे उनके बच्चे बिगड़ रहे हैं, समाज पर बहुत बुरा प्रभाव पड रहा है। इन पुलिस अफसरो को लगता था कि मुस्लिम इस प्रकार की शिकायत कैसे कर सकते है ? वे यह तो मानते थे कि दूरदर्शन सचमुच बुरी चीज है, परन्तु उनका कहना था कि मुस्लिमों को इस विषय मे शिकायत करने का अधिकार ही नहीं है। मुस्लिम अपने बच्चो को दूरदर्शन देखने से रोके यह तो नामुमकीन है। हॉ, वे स्वय अपने अधिकार का उपयोग कर, मुस्लिमो का पक्ष लेकर दूरदर्शन के विरोध मे कदम उठा सकते है।

इसे क्या कहा जाए ? हमे अपने ज्ञान एव अपनी बुद्धि के विषय मे सोचने की आवश्यकता है। इस देश को कौन चलाएगा ? सर्व सामान्य लोग, या जीर्ण शीर्ण ब्रिटिश विरासत को सम्हालने वाले अफसर ? ऐसी साम्राज्यवादी व्यवस्था की रीति अब नहीं चलनी चाहिए। अब वह निरर्थक हो गई है। अब तो खेल के रचनेवाले को भी इस खेल में आनद नहीं आता है। पुलिस या व्यवस्था मे स्थित अफसर भी इससे ऊब गए है।

हमें इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि लोग मजबूत से मजबूत ढाँचे को भी झुका सकते है। रशिया मे लोगो ने लेनिन को झुकाया ही था, वह भी येल्त्सिन के आने

से पहले। उस समय 'मोस्को न्यूज' जैसा समाचार पत्र भी लिखता था कि केवल लेनिन के जन्मस्थान पर ही उसका एक पुतला होना पर्याप्त है। रशिया मे ऐसा हो सकता है तो अन्य स्थानो पर भी ऐसा हो ही सकता है।

कुछ लोग कहते है कि लोग लोकतन्त्र का मूल्य समझ सके इस प्रकार की शिक्षा उन्हे मिलनी चाहिए। परन्तु आज भारत मे शिक्षित लोग क्या कर रहे है ? वे केवल पैसा बनाने मे लगे है। इग्लैड़ के आक्सफोर्ड एव केब्रिज मे, या उसीके समान अमेरिकन सस्थानो मे जाकर आए हुए लोग भी करोडो रूपए बनाने का ही काम करते है।

राधा राजन क्या हम सस्थानो एव ढॉचो के प्रति जो तिरस्कार भाव है उसे लोगो की ओर मोडेगे ?

धर्मपाल नही, मै ऐसा नहीं कहता हूॅ। मै कहता हूॅ कि आज की भारत की स्थिति अव्यवस्था एव अराजकता से ग्रस्त है। ऐसी स्थिति मे कुछ भी कारगर नहीं होता है। ब्रिटिश ढॉचा इसी स्थिति के लिए निर्मित किया गया था। लोगो की पहल, लोगो का प्रतिकार एव लोगो का तनाव नष्ट हो जाए इसी हेतु से उसकी रचना हुई थी। लोगो को नियन्त्रण मे रखने के कुछ अन्य उपाय भी उन्होने प्रयुक्त किए थे। उन्होने ईसाईकरण का प्रयोग किया, पाश्चात्यीकरण का किया, इन्डो-यूरोपीय भाईचारे की सकल्पनाओ का किया, परन्तु किसी भी उपाय से वे भारत के लोगो को दबा नहीं सके। अत मे उन्होने ऐसी व्यवस्था का निर्माण किया जिसमे सभी प्रकार भी स्वतन्त्रता नष्ट हो जाए। कह सकते है कि यह बहुत ही विचारपूर्वक बनाई गई सुव्यवस्थित योजना है। यह आदेश कर सकती है, परन्तु समृद्धि एव गौरव नहीं दे सकती। यदि हम इस प्रकार के आदेशो से युक्त ढॉचा ही चाहते है तो फिर प्रगति, विकास, आर्थिक सुधार एव ऐसी ही अन्य बातो की अपेक्षा हमे नहीं करनी चाहिए। ब्रिटिश ढॉचे मे यह सभव ही नहीं है। यदि हमे इस प्रकार के, सारी जीवमानता को समाप्त कर देने वाले आदेशो की ही आवश्यकता है तो वर्तमान व्यवस्थाओ को ही बनाए रखना चाहिए।

सम्प्रदाय एव राजनीति

सुदर राजन आज कोई भी पूजास्थान धन या अन्य किसी निहित स्वार्थ के शिकजे से मुक्त नहीं रह गया है। इतना ही नहीं तो स्वार्थ के साथ अब धर्म की राजनीति भी की जाने लगी है। राजनीति धर्म को अपमानित करती है ऐसी घटनाओ की सिरमौर यह ६ दिसम्बर की घटना है। क्या हम धर्म को केवल व्यक्तिगत उपासना तक ही सीमित नहीं रख सकते ताकि इस प्रकार के सघर्ष जन्म ही न ले पाएॅ ?

धर्मपाल हम यह कैसे निश्चित कर सकते है ? यदि लोग ही धर्म को राजनीति से जोड़ते है, और वह भी हजारो वर्षों से, तो हम उसे कैसे बदल सकते है ? हमारे देश मे और दुनिया मे कई पयगबर एव सत हो गए। वे भी मानव स्वभाव को बदल नहीं पाए है। इसलिए जो सभव है, बुद्धिगम्य है उस पर ही हमने सोचना चाहिए।

यह दुनिया भगवान के लिए नहीं है। यह दुनिया भावनाओ से भरे हुए मनुष्यो के लिए है। ये भावनाएँ अच्छी भी हो सकती है एव बुरी भी, दोनो एकसाथ भी हो सकती हैं। मनुष्य का स्वभाव रागद्वेष से युक्त ही होता है। ऐसी स्थिति का स्वीकार करके ही चलना चाहिए कि सबकुछ ठीकठाक ही चलता है। व्यावहारिक रुख ही आवश्यक है। यही समाजजीवन है एव राज्य को ऐसे समाजजीवन की हिफाजत ही करना है।

राज्य मानवस्वभाव को एकाएक नहीं बदल सकता। राज्य की व्यवस्था के अनुसार मानवस्वभाव बदलेगा ऐसी अपेक्षा करने का कोई अर्थ नहीं है। ४० साल पूर्व हम कहते थे कि रशिया का प्रयोग करने से मनुष्य एकदम बदल जाएगा। बीसवीं शताब्दी के अत तक तो मनुष्य एकदम अलग प्रकार के स्वभाव का ही हो जाएगा ऐसा हमे लगता था। सन् १९३० एव १९४० के दशक मे इस विषय पर पुस्तके भी लिखी गई थीं। परतु हुआ क्या ? मनुष्य कहाँ बदला है ? और उस 'महान रशियन प्रयोग' का क्या हुआ ?

यूरोप की ही बात करे। वह तो १७०० साल तक ईसाई ही रहा है। यद्यपि यह भी हमारी ही धारणा है। मेरी जानकारी के अनुसार तो स्थिति कुछ अलग ही है। जर्मनी का कुछ भाग तो पद्रहवीं शताब्दी मे ईसाई बना था। फिर भी ४०० वर्षो से यूरोप ईसाई ही है। इन ४०० वर्षो मे यूरोप मे कितनी अधिक हिसा का आचरण किया गया है। उनके उद्धारक तो शाति के सदेशवाहक है। फिर भी वहाँ शाति नहीं है। क्योकि वह सभव ही नहीं है।

हमे इतिहास से सीख लेनी चाहिए। श्रेष्ठ माने जाने वाले समाज मे भी मानवसहज दुर्बलताएँ होती ही हैं, उनका स्वीकार करना चाहिए। हमारा अभिगम व्यावहारिक होना चाहिए। हम ऊँचाई की ओर उच्चदृष्टि रखकर ही नहीं चल सकते है। यदि हम ऐसा करेगे तो अधिक असफल होगे।

हिन्दुत्व एव हरिजन

वैरावन मुझे लगता है कि हिन्दुत्व की विचारधारा हिन्दू समाज के तथाकथित उच्च वर्ग के लोगो को ही स्वीकार्य है। हरिजन तथा तथाकथित दलित वर्ग के लोग हिन्दुत्व से आकर्षित नहीं होते है। इस लिए हिन्दुत्व के जागरण मे मुस्लिम या क्रिश्चियन

अवरोधरूप नहीं है, किन्तु हिन्दू समाज मे पिछडी मानी जानेवाली जातियॉ एव समूह अवरोधरूप है। श्रीराम का मदिर बनाने की अपेक्षा इन लोगो का विश्वास जीतना अधिक महत्त्वपूर्ण है।

धर्मपाल इस प्रकार की भावना हरिजनो मे होगी ऐसा मुझे नहीं लगता है। अमुक स्वरूप मे ही हिन्दुत्व की परिभाषा करनी है तो शायद आप कहते है ऐसा होगा। परन्तु हिन्दुत्व का अर्थ यदि हिन्दू होना ही होता है तो हरिजन उस से वचित नहीं रह सकते। मै नहीं मान सकता कि हरिजन कम हिन्दू है। उल्टे हममे से कइयो की अपेक्षा वे अधिक हिन्दू है। वे अधिक श्रद्धावान है। यदि ऐसा नहीं होता तो वे बहुत पहले यह धर्म छोड चुके होते। परन्तु उन्होने धर्म नहीं छोडा है। हमसे भी बहुत अच्छी तरह से वे धर्म मे टिके हुए है। हम धर्म से पलायन होने के उपाय ढूँढते है। हम हिन्दुत्व से दूर भागते है। हम आधुनिक बनने का दावा करते है। हम पाश्चात्य बनते है। हम पाश्चात्य तो बने ही है। वे नहीं बने है। उन्हे बहुत तिरस्कार सहना पडा है। सविधान मे प्रावधान होने पर भी भी वे प्रतिष्ठित मदिरो मे प्रवेश नहीं कर सकते हैं। उनके लिए मदिर भी अलग होते है। फिर भी वे हिन्दू है। मुझे लगता है कि हरिजन कोई समस्या नहीं है, हम हिन्दुत्व की जो व्याख्या करते है, वही समस्यारूप है।

अभी कुछ समय पहले यहॉ पास के गॉव मे मुझे जो अनुभव हुआ वह मैं आपको बताता हूॅ। वह गॉव मद्रास से ४० किलोमीटर दूर चेगलपट्टु जिले मे स्थित है। वह बहुत पुराना गॉव है। मै वहॉ कई बार गया हूॅ। वह मुख्य गॉव एव हरिजन बस्ती इस प्रकार दो भागो मे बॅटा है। हरिजन बस्ती बहुत बडी है। वहॉ एक शिक्षक है। मुझे तमिल भाषा नहीं आती है। अत अग्रेजी की सहायता से मैंने उससे कुछ बाते की। हमारे विषय विविध थे। मैने उससे पूछा कि बस्ती के लोग गॉव के मदिर मे कभी गए है या नहीं ? वहॉ गॉव मे एक सुन्दर मदिर है। वह लगभग ८०० वर्ष पुराना है। इसलिए मैने उससे पूछा, 'आप लोग इस गॉव के मदिर मे जाते है ?' उसने कहा, 'हम जा सकते हैं, हमे वहॉ जाने से कोई रोक भी नहीं सकता, परन्तु गॉव के लोगो को यह अच्छा नहीं लगेगा, इसलिए हम वहॉ नहीं जाते है।'

फिर बात आगे बढी। उसने कहा कि उसकी लडकी का घर गॉव मे है। वहीं गॉव का 'कर्णम' यानी मुनीम रहता है। वह जिस गली मे रहता है, वह कुछ बडी है। इसलिए मदिर के भगवान की रथयात्रा प्रतिवर्ष वहॉ से गुजरती है। परन्तु जबसे उसकी लड़की उस गली मे रहने गई तब से रथयात्रा वहॉ से गुजरना बद हो गया।

ये बाते वह बिलकुल सामान्य होकर बता रहा था। जब मैने सुना कि रथयात्रा

का उस गली मे जाना बद हो गया तो मुझे चिता हुई कि अब उस प्राचीन सुन्दर मदिर का क्या होगा ? ब्राह्मण तो उसकी देखभाल कर नहीं सकते, क्योकि गॉव मे केवल १५ या १६ ब्राह्मण परिवार ही रह गए है। २०० वर्ष पूर्व कई परिवार थे, परन्तु वे गॉव छोडकर चले गए है। अब जो हे उनमें भी वृद्धो की सख्या ही अधिक है। आनेवाले दस बीस वर्षो मे वे भी समाप्त हो जाऍगे। इसके बाद मदिर का क्या होगा ? यदि हरिजनो को मदिर से दूर रखा जाएगा तो मदिर की रक्षा कौन करेगा ?

इस मदिर की रक्षा कर सकने वाले ऐसे हरिजनो ने अपनी बस्ती मे ही सुन्दर मदिर बनाया है एव प्रतिवर्ष वहॉ भव्य उत्सव भी होता है।

तो फिर हम हिन्दुत्व की कौन सी व्याख्या करते हैं। कौन हिन्दुत्व के पक्ष मे है और कौन विरोधी यह कहना बहुत कठिन है। अलग अलग लोगो की हिन्दुत्व की कल्पना भी अलग अलग ही है। २०० वर्षो से हम इस प्रकार की विपरीत परिस्थिति मे जीते आए हैं कि हमारी सभी बातो का बतगड बनकर रह गया है। सदियो की गुलामी के बाद हम मुक्त हवा मे सास लेने का प्रयास कर रहे है। ऐसा दिन भी आएगा जब हम मुक्तरूप से सोचेगे एव अपनी हर कठिनाई का उपाय ढूँढ निकालेगे। परन्तु हमारी गति इस प्रक्रिया मे अत्यत मन्द है। इसलिए जब हमे समस्या का उपाय सूझेगा तब तक समस्या का अस्तित्व ही मिट चुका होगा। हमारे सामने कोई अन्य कठिनाई आकर खड़ी हो चुकी होगी। इतिहास मे ऐसा ही होता आया है। शायद भारत का भाग्य ही ऐसा है।

गाधीजी का मार्ग

शेखर राघवन जब बाबरी ढॉचा टूटा तब यदि गॉधीजी होते तो उनका क्या प्रतिभाव होता ?

धर्मपाल वे बहुत खुश नहीं हुए होते। हमारा एक वर्ग अत्यत मुखरित होकर दर्शाता है उस प्रकार यदि उन्हे अस्मिता की चिता हुई होती, या बाबरी विध्वस उन्हे एक राष्ट्रीय शर्मनाक घटना लगी होती (जिस प्रकार यहा उपस्थित अनेक लोगों को लगती है) तो उन्होने इस घटना की ओर भिन्न दृष्टि से देखा होता और अपनी जिदगी तक दॉव पर लगा दी होती उसे बचाने के लिए। वे इस प्रकार के व्यक्ति थे। वे ऐसा तो कभी नहीं कहते कि चलो साथ बैठकर समझ लेते है। परन्तु यह सब तो उन्होने सन् १९४९ या ५० मे ही किया होता। हमारी तरह उन्होने इस समस्या को बढने तो नहीं दिया होता।

राधाराजन जब लोगो ने विभाजन के विषय मे गॉधीजी की बात नहीं मानी

थी तो इस प्रश्न मे मानते ?

धर्मपाल आपकी बात सही है। उस समय भी गॉधीजी को किनारे कर दिया गया था। मेरी व्यक्तिगत धारणा भी यही है कि गाधीजी का प्रभाव १९४४ से ही कम होने लगा था। वे भी यह जानते थे। अन्य लोग भी यह जानते थे। इसीलिए लोगो ने उसका लाभ भी उठाया। अन्य देशो ने ऐसे फायदा उठानेवालो को सहारा दिया, प्रोत्साहन दिया। दुनिया को ऐसे लोगो की आवश्यकता थी। उदाहरण के तौर पर ब्रिटिशो द्वारा तैयार किए गए 'सत्ता के हस्तान्तरण' के दस्तावेजो के विषय मे अमेरिका के प्रमुख रुझवेल्ट का दृढ मत था कि ब्रिटिशरो को ऐसा ही कुछ करना चाहिए जिससे भारत 'पश्चिम के प्रभाव' मे रहे। स्पष्ट ही है कि महात्मा गाधी देश को कभी भी पश्चिम के प्रभाव मे नहीं रहने देते। इसीलिए ब्रिटिश लोग इन अन्य लोगो को पसद करते थे। यह जो कुछ हुआ वह उसी कारण से हुआ है।

परन्तु महात्मा गाधी अधिक जीए होते एव उनका सत्त्व बना रहता तो उन्होने फिर से एक लोक आदोलन शुरू किया होता। क्योकि लोकशक्ति ही उनकी शक्ति एव सत्ता थी। और फिर भारत में उन्हे कोई भी रोक नहीं पाया होता। निश्चित रूप से तब भारत मे एक नई स्थिति का निर्माण होता। मै यह नहीं कहता कि स्थिति एकदम आदर्श होती परन्तु आज हम जिस भ्रान्ति मे जी रहे हैं कि हमने एक आधुनिक युग मे प्रवेश किया है और इन सब बातो का कोई महत्त्व नहीं है - ऐसी भ्रान्ति का जन्म ही नहीं हुआ होता।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद जिन विषयो पर ध्यान देना चाहिए था वह हमने दिया ही नहीं है। हम आधुनिकता एव विकास की धारा मे बह गए। इन दो शब्दो का जादू हम पर छा गया। पॉच दस वर्ष तो हम उस जादू के सम्मोहन मे ही रहे। उसके बाद 'रोस्तोव' जैसे विदेशी विद्वान आए और उन्होने कहा कि हम तो एकदम उडान भरने की स्थिति पर पहुॅच गए है। और उसी क्षण से हमारा अध पतन शुरू हो गया।

अर्थात् आधुनिकता भी कुछ काम न आई। समस्याएँ उसी प्रकार बिना ध्यान दिये रह गईं। राजनैतिक स्थिति दिनप्रतिदिन अधिक उलझनभरी बनती गई। उलझने केवल बाहरी दुनिया के कारण नहीं थीं, हमारी आतरिक उलझने भी थीं। समाज का विघटन बढते अनुपात मे होता गया।

इसके बाद हम राजनीति की ओर उस दृष्टि से देखने लगे जो पश्चिम के लिए नई नहीं थी परन्तु हमारे लिए नई थी। हम राजनीति को सत्ता का खेल मानने लगे, गलत ढग से प्राप्त होनेवाली सपत्ति का स्रोत मानने लगे, लोगो पर नियन्त्रण करने का साधन

मानने लगे। भारत मे तो राजनीति लोगो की सेवा करने का क्षेत्र था, श्रेष्ठतम पद्धति से लोगो की सेवा करने का क्षेत्र था। यह मान्यता एव यह स्थिति सन् १९२० से १९४० के दौरान तो थी। परन्तु अब यह स्थिति बिलकुल बदल गई है। नेताओ की नई पीढी का उदय हुआ और राजनीति के क्षेत्र मे नए मूल्य उदित हुए। सन् १९७० के लगभग एक नई सस्कृति प्रतिष्ठित हुई। उसके बाद राजनैतिक क्षेत्र मे जानेवाले सभी भ्रष्ट है ऐसा माना जाने लगा। भ्रष्टाचार चाहे वास्तव मे उतना अधिक न भी हो तो भी भाषा एव व्यवहार इस प्रकार का होने लगा जैसे सब कुछ भ्रष्ट हो गया है। भ्रष्टाचार हमारे दिलो दिमाग पर छा गया।

राज करनेवाले उपरी वर्ग के लोग सामान्य लोगो से विमुख होने लगे। इसके बाद तो हम एक अलग दुनिया मे ही रहने लगे। हमारे जैसे लोगो की सख्या बढे इसलिए हम योजनाएँ बनाने लगे। लगभग ४ लाख भारतीय डाक्टर एव इजिनियर भारत के बाहर रहते होगें। अब हम जैसे कि विश्वबिरादरी मे बसते है। हम भारतीय नहीं रहे। वैश्विक बनने की आकाक्षा प्रत्येक भारतीय के मन मे पैदा हो गई। जहाँ मौका एव साधन मिले हम उसका उपयोग करने के लिए तत्पर रहते है।

भारत की समस्या उलझ गई है। उसे सुलझाना सरल नहीं है। इस स्थिति के लिए किसी एक आदमी या किसी एक समूह को जिम्मेदार नहीं मान जा सकता। अभी हमारे पास भूतकाल की स्मृति शेष है। हम उसे पुनर्जीवित कर सकते है। उसे व्यवहार मे ला सकने की स्थिति मे हैं। परन्तु इस के लिए हम भूतकाल का त्याग भी नहीं कर सकते है और नया सम्पूर्ण रूप से अपना भी नहीं सकते है। इसलिए हम फँस गए है। फलस्वरूप जिसे भी मौका मिलता है वह इस उलझन से छूट कर भाग जाता है। और जहाँ अनुपातन जीवन कम उलझनों वाला है वहाँ रहने लगता है या उस दुनिया मे रहने लगता है।

भारत की समस्या हल करने के विषय मे हम तो आशा खो बैठे हैं। हमारे पास कोई उपाय नहीं है। भारत फिर से भारत कैसे बने इसका कोई रास्ता समझ मे ही नहीं आता है। हम तो दुनिया की दया पर जी रहे है। जीने के लिए जी रहे हैं, बहुत ही क्षीण सत्त्वयुक्त जीवन जी रहे है। इस स्थिति मे भारत के लोग सूत्र अपने हाथ मे ले ले और हमे रास्ता दिखाने का प्रयास करे तो कोई आश्चर्य नहीं है। उसमे कुछ गलत भी नहीं है।

---

* २८-२-१९९३ का भाषण, सेन्टर फोर पोलिसी स्टडीज (Center for Policy Studies), समाजनीति समीक्षण केन्द्र, चेन्नई के जितेन्द्र बजाज द्वारा सपादित, और अयोध्या एड दि फ्युचर आव् इडिया' में प्रकाशित। पृष्ठ स २१३-२३८।

विभाग ३

यूरोप का स्वभाव और उसकी विश्वगत अभिव्यक्ति

१९ यूरोपीय आधिपत्य के पॉच सौ वर्ष

२० सन् १४९२ से यूरोप तथा विश्व के
अन्य देशो की स्थिति

२१ आधुनिक विज्ञान एव गुलामी का समान आधार

२२ सत्याग्रह की विश्वपरिषद्

२३ भारत एव विश्व

१९. यूरोपीय आधिपत्य के पाँच सौ वर्ष

आज से चार वर्ष पश्चात्, १९९२ मे यूरोप विश्व की खोज मे निकला इस घटना को ५०० वर्ष पूर्ण होगे। सन् १४९२ मे क्रिस्टोफर कोलम्बस अपने नौका काफिले के साथ अमेरिका के तट पर उतरा। वह पुर्तगाल, इटली या अन्य किसी देश का था यह कोई खास बात नहीं है। वह यूरोप का था इतना कहना पर्याप्त है। उसे यूरोपीय राज्यो की एव धनिको की सम्पूर्ण सहायता मिली थी। यूरोप का इससे पूर्व, या तो बहुत ही प्राचीन समय से उत्तर आफ्रिका, एशिया के कुछ प्रदेश, पूर्व एव पश्चिम आफ्रिका के कुछ प्रदेश इत्यादि के साथ सीधा सम्बन्ध था। परन्तु यूरोप के साहसवीरो तथा यूरोप के राज्यों को नए नए प्रदेश खोजने की इच्छा जगी। 'ब्लैक डेथ' जेसी घटना भी इस चाह के लिए प्रेरणास्रोत बनी होगी। परन्तु यह घटना १५ वीं शताब्दी के मध्य मे घटी। प्रारम्भ मे वे पश्चिम आफ्रिका गए। पचास वर्ष के अन्दर अन्दर वे अभी तक विश्व को अज्ञात ऐसे अमेरिका तक पहुँच गये। पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्त से पूर्व उन्होने भारत आने का समुद्री मार्ग खोज लिया एव दक्षिण तथा दक्षिण पूर्व आफ्रिका, हिन्द महासागर के द्वीप समूह तथा तटीय प्रदेशो एव दक्षिण, दक्षिण पूर्व एव पूर्व एशिया के साथ सम्पर्क बढाया। सन् १५५० तक तो यूरोप ने केवल गोवा के आसपास के कुछ प्रदेश मे ही नहीं अपितु श्रीलका एव दक्षिण पूर्व एशिया के प्रदेशो पर अपना प्रभुत्व जमा लिया। अमेरिका एव पूर्व की ओर आनेवाले समुद्री मार्ग की खोज के सौ वर्षों मे तो बहुत दूर के एव सस्कृति की दृष्टि से यूरोप की अपेक्षा भिन्न व्यक्तित्ववाले जापान मे भी इतना प्रभाव पडा कि सन् १६०० के समीप लगभग ४ लाख जापानियो ने धर्मपरिवर्तन कर लिया एव वे ईसाई बन गए। परन्तु लगभग सन् १६४० मे ही जापान ने निर्णय कर लिया कि डचो को जापान के बन्दरगाह पर कभी भी उतरने की जो अनुमति दी गई थी उस पर रोक लगा दी जाए। यूरोप के लिए जापान के दरवाजे भी बन्द करके केवल तन्त्रज्ञान एव व्यापार के लिए ही सीमित सम्बन्ध रखना तय हुआ। कोलम्बस अमेरिका पहुँचा एव अमेरिका के तटीय प्रदेशो तथा एटलान्टिक महासागर के द्वीपो मे खेती प्रारम्भ हुई एव बस्तियाँ बसीं इसके कुछ ही वर्षो मे यूरोप ने आफ्रिका के काले लोगो को गुलाम बनाकर इन बस्तियो मे लाने का सुनियोजित रूप से एक अभियान ही प्रारम्भ किया। एक

सामान्य अदाज के अनुसार भी गुलाम पकडने से लेकर अमेरिका मे अटलान्टिक के द्वीपो तक पहुँचने के बीच लगभग ८० प्रतिशत लोगो की मृत्यु हो गई। इस अभियान के प्रारम्भ होने से लेकर बाद के ३०० वर्षों मे तो इस प्रकार मृत्यु को प्राप्त आफ्रिकन स्त्री पुरूषो की सख्या दस करोड़ तक पहुँच गई होगी। उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ मे जब गुलामी नहीं परन्तु गुलामो का व्यापार बद करने की हलचल प्रारम्भ हुई तब अमेरिका मे यूरोपीय निवासियो की अपेक्षा आफ्रिका से पकड़कर लाए गए गुलामो की सख्या अधिक थी।

सन् १६०० के आसपास यूरोप के अलग अलग राज्यो ने भारत के भी विभिन्न प्रदेशो मे आना प्रारम्भ किया। पश्चिम, पूर्व एव दक्षिण आफ्रिका की समुद्र तटीय पट्टी मे तथा एशिया के मार्ग पर पडनेवाले द्वीपो मे यूरोप से इन प्रदेशो मे आनेवाले समुद्री जहाजो को इन्धन, पानी एव विश्राम के लिये स्थान मिले इस उद्देश्य से वे सुदृढ किलेबन्दी करने लगे। यूरोप का भारत पर प्रभाव इस बात से जाना जा सकता है कि महान विजयनगर साम्राज्य के राजा शस्त्रो के लिए पुर्तगालियो पर निर्भर रहने लगे एव जहागीर ने अरबस्तान, पर्शियन खाडी एव भारत के बीच उस काल मे जहाजी डाकू के रूप मे पहचाने जानेवाले समुद्री लुटेरो से समुद्र को मुक्त करने के लिए अग्रेजो से सहायता मागी। सन् १६०० से बहुत पूर्व बर्मा मे बन्दरगाहो का अधिपति ब्रिटिश था।

सन् १७०० तक या फिर सन् १७५० तक अमेरिका मे यूरोपीय मूल के लोगो की सख्या कम होने पर भी उनका प्रभाव एव शासन जम गए। कोलम्बस जब अमेरिका पहुँचा तब वहाँ के मूल निवासियो की सख्या लगभग नौ से ग्यारह करोड थी। सन् १७०० तक तो नि शस्त्रो की हत्या के कारण, यूरोपीय लोगो के आक्रमण के कारण एव युद्ध के कारण यह सख्या आधी हो गई, यद्यपि उनका सम्पूर्ण उच्छेद उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त मे हुआ।

सन् १७०० के बाद यूरोप ने पूर्व की ओर विशेष ध्यान दिया। उनमें एक केन्द्र भारत था। भारत मे सन् १७५० से यूरोप की उपस्थिति विशेष रूप से दिखाई देने लगी। सन् १७५० से तो यूरोप भारत को पूर्णतया जीत लेने की सुनियोजित योजना बनाने लगा। इसी समय यूरोप ने आस्ट्रेलिया एव उसके समीप के द्वीपो की खोज की। सन् १८०० के तुरन्त बाद यूरोप ने चीन जाने का प्रारम्भ किया। सन् १८५० तक यूरोप समग्र विश्व का अधिपति बन गया।

यूरोप का ऐसा आधिपत्य विश्व के इतिहास मे प्रथम ही है। कई शताब्दियो तक इस्लाम ने लगभग आधी दुनिया पर अपना शासन जमाया था। उसने भी यूरोप के समान ही तबाही मचाई थी। इस्लाम से पूर्व भगवान बुद्ध के उपदेशो का लगभग आधे

विश्व पर प्रभाव था। परन्तु उसमे हिसा का तनिक भी अश नही था। एशिया के बहुत से हिस्सो मे भगवान बुद्ध के उपदेश के फलस्वरूप निर्मित सस्थाएँ एव मनोभाव आज भी अस्तित्व मे है। सास्कृतिक दृष्टि से तो भारत का प्रभाव पूर्व एशिया एव मध्य एशिया के बहुत से देशो पर पड़ा था। पूर्ण सम्भावना है कि भारत तथा अन्य सस्कृतियो को भी विश्वविजय की आकाक्षा जगी होगी। परन्तु उसके लिए आवश्यक बल, प्रेरणा या भौतिक सामग्री या सहारक वृत्ति के अभाव के कारण वे इस इच्छा को अमल मे नहीं ला पाए है। इसी दृष्टि से देखने पर यूरोप के विश्व आधिपत्य के ५०० वर्षों को इतिहास मे अद्वितीय स्थान प्राप्त करनेवाली घटना मानी जा सकती है।

इस आधिपत्य का मनुष्य, वनस्पति, समग्र सृष्टि पर कैसा प्रभाव हुआ है इसका अध्ययन एव मूल्याकन खासकर जीती गई प्रजा की दृष्टि से करने की आवश्यकता है। यूरोपीय आधिपत्य का प्रभाव केवल राजनैतिक, आर्थिक, एव पर्यावरणीय विषयो पर ही हुआ है ऐसा बिलकुल नहीं है। यह प्रभाव जीती गई प्रजा की स्वविषयक धारणा एव चित्तव्यापार पर भी बहुत गहराई तक पडा है। इसी प्रकार विजेताओ की अपनी भूमिका, उन्होने जो कुछ भी किया एव जिस प्रकार से किया उसके जो परिणाम निकले उसका प्रभाव उन पर बहुत गहराई तक पड़ा। फिर भी यूरोप का मूल स्वभाव नहीं बदला है। उसकी विनाशक वृत्ति कोलम्बस के पूर्व कम अनुपात मे व्यक्त हुई थी एव कोलम्बस के बाद बहुत बडे पैमाने पर दिखाई दी इतना ही अन्तर था। रोमन साम्राज्य के समय से, प्लेटो के समय से या उससे भी पूर्व के समय से यूरोप की दुनिया जीतने की जो आकाक्षा थी उसे कोलम्बस के द्वारा अमेरिका की खोज से खुला एव व्यापक मैदान मिला। विश्व की अन्य सभ्यताओ को भी ऐसी इच्छा हुई होगी, परन्तु हम उसके विषय मे अधिक कुछ जानते ही नहीं है। यूरोप के विषय मे जानते हैं। यदि ऐसा है तो हमे इसके विषय मे जानने के प्रयास करने चाहिए जिससे हमारी दृष्टि का क्षेत्र अधिक सन्तुलित बने। परन्तु अब तो हम प्रत्यक्ष रूप से यूरोपीय अधिकार के अन्तर्गत उसके द्वारा बनाए गए सस्थाकीय एव वैचारिक ढॉचे मे जी रहे है इसलिए यूरोप का तथा अन्य किसी विश्वविजय की आकाक्षा रखनेवाली सभ्यता का अध्ययन करना केवल ऐतिहासिक एव तात्त्विक दृष्टिकोण की अपेक्षा बहुत अधिक महत्त्वपूर्ण है।

गत ५०० वर्षों का अध्ययन जीती गई प्रजा के लिए आत्मबोध का साधन बनेगा एव उसे अपनी सामाजिक, आध्यात्मिक एव सास्कृतिक पहचान प्राप्त करने मे सहायक सिद्ध होगा।

---

* १९ जून १९८८ को बेंगलोर मे लिखा गया लेख

२०. सन् १४९२ से यूरोप तथा विश्व के अन्य देशों की स्थिति

हमारे आसपास की स्थिति एव विकास को, उसके विभिन्न दृष्टिकोण तथा अविरत चलनेवाले मतभेदो को यदि समझना है, तो हमे कुछ शताब्दियाँ पीछे जा कर देखना होगा। प्रस्तुत पत्र मे, गत पाँच शताब्दियो मे घटी हुई प्रमुख घटनाओ को तथा भारत के द्वारा बीताए गए समय के आधार पर, आज की उलझन भरी स्थिति के मूल तक पहुँचने का प्रयास किया गया है। हमे यह भी जानना आवश्यक है कि लगभग सन् १४९२ के काल से लेकर अनेको विचारधाराओ तथा विभिन्न घटनाओ का विश्व पर क्या प्रभाव पडा है। इस उलझनभरी स्थिति को समझकर उसका कोई हल निकालने मे यह प्रयास कदाचित सहायक बनेगा।

१

यूरोप के द्वारा विश्व के अन्य देशो की खोज

आज से लगभग पाँच शताब्दी पूर्व, अर्थात् १४९२ मे जब क्रिस्टोफर कोलम्बस तथा उसके साथी जहाज द्वारा अमेरिका के समुद्र तट पर पहुँचे, तभी से यूरोप द्वारा विश्व के अन्य देशो की खोज का श्रीगणेश हुआ। कोलम्बस एव उसके समकालीन जहाजरानो का मुख्य उद्देश्य तो भारत तथा दक्षिणपूर्व एशिया के प्रदेश तक पहुँचने का समुद्री मार्ग खोजना ही था। उस समय किसी यूरोपीय वैज्ञानिक ने बताया कि पृथ्वी का आकार गोल है। बस इसी बातने कोलम्बस को अपनी समुद्र यात्रा पश्चिम की ओर से प्रारम्भ करके अन्त मे भारत तथा भारत के पूर्वीय प्रदेशो तक पहुँचने की आशा जगाई। लगभग १५५० तक तो पश्चिम यूरोप को इसकी कल्पना तक नहीं थी कि एक ओर यूरोप एव आफ्रिका तथा दूसरी ओर चीन एव भारत के बीचोबीच उत्तर ध्रुव से दक्षिण ध्रुव तक फैला हुआ अमेरिका नाम के एक विशाल भूखण्ड का अस्तित्व भी है।

इस प्रकार, यूरोप की पद्रहवीं शताब्दी के अन्तिम चरण की यात्रा मे कदाचित

किसी प्रकार से घटी हुई लगभग एक सौ वर्ष अर्थात् १४५० तक चलनेवाली 'काले मृत्यु' की घटना, जिसने यूरोप को समाप्त कर दिया, उसकी प्रेरणा इतनी अधिक थी कि १४९२ के बाद केवल छ वर्षो मे अर्थात् १४९८ मे आफ्रिका के पूर्वी किनारे पर जाकर भारत तक पहुँचने का समुद्री मार्ग खोजा गया। वास्को-डी-गामा को सन् १४९८ मे भारत के केरल प्रान्त के समुद्रतट पर स्थित कालिकट बन्दरगाह तक पहुँचाने मे सहायक बननेवाले एशिया के जहाजरानो का यह मार्ग खोजने मे योगदान हो सकता है। इसके बाद के चालीस से पचास वर्षो मे तो यूरोपने अधिकाश पृथ्वी पर भ्रमण कर लिया। इसका एक श्रेष्ठ उदाहरण यह है कि लगभग सन् १५४० तक दूरदराज के तथा यूरोप से भिन्न सस्कृतिवाले जापान मे प्रभु ईसु का अनुसरण करनेवाला ईसाई समाज अस्तित्व मे आया। यूरोप की यात्रा एव उसके शासन का अन्य एक ज्वलन्त उदाहरण यह है कि उसके पश्चात् साठ वर्ष के बाद अर्थात् लगभग सत्रहवीं शताब्दी के प्रारम्भ मे ईसाई कार्यकरो के प्रयासो से अनुमानत ४,००,००० जापानियो का ईसाई मत मे मतान्तरण किया गया।

२

सत्रहवीं शताब्दी की जो जानकारी प्राप्त होती है उसके आधार पर सन् १४९२ से पूर्व अथवा प्राचीन काल से यूरोप के पश्चिम एशिया, पर्शिया, भारत के सीमावर्ती प्रान्त तथा उत्तर आफ्रिका के साथ सम्बन्ध थे ही। ऐसा माना जाता है कि ईसाई युग के प्रारम्भ के समय मे रोम तथा दक्षिण भारत के तमिलनाडु मे स्थित तटीय प्रदेशो के बीच आपसी व्यापार का सम्बन्ध था। इस प्रकार यूरोप को सत्रहवीं शताब्दी से चीन के पश्चिमी प्रदेशो की जानकारी थी।

नए प्रदेशो की खोज, उस पर आक्रमण, साम्राज्य विस्तार इत्यादि घटनाएँ सन् १४९२ से ही नहीं शुरू हुई है। वे तो मानव का पृथ्वी पर उद्भव होने जितनी ही प्राचीन हैं। कहा जाता है कि ईसा पूर्व ३२६ में साहसी युवक सिकन्दर ने उत्तर पश्चिमी भारत में प्रवेश किया था। यद्यपि वह भारत के किसी भी विशिष्ट भाग को ग्रीस मे समाविष्ट नहीं कर सका था। उसके लगभग एक हजार वर्ष पश्चात् अर्थात् सातवीं शताब्दी मे इस्लाम के नेतृत्व मे अरबो ने दक्षिण यूरोप तथा भारत के पश्चिम मे स्थित सिंध पर आक्रमण किया। इसके बाद ग्यारहवीं शताब्दी के अन्त मे धर्मयुद्ध के नाम पर यूरोप ने बाईजेन्टियम, पश्चिम एशिया तथा तुर्कीस्तान की प्राचीन भूमि पर आक्रमण करके उनके अधिकाश प्रदेशों पर राज्य भी किया। यह धर्मयुद्ध पश्चिम यूरोप के उमराव

पुत्रो की सरदारी मे हुए जिसमे उनके साथ रोमन ईसाई गिरजाघरो की पीछे रहकर सहयोग देनेवाली शक्ति भी थी।

ऐसा लगता है कि भारत के पास अपने लिए आवश्यक ऐसी तमाम समृद्धि तथा विशाल उपजाऊ जमीन होने के कारण वह इस प्रकार के विश्वव्यापी विजय की प्राप्ति के लिए तैयार नहीं था। या ऐसा भी हो सकता है कि भारत को न तो ऐसी कोई महत्त्वाकाक्षा थी, न ही इस प्रकार का कोई झुकाव, या फिर ऐसी जिहाद के लिए आवश्यक साहसिक उत्साह उसमे नहीं था। इसके बावजूद २००० वर्ष पूर्व अर्थात् विक्रम सवत के प्रारम्भ मे भारत के विद्वान, पण्डित, बौद्ध भिक्षु इत्यादि एशिया खण्ड के विभिन्न भागो मे फैले एव बसे थे।

३

यूरोप खण्ड का साम्राज्य विस्तार

सन् १४९२ से यूरोप की खोजे एव उसका साम्राज्य विस्तार दिखने मे भी एक अलग प्रकार का रहा। यद्यपि ये विजय प्राप्त करने की उसकी पद्धति प्राचीन ग्रीस या रोम के राज्यो के द्वारा अनुसरित रीति से बहुत भिन्न नहीं थी। तो भी विजय प्राप्ति की जो पद्धति ब्रिटिशरो ने अपनाई वह ११ वीं शताब्दी मे साम्राट विलियम एव उसके वशजो द्वारा इग्लैण्ड पर कब्जा जमाने के लिए उपयोग मे लाई गई रीति नीति से बहुत मिलती जुलती है। १५ वीं शताब्दी से लेकर यूरोप के दुनियाभर के साम्राज्य विस्तार मे उपयोग मे लाए गए साधनो मे व्यापार एव वाणिज्य प्रमुख थे। जब कि ११ वीं शताब्दी से १५ वीं शताब्दी के मध्यमे किए गये युद्धो मे मध्यकालीन यूरोपीय ईसाई धार्मिकता की धार्मिक एव लश्करी शक्ति साम्राज्य विस्तार एव स्थायीकरण के मुख्य कारक थे।

साम्राज्य विस्तार की नई पद्धति का सन् १४९२ से पूर्व के समय का दृष्टान्त इग्लैण्ड के हेन्री सप्तम के एक दस्तावेज से मिलता है, जो सन् १४८२ मे जारी हुआ था। यह दस्तावेज ज्होन केबोट एव उसकी सन्तानो को ऐसी जगहो को कब्जे मे लेने एव उन जगहो पर राजा का झण्डा एव चिह्न स्थापित करने की अनुमति देता था जो ''कोई भी गॉव, शहर, किला या टापू या प्रमुख भूमि जो उनके द्वारा नई खोजी गई हो'', जो 'पूर्वी, पश्चिमी या उत्तरी समुद्रमे हो और जिस पर परधर्मियो या पापियो का स्वामित्व रहा हो, जो विश्व के किसी भी भाग मे स्थित हो और जिसकी जानकारी आज नक किसी भी ईसाई को न हो''। राजा ने उन्हे उनके प्रत्येक समुद्री साहस के दौरान

ऐसी जगहो पर आक्रमण करके उन्हे हस्तगत करने की एव उस पर कब्जा जमाने की सत्ता दी, इस शर्त पर कि उन जगहो की आय का पॉचवा भाग वे राजा को दे दे।[1] लगभग १४५० से ऐसे अनेको अभिलेख यूरोप के राजाओ के द्वारा जारी किए गए, एव उसकी परम्परा अशत हमारे समय तक चली।

इग्लैण्ड के द्वारा अपनाई गई विजयप्राप्ति की अजीबोगरीब रीतियो का रोचक दृष्टान्त उसके पडोसी देश आयर्लैण्ड के साथ के उसके सम्बन्धो से मिलता है। सत्रहवीं शताब्दी के प्रारम्भ मे आयर्लैण्ड के एटर्नी जनरल सर ज्होन डेविस ने अपने लेखो द्वारा आयर्लैण्ड के लिए अधिक प्रभावशाली राजनीति के सम्बन्ध मे यह सूचित किया है कि आयर्लैन्ड के विजय मे अवरोधक दो प्रमुख कारको मे एक, युद्ध के लिए की गई ढीली कार्यवाही एव दूसरा राजनीति मे शिथिलता है। क्योकि जमीन को बुआई के लिए तैयार करने के लिए प्रथम तो किसान को उसे अच्छी तरह से जोतना पडता है। और जब पूर्ण रूप से जुताई हो जाए एव उसमे खाद एव पानी अच्छी तरह से डाल दिए जाएँ तब यदि वह उसमे अच्छे बीज न बोए तो जमीन ऊसर बन जाती है एव उसमे खरपतवार के सिवा कुछ पैदा नहीं होता। इसलिए असस्कृत प्रजा को अच्छी सरकार की रचना के लिए सक्षम बनाने के लिये पहले ही उसका सामना करके उसे तोड़ना आवश्यक है। जब वह पूर्णत नियन्त्रण मे आ जाए तब यदि उसे नियमन के द्वारा व्यवस्थित न किया जाए तो वह प्रजा बहुत जल्दी ही अपनी असस्कारिता पर उतर आती है।[2]

४

लगभग सन् १५०० से यूरोप का विस्तार केवल पश्चिम ही नहीं, पूर्व की ओर भी हुआ। पश्चिम की ओर उसका ध्यान अमेरिका की विशाल जमीन, उसकी खनिज सम्पत्ति तथा वन्य सम्पत्ति पर था। जिसके कारण अमेरिका के समीप स्थित द्वीपो पर तथा उत्तर, मध्य एव दक्षिण अमेरिका के पूर्वी खण्ड़ के प्रदेशो पर यूरोपवासियो की बस्तियॉ बढने लगीं। कहा जाता है कि सन् १४९२ मे जब यूरोप को अमेरिका खण्ड की जानकारी हुई तब वहॉ रहनेवालो की सख्या लगभग ९ से ११ २ करोड थी। जब कि यूरोप की जनसख्या उस समय लगभग ६ से ७ करोड़ थी।[3]

उस समय अमेरिका के निवासी स्थानीय लोगो का जब तक लगभग सर्वनाश नहीं हुआ तब तक अर्थात् अनुमानत ४०० वर्ष तक यूरोप ने उनसे असख्य युद्ध किए। उन्हे गुलाम बनाने तथा उन्हे खदानो मे तथा नए शुरू किए गए खेती इत्यादि काममें मजदूर के रूप में उपयोग मे लेने के बहुत प्रयास किये। परन्तु उनकी यह योजना

यशस्वी नहीं हुई, क्योकि गुलाम बनने की अपेक्षा अपने विनाश को उन्होने अधिक श्रेष्ठ माना।

इन युद्धो से भी एक अन्य भीषण बात स्थानीय अमेरिका वासियो के लिए यह थी कि यूरोप से आनेवाले नवागन्तुक अपने साथ रोग भी लाए जो इन स्थानीय लोगो के लिए जानलेवा सिद्ध हुए। उदाहरणार्थ यूरोप के देशो मे उस समय शीतला, चेचक, क्षय, मलेरिया, पीतज्वर, विषमज्वर के विभिन्न प्रकार तथा अनेक ससर्गजन्य गुप्त रोगो ने भीषण जानहानि की। इसके साथ ही सन् १६१८ के आसपास उत्तर अमेरिका के न्यू इग्लैण्ड मे प्लेग की महामारी फैली। यूरोपीयो के ससर्ग मे आने से पहले अमेरिका के स्थानीय लोगो ने इस प्रकार के रोगो के जीवाणुओ का सामना नहीं किया था, इसलिए उनमे रोग प्रतिकारक शक्ति का अभाव था। परिणाम स्वरूप स्थानीय लोगो की बस्तियो का सफाया हो गया।[४]

अमेरिका के मूल स्थानीय लोगो का बडे पैमाने पर होने वाला सफाया सन् १६२५ मे न्यू इग्लैण्ड मे आनेवाले अग्रेज के लिए तो जैसे 'ईश्वर की लीला' थी। उसने सोचा कि इस पतन के कारण 'यह पूरा प्रदेश अग्रेजो को बसने के लिए एव प्रभु की कीर्ति बढानेवाले मदिर बनवाने के लिए अधिक उत्तम हो गया है।' उसी समय एक अग्रेज ने कहा कि 'प्रभु ने यह प्रदेश हमारे लिए ही खोज दिया है एव अधिकाश स्थानीय लोगो को घातकी युद्धो द्वारा तथा जानलेवा बीमारियो के द्वारा मार डाला है।'[५] पचास वर्ष बाद न्यूयोर्क के एक वर्णन मे कहा गया 'सामान्य रूप से ऐसा देखा गया है कि जहाॅ अग्रेज स्थायी होना चाहते है वहाॅ दैवी हाथ उनके लिए रास्ता बना देता है। या तो वे भारतीयो (अमेरिका के मूलनिवासी) को आन्तरिक युद्धो के द्वारा या जानलेवा बीमारियो के द्वारा नष्ट कर देता है।' और लेखक ने जोड़ा, ''यह सचमुच प्रशसनीय है कि जब से अग्रजो ने वहाॅ निवास करना प्रारम्भ किया तब से ही वहाॅ के निवासियो का आश्चर्यजनक रूप से ईश्वर के हाथो नाश हुआ एव उनकी सख्या कम होती गई। क्यो कि हमारे समय मे जहाॅ छ नगर थे उसकी जनसख्या घटकर अब दो छोटे छोटे गाॅवो मे सिमटकर रह गई है।''[६]

अठारहवीं शताब्दी के मध्य मे या कदाचित् उससे भी पूर्व, यूरोप से जानेवाले नवागन्तुको ने अपना शीतला, प्लेग जैसा जानलेवा रोग उस समय के अमेरिका के स्थानीय लोगो मे जानबूझकर फैलाया। ब्रिटन के सेनापति द्वारा सन् १७६३ मे जानबूझकर शीतला का रोग उत्तर अमेरिका मे डाला गया। वे कैदियो को बदमाश मानते थे एव उनकी इच्छा ऐसी थी कि कोई भी बदमाश जीवित नहीं रहना चाहिए। उसे ऐसा

समाचार भी मिला था कि फोर्ट पिट मे शीतला का रोग फैल गया है तब उसे लगा कि यह रोग उनके लिए लाभदायी सिद्ध हो सकता है। यह जानकर ब्रिटन के सैन्य के एक अन्य अधिकारीने ऐसा भी कहा 'मे इस रोग के जीवाणुओ को कैदियो के कम्बलो मे फैला दूगा जिससे यह रोग उन्हे मार डाले। साथ ही साथ मै यह सावधानी भी रखूगॉ कि मुझे इस रोग का सक्रमण न लगे।'[७] इस प्रकार, बीसवीं शताब्दी की दुश्मन देशो मे रहनेवाले मनुष्य, प्राणी तथा वनस्पति जगत मे जानलेवा बीमारी फैलाने की प्रथा के मूल पुरानी यूरोपीय सस्कृति मे रहे होगे ऐसा लगता है।

५

यूरोपीयो ने जब अमेरिका की खोज करने के बाद वहॉ बसना प्रारम्भ किया तब उन्हें मजदूरो की बहुत आवश्यकता पडने लगी। अमेरिका के जो थोडे बहुत निवासी बचे थे उनसे मजदूरी का काम नहीं करवाया जा सकता था। यूरोपीय स्वय तो खदान मे काम करने, जगल काटने या खेतीबाड़ी का काम करने जैसे परिश्रमी काम करने के लिए सक्षम नहीं थे। इसलिए उन्होने पश्चिम तथा मध्य आफ्रिका के काले युवको और प्रौढो को पकडना शुरू किया। जो इस पकडने के हिसक दौर से बचे उन्हे जोर जबरदस्ती से गुलाम बनाया गया। इन गुलामो को जहाजो द्वारा अमेरिका भेजा गया। सन् १५०० से सन् १८७० के दौरान अमेरिका या अटलान्टिक महासागर के द्वीपो पर वास्तविक पहुँचे हुए ऐसे गुलामो की सख्या उस समय की समुद्रयात्रा से सम्बन्धित टिप्पणियो के अनुसार १ करोड़ जितनी है।[८] यदि हम विभिन्न प्रक्रियाएँ जैसी कि गुलामो को पकडना, अन्दरूनी क्षेत्रो से आफ्रिका के समुद्रतट पर लाना, जहाजो पर चढाना और लम्बी समुद्री यात्रा करवाना इत्यादि के दौरान मरनेवाले लोगो की गिनती का एक सामान्य अनुमान लगाएँ तो गुलामी की इस प्रक्रिया से प्रभावित काली आफ्रिकन प्रजा की सख्या लगभग पॉच करोड़ तक पहुँचेगी। कदाचित् यह सख्या दस करोड़ जितनी भी होगी। यद्यपि इस अनुमान मे आफ्रिका के प्रभावित क्षेत्रो की सामाजिक व्यवस्था मे पैदा हुए विघटन या उनके समाज मे हुई पुरुषो की सख्या की बहुत बडी मात्रा मे कमी को या यूरोपीयो की घूसखोरी से प्रसूत नए रोगो को तो गिनती मे लिया ही नहीं गया है।

सन् १७७० मे ऐसे गुलामो की प्रतिशत मे सख्या उस काल के ब्रिटिश तथा फ्रासीसी केरेबियन मे ९१ प्रतिशत थी वह उत्तर अमेरिका मे २२ प्रतिशत एव दक्षिणी यूनाइटेड़ स्टेटस मे ४० प्रतिशत थी।[९] सन् १७९० मे उस समय के यू एस ए मे गुलामो की सख्या कुल प्रजा के १९ ३ प्रतिशत थी जबकि यूरोपीयो की सख्या ८० प्रतिशत

थी। सन् १९०० तक यू एस ए मे आफ्रिकनो का अनुपात कम होकर ११ ८ प्रतिशत जितना था।[१०] अमेरिका के मूल स्थानीय लोगो को १७९० और १९०० मे गणना मे नहीं लिया गया था।

इसके अतिरिक्त यूरोप के स्त्री पुरुष जिन्हे सन् १९०० तक ब्रिटन मे नीचले वर्ग का माना जाता था, उन्हे भी कुछ वर्षो तक के करार पर जबरदस्ती नोकरी पर रखा गया एव बाद मे अमेरिका भेज दिया गया। यूरोपीयो के हमवतनी होने से उनकी स्थिति कम त्रासदीयुक्त तथा कुछ अच्छे भविष्य की वचनबद्धता से युक्त थी। निश्चित समयसीमा पूर्ण होने पर उन्हे मुक्त करके कुछ भूमि देकर स्वतन्त्रतापूर्वक काम करने की अनुमति दे दी जाती थी। सन् १६५५ से सन् १६७८ के दौरान बिस्टोल के इग्लैण्ड के बन्दरगाह से उत्तर अमेरिका मे ले जाए जानेवाले ऐसे नौकरीपेशा लोगो की वार्षिक सख्या अनुमानत ४०० थी। सन् १६८४ मे लदन से लाए जानेवाले मजदूरो की सख्या ७६४ थी एव सन् १७४५ से १७७५ के दौरान जो नौकरीपेशा लोग ब्रिटन से उत्तर अमेरिका के एनापोलिस शहर मे पहुँचे उनकी सख्या १९,९२० थी उनमे ९,३६० ऐसे लोगो का समावेश था जिन्हे अपराधी होने का ठप्पा लगाया गया था।[११]

उन्नीसवीं शताब्दी मे भारत से ऐसे नोकरीपेशा लोगो को ब्रिटन के आधिपत्य मे स्थित दक्षिण पूर्व एशिया, दक्षिण आफ्रिका एव अटलाण्टिक महासागर के टापुओ पर बड़े पैमाने पर भेजा गया वह इस यूरोपीय प्रथा की केवल नकल ही थी।

यूरोप मे ऐसे गुलामो की सस्थाएँ प्राचीनकाल से ही अस्तित्व मे थीं। प्राचीन ग्रीस के तथा ईसा पूर्व के रोम के राज्य मे गुलामी की प्रथा बडे पैमाने पर अमल मे थी। ईसा पूर्व ४३२ या उससे भी पूर्व के एथेन्स मे अर्थात् लगभग सोक्रेटिस के समय मे गुलामो की सख्या १,१५,००० थी, जबकि उस समय उसकी समग्र जनसख्या ३,१७,००० थी। इसके अतिरिक्त वहाँ ३८,००० मेटीक (एक गुलाम जाति) एव उनके परिवार भी थे। ऐसा अनुमान है कि स्पार्टा मे गुलामो का अनुपात बहुत अधिक था। सन् ३७१ इसा पूर्व मे स्पार्टा मे अर्थात् प्लेटो के युग मे गुलाम (जो कि हेलोट कहलाते थे) की सख्या १,४०,००० से २,००,००० तक थी एव पेरीओकी, गुलाम के समान, की सख्या ४०,००० से ६०,००० थी। जब कि वहाँ कुल जनसख्या १,९०,००० से २,७०,००० थी। इसमे स्पार्टा के सम्पूर्ण नागरिक अधिकार युक्त लोगो की सख्या तो केवल २५०० से ३००० थी एव सीमित अधिकार वाले स्पार्टा के लोगो की सख्या १५०० से २००० थी।[१२]

६

एशिया मे यूरोप का बढता हुआ वर्चस्व

यूरोप ने अमेरिका मे अपने आधिपत्य का विस्तार किया एव आफ्रिका मे भी घूसखोरी शुरू की इसके साथ ही उसने पूर्व की ओर स्थित एशिया मे भी अपना विस्तार शुरू किया। भारत पहुँचने का समुद्री मार्ग खोजा गया उसके दस बारह वर्षो मे ही यूरोप ने गोवा तथा उसके आसपास के प्रदेशो पर अपना कब्जा जमा लिया। सोलहवीं शताब्दी के मध्य मे विशाल विजयनगर के राजकर्मियो ने शस्त्रो के लिए पुर्तगालियो का आधार लिया, तो सत्रहवीं शताब्दी के प्रारम्भ मे मुगल सम्राट जहागीर, एक ओर पश्चिम भारत एव पर्शिया की खाडी तो दूसरी ओर अरेबिया के समुद्री मार्ग मे अवरोध रूप बने हुए समुद्री डाकुओ को दूर करने के लिए अग्रेजो की सहायता ले रहा था। इससे भारत पर यूरोप का उस समय कैसा प्रभाव था इसका अनुमान लगाया जा सकता है। सन् १५५० तक तो श्रीलका, मलेशिया, थाईलैण्ड़ एव इण्डोनेशिया के टापु तथा उसके आसपास के प्रदेशो मे यूरोप की उपस्थिति दिखने लगी थी।

ऐसा लगता है कि सत्रहवीं शताब्दी मे तो यूरोपने आफ्रिका के दक्षिण तथा पूर्व समुद्री किनारो के प्रदेशो पर अपना वर्चस्व स्थापित कर दिया था। यह सब भिन्न भिन्न इस्ट इडिया कपनियो के माध्यम से किया गया था। यूरोप के भिन्न भिन्न राज्यो के द्वारा प्रेरणा दी गयी या उन प्रदेशो मे कम्पनी चलाने के लिए लिखित परवाने दिए गए। साथ ही इन कपनियो को यूरोप की स्थलसेना तथा नौसेना द्वारा सरक्षण दिया गया।

उस काल के एक लेखक के मतानुसार 'सन् १६८७ से भी बहुत पहले से ही सियाम (थाइलैण्ड) सरकार की दीवानी तथा लश्करी शाखाओ मे अग्रेजो ने विश्वास सम्पादित किया था।' एक अग्रेज मिरजू तथा ताना करीम मे 'शोबदर या आयात विभाग का उपरी अधिकारी' था तो दूसरा अग्रेज 'राजा के नौकादल के सेनापति' के समान ऊँची पदवी पर था।[१३] सत्रहवीं शताब्दी मे जब डच एव पुर्तगालियो की प्रमुख सत्ता दक्षिण पूर्वी एशिया पर थी तब उन्होने अपने वर्चस्वयुक्त क्षेत्रो मे ऐसे अनगिनत पद प्राप्त किए थे।

आफ्रिका का यूरोप के राष्ट्रों के बीच बडे पैमाने पर किया गया विभाजन तो उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध मे हुआ, परन्तु यूरोप की आफ्रिका मे घूसखोरी एव उसके वर्चस्व का बीज तो सोलहवीं शताब्दी के प्रारम्भ मे ही पड़ गया था। भारत, दक्षिण पूर्व तथा दक्षिण एशिया पहुँचने का मार्ग खोजे जाने के तुरन्त बाद ही आफ्रिका के पश्चिम,

दक्षिण एव पूर्वी समुद्री किनारो पर थोडी थोडी दूरी पर उनकी छावनी स्थापित की गई। लगभग १४५० से अस्तित्व मे रही आफ्रिकनो को गुलाम बनाकर पहले भूमध्य सागर के टापुओ पर एव वहॉ से अमेरिका ले जाने की प्रथा के कारण यूरोप की घूसखोरी आफ्रिका के हार्द तक पहुँच गई। इसके बाद यूरोपीय वसाहतो के अनुकूल स्थान सर्व प्रथम दक्षिण आफ्रिका मे खोजे गये। सन् १७०० तक बहुत स्थानो पर ऐसी बस्तियॉ बन गईं जिसके कारण वहॉ यूरोपीयो का पूर्ण वर्चस्व स्थापित हुआ।

अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध मे ओस्ट्रेलिया तथा उसके आसपास के टापुओ मे भी उन्होने प्रवेश किया, और जो स्थिति अमेरिका की हुई उसीका पुनरावर्तन वहॉ भी हुआ।

लगभग सन् १७०० तक तो भारत के प्रमुख क्षेत्रो मे यूरोप द्वारा कोई बडा हस्तक्षेप नहीं किया गया था। कदाचित् भारत बहुत विशाल एव विविधतापूर्ण देश था एव चीन तो उससे भी अधिक, इसलिए प्रयास कदाचित यही हुए होगे कि पहले भारत को बाहर की तरफ से घेरा जाए, उसके अन्य प्रदेशो के साथ सम्पर्क काट दिए जाएँ एव मौका मिलने पर उस पर सीधा आक्रमण किया जाए। ऐसी हलचल भले ही अठारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ मे ही हुई हो, परन्तु प्रमुख आक्रामक क्रियाकलाप तो सन् १७५० के आसपास ही शुरू हुए। प्रारम्भ मे मद्रास एव उसके दस वर्ष बाद बगाल मे इसका प्रारम्भ हुआ। इसके बाद इस विजय प्राप्ति का सिलसिला एक शतक तक अर्थात् १८५० तक अविरत चलता रहा। चीन भारत की अपेक्षा अधिक विशाल एव दुर्गम होने के कारण यूरोप का चीन मे हस्तक्षेप १८०० के बाद ही शुरू हुआ। १८५० तक तो यूरोप ने समग्र विश्व पर अपना प्रभुत्व प्राप्त कर लिया।

७

भारतीय समाज एव राज्य व्यवस्था मे प्रवेश

अमेरिका एव आस्ट्रेलिया के मूल निवासियो का लगभग सम्पूर्ण विनाश, पश्चिम एव मध्य आफ्रिका के राजनैतिक, सामाजिक तथा सास्कृतिक जीवन मे भयकर दखल, जहॉ युवको तथा वयस्क पुरुषो को व्यापार की वस्तु के रूप मे गिना जाता था, उन सब की तुलना मे यूरोप का एशिया के प्रति व्यवहार बहुत ही 'सुसस्कृत' कहा जा सकता है। सन् १४९८ से पूर्व के ऐशिया के मूल निवासियो के उत्तराधिकारी, यूरोप ने वहॉ पहुँचने का मार्ग खोजा उसके ५०० वर्ष बाद भी उसी भूमि पर निवास करते हैं। एशिया के

प्रदेशो पर यूरोप का प्रभाव निरन्तर दिखाई देता रहा। वहाँ के लोग यूरोपीयो के हमल के सामने टिक तो पाए परन्तु मानसिक तथा सामाजिक स्तर पर वे टूट गए।

भारत का एक प्रमुख लक्षण है जातिव्यवस्था। यह व्यवस्था भौगोलिक रूप स स्थान से सम्बन्धित है एव सामाजिक रूप से समूह अथवा समुदाय केन्द्रित है। इसक तुलना मे यूरोप की रचना व्यक्ति केन्द्रित है। सन् १९४७ मे ऐसी बस्तियो की सख्य लगभग ७,००,००० थी। यह सख्या हजार या दो हजार वर्ष पूर्व भी कदाचित् बहु भिन्न नहीं होगी। भिन्न भिन्न बस्तियो मे विभाजित एव भारत के भिन्न भिन्न स्थानो प भिन्न भिन्न नामो से पहचानी जाने वाली ऐसी मूल जातियो की सख्या कदाचित् १०० स अधिक नहीं है। ऐसी जातियो की भिन्न भिन्न उपजातियो एव बस्तियो के सम्बन्ध ए परस्परावलम्बन से ही भारत की समाज रचना बनी है। यह केवल हिन्दुओ की ही (ज कि भारत के ८५ प्रतिशत लोग है) बात नहीं है। जो इस्लाम या इसाई पन्थ मे क्रमश गत ८०० से २०० वर्षो मे धर्मान्तरित हुए हैं वे भी लगभग इसी प्रकार की समाज रचन मे सगठित हुए हैं।

जाति विषयक इतनी जानकारी से स्पष्ट है कि भारत अपने प्रत्येक प्रान्त य बस्ती मे रहनेवाले समूह की सहमति के आधार पर स्थापित समाज है। भारत की राज्य व्यवस्था जो गत २००० वर्षो से भी अधिक वर्षो से रचित है वह, इन बस्तियो तथ प्रान्तो में बसने वाले समूहो के आपसी सम्बन्ध, तथा उससे उद्भूत सहमति ही भारतीय 'धर्म' की सकल्पना के मुख्य तत्त्व हैं। इसका अर्थ यह नहीं है कि वहाँ बस्तियो य प्रान्तो के बीच या धर्म के विभिन्न अर्थघटनो को लेकर कोई मतभेद नहीं था, परन् भारतीय मानस जीवन के प्रति इस प्रकार के सर्वसामान्य एव मूलभूत दृष्टिकोण के द्वार रचित है जो स्थानीय तनाव तथा आपसी मतभेदो पर स्वाभाविक रूपसे ही नियन्त्रण कर सकता है।

इस से लगता है कि भारतीय समाज एक मद गति से बहता हुआ अचल प्रवाह है जो घटनाओ रूपी अवरोधो से अपनी दिशा नहीं बदलता है। आपसी सहमति, समानत एव सन्तुलन भारत के लिए *नवीन भविष्य के अतिशय मोहक प्रतिबिम्ब* से भी अधिक महत्त्वपूर्ण रहे हैं। ऐसा नहीं है कि कोई बदलाव या परिवर्तन ही नहीं है, परन्तु वे भारतीय समाज मे तभी आवकार्य रहे जब उन्होने उनकी आपसी सहमति या सन्तुलन को बनाए रखा। इसलिए भारतीय राजकर्ता की भूमिका केवल एक मार्गदर्शक की या फिर प्लेटो द्वारा दर्शाए गए आदर्श पुरुष की या तो एक नियामक की है जो एक प्रबन्धकर्ता के रूप मे रहकर स्थानीय या प्रान्तीय लोगो के रीति रिवाज एव पसन्द, नापसन्द के अनुसार कार्य

करे। यह एक ऐसी सास्कृतिक राज्य व्यवस्था है जो अपने विविध भागो के बीच समान मूलभूत विचार तथा लक्ष्य से युक्त है। फिर भी उनके बीच का जोड सूत के तन्तु के समान नरम एव मजबूत है। 'चक्रवर्ती' का विचार भारत के एक होकर मिलजुल कर रहने का स्वभाव तथा उसके अभिजात समाज का प्रतीक है ऐसा भासित होता है। चक्रवर्ती के प्रतीक ने कदाचित यह एकचक्री राज्यव्यवस्था को शक्ति एव अजेयता प्रदान की है।

यह राज्य व्यवस्था भारत मे पुरातन काल से चली आ रही है। यूरोपीयो की कल्पना ऐसी है कि भारतवासी मूल भारत के नहीं है। (उनके मतानुसार कदाचित् भारत मे भी अमेरिका के समान आक्रमण हुए होगे।) परन्तु ऐसा कहना अधिक सही होगा कि प्राचीन भारतवर्ष का एक भाग भारत, एक ऐसा देश है जिस पर कदाचित् कम से कम आक्रमण हुए होगे। जब कि ऐसा भी नहीं है कि यहॉ के सभी भारतवासी एक ही स्रोत से आए हो। कुछेक परदेशियो ने समयान्तर मे भारत मे प्रवेश भी किया था। जिनमे सबसे बाद के विदेशी भारत के पश्चिम मे स्थित सीमावर्ती प्रदेश से आए थे। फिर भी लगभग बारहवीं शताब्दी के अन्त तक तो भारत का शासन प्रशासन अपने ही राज्य कर्ताओ तथा अपनी ही राज्य व्यवस्था के द्वारा चला। तेरहवीं शताब्दी से अठारहवीं शताब्दी के दौरान मुगलो द्वारा किए गए आक्रमण या उनका वर्चस्च भारत पर होने के बावजूद भी वे भारत की सामाजिक अर्थव्यवस्था को हानि नहीं पहुँचा पाए थे। परन्तु ज्यो ज्यो समय बीतता गया त्यो त्यो मुगलो का हस्तक्षेप भारतीय समाज पर बढता गया। कुछ हद तक समाज दुर्बल व भीरू बनता गया। जिसके कारण वह अपनी आन्तरिक शक्ति के विषय मे सशयग्रस्त बनता गया। यद्यपि इस दुर्बलता या अनिश्चितता के मनोभाव का मूल कदाचित भारत की प्राचीन पद्धति मे भी हो। १९ वीं शताब्दी के प्रारम्भ तक भारत की शूरवीरता कुछ हद तक टिकी रही। ब्रिटन के आधिपत्य के प्रारम्भ के उसके राज्यप्रबन्ध के विषय मे भारतवासियो द्वारा अवश्य विरोध किया गया, क्यो कि उनका व्यवहार भारतीय नियमो के अनुसार 'अन्यायपूर्ण' था। इस विरोध के द्वारा उन्हे समझाया गया कि वे जो कर रहे है उस 'अन्यायपूर्ण व्यवहार' को बदलकर भारतीय नियमो के अनुसार चले। इसके लिए महात्मा गाधी द्वारा सूचित 'सत्याग्रह' के विशिष्ट प्रयोग जैसे असहयोग, बहिष्कार, या सविनय कानूनभग इत्यादि भी शुरू हुए। किसानो, मजदूरो नगरवासियो, द्वारा ऐसे अनेक प्रकार के विरोध का प्रदर्शन किया गया। एक विशिष्ट उदाहरण के रूप मे १८१०-११ मे प्राचीन वाराणसी तथा वर्तमान उत्तरप्रदेश तथा बिहार के कुछ नगरो के आवासो पर ब्रिटिश राज्य द्वारा 'कर' लगाया गया। उस समय का वृत्तान्त दर्शाता है कि उस 'कर' के विरोध मे किसानो, एव मजदूरो, विशेष करके सुनार, लुहार जैसे धातु से

सम्बन्धित कारीगरो एव कुछ तन्त्रज्ञो ने भी भाग लिया था। जिसमे लगभग २०,००० लोगो ने कई दिनो तक वाराणसी मे धरना दिया था और कहा जाता है कि पडोस के शहरो से लगभग २,००,००० लोग वहॉ एकत्र हुए थे। मरघट के डोम ने भी अपना काम बन्द कर दिया था एव मृतदेहो को भी बिना अन्तिम सस्कार किए ही गगा मे प्रवाहित कर दिया गया था।[१४] भारत के लगभग सभी प्रान्तो मे ऐसे अनेको विरोध ब्रिटिश राज्य के प्रारम्भ मे किए गए। सन् १८४३ मे सूरत शहर मे ब्रिटिश सरकार द्वारा 'नमक पर कर' लगाया गया तब वहॉ भी उसका अप्रत्याशित विरोध किया गया था।[१५]

ब्रिटिश एव यूरोपीयो के मतानुसार सत्रहवीं एव अठारहवीं शताब्दी मे भारत की आन्तरिक स्थिति कुछ ऐसी थी। उस समय प्रजा राज्यकर्ता के दबाव मे नहीं थी। उल्टे राज्यकर्ता प्रजा के दबाव मे रहता था।[१६] राज्यकर्ता के अन्यायपूर्ण व्यवहार करने पर उस समय के नियम के अनुसार उसे बदल दिया जाता था। यही कानून राजा एव प्रजा के सम्बन्धो मे आन्तरिक सभ्यता बनाए रखने मे सहायक था। प्रथा ऐसी थी कि जब कोई मुलाकाती आए तो अतिथि तथा यजमान दोनो एकदूसरे को भेट देते थे। उसमे मेहमान द्वारा लाई गई भेट सामान्य रूप से कम महगी व छोटी होती थी परन्तु यजमान द्वारा उसे कीमती भेटसौगाते दी जाती थीं। ऐसी ही सभ्यता न्यायालयो मे भी कायम थी। वहॉ आनेवाला प्रत्येक व्यक्ति जाते समय पान सुपारी की अपेक्षा करता था जो उसे अवश्य दिया जाता था।[१७]

८

आज भारत मे जो विद्यमान एव दृश्यमान हैं वैसे सोलहवीं शताब्दी मे बनवाए गए भव्य मन्दिर, दसवीं शताब्दी के प्रारम्भ मे मद्रास के पास उत्तर मैसूर मे स्थित भारत की राज्यव्यवस्था से सम्बन्धित असख्य शिलालेख, वहॉ के छोटेबडे फव्वारो की कला-कारीगरी, दिल्ली के अशोकस्तम्भ जैसे अनेकानेक लोहस्तम्भ, ये सब भारतीय सस्कृति के भौतिक चिह्न हैं। यद्यपि भारत के या पश्चिम के साहित्य मे इसका बहुत उल्लेख नहीं है, तो भी सन् १८०० तक भारत की अधिकाश बस्तियों मे तथा कई प्रान्तो मे ऐसे सास्कृतिक चिह्नो के निर्माण का काम हो रहा था। सम्भव है कि इस सस्कृति की जो भव्यता बारहवीं शताब्दी मे चरम उत्कर्ष पर थी उसकी सुन्दरता एव व्यापकता धीरे धीरे कम होने लगी थी। लगभग सन् १८०० तक भले ही ये कलाकृतियॉ अपनी भव्यता खो चुकी थीं फिर भी व्यापकता यथावत् थी।

भारत का इतिहास दर्शाता है कि उसका विकेन्द्रीकरण अभी जिसे जिला कहते

है ऐसे ४०० छोटे प्रान्तो मे एव भाषा तथा सस्कृति के आधार पर १५ से २० प्रान्तों मे बहुत पहले से ही हुआ था। भारत के कई प्रान्त तथा जिलो मे सूत, रेशम तथा ऊन कातने, रगने, उसका कपडा बुनने एव उसे छापने का काम बहुत बडे पैमाने पर चलता रहा। लगभग सभी अर्थात् ४०० जिलो मे कपडा तैयार किया जाता था। सन् १८१० के आसपास दक्षिण भारत के सभी जिलो मे १०,००० से २०,००० के लगभग हथकरघे थे।[१८] एक सामान्य अनुमान के अनुसार उस समय भारत मे लोहे तथा फौलाद के उत्पादन के लिए १०,००० के लगभग भट्टियाँ थीं। उन्नसवीं शताब्दी के प्रारम्भ के दशको मे भारत मे उत्पादित फौलाद बहुत उच्च गुणवत्तायुक्त माना जाता था। ब्रिटिश लोग शल्यक्रिया के साधन (Surgical Instruments) बनाने मे उसी फौलाद का उपयोग करते थे। यह फौलाद एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाई जा सके ऐसी भट्टियो मे बना हुआ था जिन की क्षमता एक वर्ष मे ४० सप्ताह काम करके २० टन जितने उत्तम कक्षा के लोहे का उत्पादन करने की थी। उस समय सोना, चादी, पीतल एव कासे का काम करनेवाले कई कारीगर थे। साथ ही अन्य धातुओ का काम करनेवाले कारीगर भी थे। ऐसे लोग भी थे जो कच्ची धातु की खानो मे काम करते थे और विभिन्न धातु का उत्पादन करते थे। कुछ लोग पत्थरो की खान मे काम करते थे। उस समय शिल्पियो, चित्रकार, मकान बनानेवाले कारीगर भी थे। साथ ही चीनी, नमक, तेल तथा अन्य वस्तु का उत्पादन करनेवाले (लगभग एक प्रतिशत लोग) भी थे। सन् १८०० से एव उसके आसपास हस्तकला तथा अन्य उद्योगो के १५ से २५ प्रतिशत भारतीय विभिन्न प्रान्तो मे कम अधिक मात्रा मे थे। इसके अतिरिक्त कुछ समय सूत कातने का काम भी चलता था। चरखे पर २५ घण्टे कातकर जितना सूत बनता था उससे कपडा बुनने के लिए ८-घण्टे लगते थे। बुनाई मे लगभग सम्पूर्ण बस्ती के ५ प्रतिशत लोग लगे हुए थे। इस से लगता है कि भारत के लगभग सभी क्षेत्रो मे चरखा चलाने का काम वर्ष भर चलता होगा।

मनुष्य तथा पशुधन के स्वास्थ्य के सम्बन्ध मे भारत के पास ओषधिया तथा शल्य क्रियाकी सुप्रस्थापित प्राचीन पद्धति थी। सन् १८०० के आसपास के समय मे मोतियाबिन्दु तथा प्लास्टिक सर्जरी का काम भारत के भिन्न प्रान्तो मे होता ही था। ब्रिटन मे एक शोधक ने कहा है कि लगभग १७९० के बाद भारतीय प्लास्टिक सर्जरी के अध्ययन के आधार पर ब्रिटन मे वर्तमान आधुनिक प्लास्टिक सर्जरी की पद्धति का विकास किया गया।

चेचक निवारण टीकाकरण की व्यापक भारतीय पद्धति का ब्रिटिश मुलाकातियो ने या अठारहवीं शताब्दी के मध्यमे भारत मे रहनेवाले ब्रिटिश लोगो ने उपयोग किया एव

ब्रिटन के चिकित्साकर्मियो के लिए उपयोगी बनाने के उद्देश्य से उसका विस्तार से वर्णन किया है।

विशेष बात यह है कि ब्रिटिश मुलाकातियो या विशेषज्ञो द्वारा जिस किसी भी भारतीय पद्धति का विवरण किया गया है वह सब उस समय की ब्रिटिश पद्धतियो मे सुधार करने हेतु था। अमुक पद्धतियाँ कितनी लाभकारी है यह सूचित करने हेतु उसका विवरण किया गया। लगभग १७७० के आसपास बगाल के ब्रिटिश कमाण्डर इन चीफ की ओर से ब्रिटिश रोयल सोसायटी को विस्तार से दी गई जानकारी एक पत्र के रूप मे थी। उसमे प्रमुख रूप से इलाहाबाद के गरम जलवायु को ध्यान मे रखकर कृत्रिम बर्फ के उत्पादन की प्रक्रिया बताई गई थी। ऐसे उदाहरण तो अनेक है। उदाहरण के तौर पर बोर्ड ऑव् एग्रीकल्चर, लन्दनको, ब्रिटनमे १७९५ मे प्रारम्भ हुए बीज तथा बीजाकुरण विषयक प्रयोगो के लिए उपयोगी, दक्षिण भारत मे होनेवाले कुछेक बीजप्रयोगो का विवरण भेजा गया था। भारतीय चूना एव कपडे के रगो के घटक तथा उसकी समग्र पद्धति तथा लोहे के उत्पादन की पद्धति का निरूपण ब्रिटन मे अपनाई जानेवाली तत्कालीन पद्धति मे सुधार लाने हेतु भेजा गया था।[१९] जब ब्रिटन मे लगभग सन् १८०० के आसपास साधारण बच्चो की शिक्षा हेतु प्रयास प्रारम्भ किए गए तब भारत मे सत्रहवीं एव अठारहवीं शताब्दी के दौरान प्रचलित 'प्रमुख छात्र पद्धति' (monitor system) की ओर कुछ यूरोपीयो का ध्यान गया था। ब्रिटन को प्रारम्भ मे इसी पद्धति पर निर्भर रहना पडा था।[२०]

हिन्दुस्तानी बस्ती का अधिकाश भाग खेती एव पशुपालन पर निर्भर था। जबकि अधिकाश प्रदेशो मे आधे से अधिक जनसख्या खेती के व्यवसाय मे ही थी। पूर्व मे उल्लेख हुआ है उसके अनुसार खेती के उपकरण आधुनिक युक्तिपूर्वक तैयार करके उपयोग मे लाए जाते थे। खेती की पद्धतियो में बहुत वैविध्य दिखाई देता था। जैसे कि बीज का चयन, उसकी देखभाल, विविध उर्वरक, बुआई, तथा सिचन इत्यादि पद्धतियों की विभिन्न विकसित एव युक्तिपूर्ण पद्धतियाँ अपनाकर भारत का किसान प्रचुर मात्रा मे फसल प्राप्त करता था। १८०३ के ब्रिटिश अहवाल के अनुसार इलाहाबाद वाराणसी क्षेत्र की खेती की उपज एव ब्रिटन की खेती की उपज की तुलना करने पर ब्रिटन मे गेहूँ की पैदावार से यहाँ तीन गुना अधिक पैदावार दर्ज की गई थी। तमिलनाडु के चेगलपट्टु जिले मे किये गये सर्वेक्षण के अनुसार १७७० के लगभग की धान की प्रति हेक्टर औसत पैदावार ३ से ४ टन थी। जब कि जिले की उत्तम प्रकार की जमीन मे यह पैदावार ६ टन जितनी थी। उल्लेखनीय है कि विश्व में आज भी धान का सर्वश्रेष्ठ

उत्पादन प्रति हेक्टर ६ टन ही दर्ज किया गया है।

सन् १८०० के आसपास देखी जाने वाली खर्च एव उपभोग प्रणाली से भी कुछ तुलना एव सन्तुलन बिठाया जा सकता है। इसके लिए १८०६ मे दर्ज की गई बेलारी एव कुडाप्पा जिले की विस्तृत जानकारी उपलब्ध है। पूरा जनसमाज तीन भागो मे बँटा है। उच्च वर्ग, मध्यम कक्षा के निर्वाहक साधनो से परिपूर्ण मध्यम वर्ग, निकृष्ट साधनो से निर्वाह करनेवाला निम्न वर्ग। बेलारी जिले मे उच्च वर्ग मे समाविष्ट लोगो की सख्या २,५९,५६८ थी। मध्यम वर्ग की ३,७२,८७७ एव निम्न वर्ग की सख्या २,१८,६८४ थी। इन वर्गों का प्रति परिवार वार्षिक औसत उपभोक्ता खर्च ६९ ३७ ३० के अनुपात मे था। सभी परिवारोमे अनाज का उपभोग समान था। परन्तु अनाज की गुणवत्ता एव भिन्नता के कारण उपभोक्ता खर्च का अनुपात भिन्न दिखाई देता है। उपभोग की सामग्री की सूची मे २३ वस्तुओ के नाम थे, जिसमे घी, एव खाद्यतेल का अनुपात लगभग ३ १ १ था, जबकि दाल तथा अनाज ८ ३ ३ के अनुपात मे खर्च होता था।[२१]

९

अठारहवीं शताब्दी के मध्य के भारतीय समाज की राजनैतिक एव आर्थिक स्थिति को १७६७-१७७४ के दौरान तमिलनाडु के चेगलपट्टु जिले के ब्यौरेवार सर्वेक्षण के द्वारा समझा जा सकता है।[२२] जबकि यह ब्रिटिशरो के द्वारा बहुत विस्तार से किया गया प्रथम सर्वेक्षण था। उस समय वे हिन्दुस्तान की तत्कालीन सामाजिक स्थिति, उत्पादन प्रणालियो एव औद्योगिक ढॉचे के आन्तर्सम्बन्धो से लगभग अनजान थे। इसलिए यह सम्भव है कि यह सर्वेक्षण एक अनुमानित स्थिति ही हो जिसमे प्रवर्तमान बहुत सी वास्तविकताओ एव तत्कालीन स्थिति ध्यान मे न आई हो। इसका सटीक उदाहरण नमक पकाने वाले लोगो की सख्या का ही है जो केवल ३९ जितना ही बताया गया है। जबकि वास्तव मे केवल चेगलपट्टु जिले का ही १०० कि मी लम्बा समुद्रकिनारा है, जिसके आसपास लगभग २००० हेक्टर मे नमक पकाने के अगर स्थित थे। ऐसा भी हो सकता है कि सर्वेक्षण मे केवल नमक पकाने मे व्यस्त एव देखभाल रखनेवालो की ही गणना की गई हो, समग्र उत्पादन प्रक्रिया के साथ सम्बन्धित लोगो की गणना न की गई हो।

निम्न लिखित सारिणी मे जो निरूपण दिया गया है उससे चेगलपट्टु क्षेत्र के सम्पूर्ण समाज की तत्कालीन (१७७० के आसपास) स्थिति को समझने मे सहायता मिलने की सम्भावना है। यह चित्र तत्कालीन भारतीय समाज की अठारहवीं शताब्दी के अन्त भाग की स्थिति को भी दर्शाता है।

१ १८८० बस्तियो मे वितरित भूमि, ('कणी' मे)
(१ कणी लगभग आधे हैक्टर से अधिक भूमि के बराबर है)

	हैक्टर
कुल भूमि	७,७९,१३२
पर्वतीय एव नदी का क्षेत्र	३६,०९९
ऊसर	८४,९७३
नमक के अगर	४,१९०
सिचाई के स्रोत (तालाब, सरोवर इत्यादि)	१,००,८०६
जगल	१,३०,७९०
बागायत क्षेत्र	१४,०५५
आवास क्षेत्र	२४,०८०
बिना खेती की सिचाईयुक्त भूमि	५८,६६८
बिना खेती की बिना सिचाईयुक्त भूमि	५०,६२२
सिचाईवाली खेती	१,८२,१७२
बिन सिचाई की खेती युक्त	८८,०६९

खेती के योग्य भूमि का अधिकाश भाग (बगाल मे चाकरण एव बाजी जमीन) मान्यम् के रूप मे जाना जाता था। जिस भूमि के 'कर' से प्राप्त धन राज्य की प्रशासनिक, आर्थिक, सास्कृतिक, धार्मिक सस्थाओ एव लोगो के लिए उपयोग मे लिया जाता था उसे मान्यम् कहते थे। इस प्रकार १७७० मे चेगलपट्टु जिले की सिचाईयुक्त ४४,०५७ कणी एव बिनासिचाईकी २२,६८४ कणी भूमि मान्यम् थी। उत्तर एव दक्षिण का अधिकाश क्षेत्र बारहवीं शताब्दी के उतरार्ध तक तो मान्यम ही था। ऐसी मान्यम भूमि धारक लोगो व सस्थाओ की सख्या हजारो मे थी। केवल बगाल के एक जिले मे सन् १७७० के आसपास ऐसे ७०,००० व्यक्ति मान्यम् के अधिकार से युक्त थे।

२ मवेशियो की सख्या (१५४४ बस्तियो मे)

गाय	९४,६८५
भैस	५,४१७
बकरी	१४,९३१
भेड़	१४,९७०
बैल	५९,५५०

३ व्यविसाय (१५४४ बस्तियो मे)

कुल परिवार	६२,५२९	**व्यापार एव सराफी**	४,३१२
खेती एव पशुपालन	३३,९६३	चेट्टी	२,०५१
चर्मकार	७,४११	अन्य व्यापारी	१,८३९
पल्ली	९ ६९३	सराफ	४२२
पेरियार	११,०५२	**आवश्यक सेवाएँ**	१,६८५
रेड्डी	१,४१७	नाई	६६४
कम्मावर	१,००५	धोबी	८६२
गोपाल	२,५७३	चिकित्सक	१५९
शनार	८१२	**विद्वान, उच्च शिक्षा, पुरोहित एव सास्कृतिक गतिविधि**	८,६८४
हुन्नर एव उद्योग	८,२३४	ब्राह्मण	६,६४६
बुनकर	४,०११	पडाराम	१,०५४
कपास धुनिया	८५	देवदासी	६२२
बढई	५३६	चर्मकला	१३७
लोहार	३९४	वोचून्स	१७३
शिल्पी	४५	सगीतकार	२७
महरा	३६	कुटाडी (रग कर्मी)	२५
सुनार	२०९	**प्रशासनिक सेवा एव रक्षकदल**	२,६८१
तेली	६३७	तालुकदार (कनकपिल्लई)	१,६६०
कुम्हार	३८९	पनिसेवान	३१४
लकडहारा	५९६	तालीयार	७०७
आगरी	३९	**सैनिक सेवा**	१,४७९
मछुआरा	५९०	मुस्लिम	७३३
मोची	७८	भूमि सुधारक	६७१
खानिए	८९	फकीर	६२
अन्य (लगभग)	५००	**अन्य घरेलू कार्य**	७४८

मान्यम भूमि के 'कर' (उत्तर भारत मे चाकरण या बाजी जमीन के रूप मे) की आय के अतिरिक्त विविध सस्था या व्यक्ति अथवा एक ही सस्था या व्यक्ति एव अन्य कई खेती की समग्र उपज एव बिनखेती व्यवसाय (व्यापार, आर्थिक प्रवृति तथा उद्योग

धधो) से होनेवाली आय का अश प्राप्त करते थे। ऐसा भी देखने को मिलता था कि खेती की उपज का एक चौथाई हिस्सा स्थानीय मन्दिरो या मस्जिदो जैसे देवस्थानो को दिया जाता था। यह हिस्सा सबसे पहले निकाला जाता था। चेगलपट्टु जिले मे, खेती की उपज का २७ प्रतिशत हिस्सा इसके लिए अलग रखा जाता था। १,४५८ बस्तियो के लिए किए गए सर्वेक्षण के अनुसार उत्पादन वितरण की स्थिति कलाम के रूपमे निम्न विवरण से जानी जा सकती है। (एक कलाम लगभग १२५ किलोग्राम के बराबर है)

	कलाम
खेती की उपज	**१४,७९,६४६**
कुल वितरण	**३,९४,९५०**
प्रत्येक बस्ती की सस्थाएँ एव व्यवसाय	२,६४,८२४
स्थानीय देवालय	१३,८८२
देवदासी, पण्डाराम एव ज्योतिषी	१८,५०३
खेतमजदूर (इनमे अधिकाश पेरियार थे)	८७,५०४
सिचाई के लिए धन	१९,८०६
कारीगर (बढई/लुहार)	१९,४७०
कुम्हार	२,७४९
नायी	६,१६९
धोबी	६,०५८
तोलाट	११,५६१
सराफ	९,३३२
कनकपिल्लई	३१,६२४
पनिसेवान	३,११०
तोटी	१,३७१
स्थानीय लोग (निवासी)	३१,१९७
अन्य	२,४८८
बाहर की सस्था एव व्यक्ति	१,३०,१२६
साधु, सत, महात्मा, विद्वान, छात्र	२५,३२१
प्रशासनिक	५३,५७२
सैनिक (पालयक्करण)	४५,९३६
मस्जिद/दरगाह/फकीर	२,५१८
अन्य	२,७७९

१०

भारतवासियो की प्रतिष्ठा का जो उत्तरोत्तर क्षरण होता गया उसके साथ खेतीबाड़ी, शिक्षा, उद्योग एव टेक्नोलोजी के स्तर पर भी स्थिति बिगड गई। साथ ही भौतिक ससाधनो की भी बहुत खानाखराबी हुई। पर्यावरण को भी बहुत सहना पडा। स्थिति बद से बदतर होती जा रही थी। यहाॅ तक कि भारत के अधिकाश जगल एव जल सपत्ति बेहाल हुई। विदेशी आधिपत्य के कारण इन की ओर ध्यान देना बन्द हो गया एव लोगो से इन सभी को छीन लिया गया। यह इस बरबादी का प्रमुख कारण है। यह भी उतना ही सत्य है कि अन्य स्थानो की यूरोपीय नीति के समान ही ब्रिटिश भारतीय वन नीति भी भारतीय वन को कुबेर का भण्डार मानने लगी एव सारी सपत्ति यूरोप की ओर खींचने का प्रयास करने लगी। सन् १७५० - १८०० के दौरान यूरोपीयो की एक निजी टिम्बर सिन्डीकेट भारत के अधिकाश भागो मे अस्तित्व मे रही। विशेष रूपसे मलबार मे, जहाॅ का वन अक्षय सपत्ति के समान था। लगभग १८०५ के आसपास लन्दन से आदेश आया था कि सभी निजी वनो को सरकारी नियन्त्रण मे लाया जाए। सन् १८२६ की बर्मा की लडाई के बाद बर्मा हिन्दुस्तानी ब्रिटिश आधिपत्य मे आ गया, एव वहाॅ के वनो को सीधे सरकारी नियन्त्रण मे ले लिया गया। सन् १८०० से सन् १८४८ के दौरान अकेले ही एक मिलियन टन साग की लकडी का निकास करनेवाले मोलमेन बदरगाह को भी सरकारी नियन्त्रण मे ले लिया गया।[२३] सन् १८५० के बाद भारत मे रेल तथा अन्य औद्योगिक विकास के बहाने भारत के वनो की माग बढा दी गई। साथ ही वननीति एव कानून अस्तित्व मे आए जिससे २५ वर्ष की कम अवधि मे ही समग्र भारत की वनसम्पत्ति ब्रिटिश राज्य के हाथो मे चली गई। परन्तु इसके बाद इस विपुल सम्पति का अन्धाधुन्ध निकन्दन होता रहा। यह उस समय की हिन्दुस्तानी ब्रिटिश नीति के अनुरूप ही था। उसमे यूरोप या अमेरिका मे जो हुआ उसी का विकृत रूप दिखाई देता था। यही नहीं भारत मे तो उसका अनापशनाप अमल होता रहा। यूरोप ने इस प्राकृतिक सम्पदा को भौतिक सम्पदा के रूप मे ही देखा जो कि मानव शोषण का एक साधन बनती रही। ऐसी भ्रान्त धारणा के कारण ही यूरोप के जगल नामशेष हुए। सत्रहवीं शताब्दी के अन्त तक इग्लैण्ड़ वनाच्छादित भूखण्ड था, जो सन् १८२३ तक एक तिहाई भाग ही रह गया, जब कि फ्रान्स मे सन् १५०० मे बारहवे भाग का ही जगल बचा था।

सन् १८४० के समय मे भारत मे राजकीय अर्थतन्त्र बहुत तेजी से नष्ट हो रहा था। उस अवधि मे उत्तर अमेरिका से लन्दन आनेवाले अहवाल के अनुसार वनो के

व्यापक विनाश के कारण वर्षा कम हो रही थी। इसलिए लन्दन चौक उठा एव बगाल, मुबई एव मद्रास स्थित अपनी सरकार को उसने इस विषय पर गहरी छानबीन करने का आदेश दिया। मद्रास प्रेसीडेन्सी एव उसके अधिकाश अधिकारी इस बात पर एकमत हुए कि पर्वतीय क्षेत्रो की तुलना मे जहॉ जगल कटे है ऐसे क्षेत्रो मे वर्षा का अनुपात कम हुआ है। जब कि सन् १८४९ मे मद्रास रेवन्यू बोर्ड एव मद्रास सरकार का निष्कर्ष कुछ अलग ही था -

१ देश के वे मैदान जो वृक्षो से आच्छादित रहते है, वर्षा लाने मे सक्षम नहीं है।

२ उसका जलवायु पर प्रभाव एव क्षेत्र की उत्पादन क्षमता पर पेचीदा प्रश्न उठता है एव जगल की स्वाभाविक जलवायु जानलेवा मलेरिया के लिए जिम्मेदार है।

३ यदि देश मे अधिक जगल रहे या उनका विस्तार बढाया जाय तो कदाचित् अधिक वर्षा मे सहायता मिल भी सकती है। परन्तु दूसरी ओर स्वास्थ्य की दृष्टि से जलवायु बहुत ही खतरनाक बन सकती है। भारत ने बहुत सी हानिकारक महामारी का अनुभव किया है। ऐसी महामारी मे घर जगल बन जाऍगे।[२४]

इन तर्को को मान्यता मिली। वातावरण को शुद्ध रखने के विचार से यह स्वीकृत हुआ एव फलस्वरूप 'जगल हटाओ' अभियान को मान्यता मिल गई।

११

भारतीय समाज का जबरदस्ती से होनेवाला क्षरण

भारत मे समय समय पर ब्रिटन, फ्रान्स एव उससे भी पूर्व पुर्तगालियो के द्वारा देश के विभिन्न भागो मे युद्ध हुए एव फलस्वरूप लूटमार एव अराजक की घटनाऍ बार बार घटती रहीं। सन् १७५० - १८०० के दौरान ही देशी राजाओ ने अपनी प्रजा एव क्षेत्र को बचाने के लिए ब्रिटिशो एव फ्रन्सीसियो को बडी राशि देने की बात दर्ज की गई है। यदि उन्होने ऐसा नही किया होता तो हमलावर उन्हे लूट कर छीन लेते। जो लोग विजेताओ की शरणागति स्वीकार नहीं करते थे उन्हे विजेताओ की सेना का खर्चा उठाना पड़ता था एव ब्रिटिश या फ्रान्सीसी वरिष्ठ अधिकारियो को हॅसकर स्वीकार करना पड़ता था। जिन लोगो के पास रूपए नहीं थे उन्हे ब्रिटिश सैन्य के कमाण्डर से उधार लेना पड़ता था। एकत्रित की गई सम्पति उन्हें भेट कर देना पडता था। अन्त मे ऐसा खर्चा चुकाने के एवज मे राजनैतिक भुगतान (Political power) पत्र लिखने के लिए

बाध्य किया जाता था। उधार ली गई राशि वार्षिक ५० प्रतिशत व्याज की दर से भरपाई करनी पडती थी। व्याज का इतना ऊँचा दर चुकाने के लिए देशी राज्यो को कर - विशेषरूप से जमीन पर कर - बढाने के लिए बाध्य होना पडता था या ली गई राशि एव भारी व्याज की राशि चुकाने के लिए अपने राज्य का कुछ हिस्सा उस लेनदार के पास गिरवी रखना पडता था, जिससे वह लेनदार अपनी ऋण की राशि मनमाने रूप से वसूल कर सकता था।

यूरोप की आश्चर्यचकित कर देने वाली सस्थागत दुष्ट कुशलता एव भारत के अधिकाश जीते हुए प्रदेशो मे फैली अराजकता एव टूटी हुई मन स्थिति के कारण भारत के अधिकाश भागो मे सामाजिक व्यवस्था भी टूट गई थी। मान्यम जैसी पद्धति एव खेतीबाडी की उपज से भारत के राज्यो का कार्यकलाप चलता था। कुछ समय के बाद वह जीतनेवालो के हाथो मे जाने लगा। प्रथा ऐसी थी कि उपज प्राप्त करनेवालो के पास उतना ही बचना चाहिए कि जिससे वे कठिनाई से अपना निर्वाह चला सके, परन्तु भारत का आपस मे अनुबन्धित आतरिक ढॉचा छिन्न भिन्न हो जाए। ऐसा भी निश्चित किया गया कि ५ प्रतिशत से अधिक जमीन मान्यम के लिए नहीं रहने देनी चाहिये एव किसानो के पास सस्थाओ एव व्यक्तिओ को देने के लिए कुल उपज की ५ प्रतिशत से अधिक उपज नहीं रहनी चाहिये।

ब्रिटिश आधिपत्य के लिये देशी राज्य की विभिन्न सस्थाये सबसे बडी चुनौती एव भयस्थान थे। इसलिए ऐसे प्रयास तथा रीतिनीति अपनाई गई की उनकी अवमानना होती रहे, पग पग पर उनका मानभग होता रहे, या उन्हे छोटी छोटी जागीरो मे बॉटकर उनकी एकता एव बल को तोडा जा सके। इस प्रकार का एक खास सन्देश, ब्रिटन की सर्वोच्च सत्ता की ओर से मैसूर के नये महाराजा को सन् १७९९ मे मूल राज्यपद वापस करते समये भेजा गया था। इसके साथ ही व्यापार पर, व्यवसायो एव रोजगारो पर, भूमि पर एव उपयोगी चीज वस्तुओ पर कर बढाने की बात भी की गई थी। ब्रिटिश आधिपत्य के प्रथम सौ वर्षों मे भूमि का राजस्व, समग्र खेती की पैदावार का ५० प्रतिशत जितना समग्र भारत मे लागू कर दिया गया। तब तक मान्यम भूमि (चाकरण या बाजी भूमि) आधारित जो लाभ मिलता था वह समग्र खेती की पैदावार का १२ से १६ प्रतिशत से अधिक नहीं रहता था। यह सिलसिला इतने पर भी नहीं रुका। समग्र खेती की पैदावार का ५० प्रतिशत राजस्व लादने पर भी उन्हे चैन नहीं मिला। राजकीय अर्थव्यवस्था को खोखला बनाने की जैसे ब्रिटिशरो ने कमर कस ली। कुछ उपजाऊ जमीनो पर तो राजस्व इतना लगाया गया कि वह उपज के मूल्य से भी अधिक हो गया। यही बात

उद्योग एव व्यापार की भी थी। इसी समय निभाव स्रोत समाप्त कर दिये गये। सार्वजनिक काम रुक गये। देवालय, मठ, छत्र, कुएँ, तालाब जैसे निर्माण कार्य बन्द हो गये और १८४० तक तो भारत की सिचाई व्यवस्था अस्त व्यस्त हो गई। ऐसी अवदशा के कारण राजस्व चुकाने मे कठिनाई होने लगी। इसका प्रभाव सरकारी अधिकोष पर भी दिखाई देने लगा। अन्ततोगत्वा बाध्य होकर स्थानीय मजदूरो की सहायता से कुछेक मरम्मत का काम करवाना पडा तथा कुछ नई सिचाई व्यवस्था भी करनी ही पडी। इसी के साथ जमीन पर लागू किए गए, समग्र खेती की पैदावार के ५० प्रतिशत राजस्व को घटाकर सैद्धान्तिक रूप से ३३ प्रतिशत करने का निर्णय किया गया। ऐसे कुछ राहती नियमो का क्रियान्वयन सन् १८६० के बाद के समय मे हुआ।

१२

आर्थिक अराजक के अनुभव के बाद सामाजिक ढॉचा भी छिन्नभिन्न हुआ। परिणामस्वरूप शिक्षा, आभिजात्य, बार बार आयोजित मेलो सम्मेलनो तथा उत्सवो मे भी कमी आई। साक्षरता की मात्रा भी कम होने लगी। इसी समय मे अर्थात् सन् १८२० के दशक मे दक्षिण भारत मे पाठशाला में पढने योग्य बच्चो के २५ प्रतिशत पाठशाला मे पढते थे। उससे भी अधिक सख्यामे छात्र जब समाजजीवन के अन्यान्य क्षेत्रो मे अनवस्था प्रसृत थी तब भी अपने घरो मे ही शिक्षा प्राप्त करते थे। परन्तु केवल ६० वर्षों के बाद, १८८० के दशक मे यह अनुपात एक अष्टमाश हो गया। विद्वत्ता एव उच्च अध्ययन जैसी गतिविधिया भी कम हो गई। यह स्थिति सार्वत्रिक थी। देश मे विद्वान कम होने लगे एव सेकडो शिष्यवृत्तियॉ प्रतीक्षा में ही रह गई। ऐसा लगने लगा कि भारत की आत्मा ही घुटन का अनुभव कर रही थी।

ऐसी भौतिक दुर्दशा एव आर्थिक बेहाली के साथ ही देशी राज्यो का सगठन टूट गया, विद्वान मूक हो गये और समृद्धि का ह्रास होने लगा। भारतीय समाज मे फूट एव विघटन की स्थिति निर्माण होने लगी। दीर्घ काल की इस दासता के फलस्वरूप लोगो मे हीनता दृढ होने लगी। परिणामस्वरूप लोग अपने भव्य भूतकाल मे जीने लगे और यूरोपने स्वय पर तथा पडोसियो पर किस प्रकार एव क्यो प्रभुत्व जमाया इसकी मनघडन्त बाते फैलाने लगे।

प्रारम्भ मे मनोरम भूतकाल मे रत रहना कदाचित देशी समाज को टिकाए रखने के लिए तिनके के सहारे के समान उपयोगी भले ही लगा हो, परन्तु आज भी अधिकाश भारतवासी इसी रोग को पाले हुए हैं। दूसरी ओर सामान्य लोगो मे आर्थिक एव

सास्कृतिक अनवस्था एव हताशा, मानसिक उलझन या जटिलता जैसी स्थिति निर्माण हुई, जिससे लोग और जड हो गए। पण्डित या विद्वान एव समृद्ध लोग यूरोपीय विद्वत्ता से प्रभावित होकर, उनकी सभ्यता को अपनाकर अपनी एक अलग पहचान बनाने मे लग गए। हो सकता है कि इस प्रकार से प्राप्त की गई विद्वत्ता, बुद्धिचातुर्य या कौशल गैरयूरोपीय विश्व की तुलना मे भारत मे अधिक चमकीला लगता हो। यद्यपि उन्नीसवीं एव बीसवीं शताब्दी मे ऐसे लोगो मे ही एक व्यक्ति - मोहनदास करमचद गाधी - ऐसे भ्रामक प्रभाव से मुक्त ही रहे। उल्टे स्वतन्त्र भारत के प्रथम प्रधानमन्त्री पर इसका बहुत गहरा प्रभाव देखने को मिलता था। ऐसे विरोधाभास के कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं -

१९३० से १९४७ के दौरान भारतीय राष्ट्रवादी २६ जनवरी के दिन को 'पूर्ण स्वराज्य की माग के दिन' के रूप मे मनाते रहे। १९५० से यह दिवस गणतन्त्र दिवस के रूप मे मनाया जाता है। स्वतन्त्रता से पूर्व इनमे से ही किसी एक दिन एक शपथ ली गई, जिसमे प्रतिज्ञा थी, 'भारत की ब्रिटिश सरकारने भारत के लोगो को न केवल स्वतन्त्रता से वचित रखा है अपितु समग्र प्रजा के शोषण के लिए हम पर सवार होकर देशको आर्थिक, राजनैतिक, सास्कृतिक एव आध्यात्मिक रूप से नष्ट किया है। ऐसे दुष्कृत्यो को हम मानव एव ईश्वर के प्रति किया गया अपराध समझते हैं। हमारे देश का विनाश करनेवाले राज्य के सामने हम नहीं झुकेगे।' देश की सस्कृति के विनाश के विषय मे उसमे कहा गया था कि 'शिक्षा प्रणाली (ब्रिटिशरो द्वारा प्रस्थापित) ने हमे छिन्न भिन्न करके तोड कर ताराज कर दिया है। और हमे जकड़नेवाली शृखला को ही हम चाहने लगे है।'

भारत की स्वतन्त्रता विषयक अन्य विधेयको के समान ही इस विधेयक का मुसद्दा भी महात्मा गाधी ने ही रचा था।[२५] सन् १९२८ के जनवरी मे महात्मा गाधी ने ऐसी भी आशा व्यक्त की कि भारत की स्वतन्त्रता अन्य उपनिवेशो एव गुलाम बनाए गए लोगो की स्वतन्त्रता का सोपान बनेगी। वे कहते थे, 'भारत अपनी इच्छा के अनुसार जो प्राप्त करेगा वह अन्य देश भी प्राप्त करेगे।'[२६] हम भली प्रकार जानते हैं कि ब्रिटिश आधिपत्य से भारत के स्वतन्त्र होने के पन्द्रह वर्षो मे विश्व के दक्षिणपूर्व एशिया, आफ्रिका, जैसे देश भी एक या दूसरे रूप से स्वतन्त्र हो ही गए हैं।

अधिकाश भारतवासियो की ऐसी मान्यता रही है कि ब्रिटिश शासनने भारत को सास्कृतिक एव आध्यात्मिक रूप से चौपट कर दिया है। परन्तु कुछ लोग इस सोच से सहमत नहीं हैं। १९४७ मे स्वतन्त्रता मिलने के बाद भी वे असहमत ही रहे है। ऐसे

आधुनिको मे जवाहरलालजी एक थे। यद्यपि सार्वजनिक रूप से वे ऐसे कथनो का आमना सामना करने से स्वय को बचाते थे, परन्तु १९२८ के आसपास के दिनो मे व्यक्तिगत रूप से वे अपने विचार व्यक्त करते रहे थे। महात्मा गाधी को लिखे एक पत्र मे उन्होने लिखा, 'आपने कहीं पर कहा है कि भारत को पाश्चात्यो से सीखने लायक कुछ भी नहीं है, उसने तो पहले से ही सयानेपन के शिखर सर कर लिए है। मै आपके इस दृष्टिकोण से निश्चित रूप से सहमत नहीं हूँ। मेरे मतानुसार पश्चिम, विशेष कर औद्योगिक सस्कृति भारत को जीतने मे समर्थ है। हॉ उसमे सुधार और परिवर्तन अवश्य होगे। आपने औद्योगिकरण की कुछ कमियो की आलोचना तो की पर उसके लाभ तथा उत्तम पहलू को अनदेखा भी किया है। लोग कमिया समझते ही है फिर भी आदर्श राज्य व्यवस्था एव सामाजिक सिद्धान्तो के द्वारा उसका निवारण सम्भव है ही। पश्चिम के कुछ बुद्धिजीवियो का मन्तव्य है कि ये कमिया औद्योगिकरण की नहीं है परन्तु पूजीवादी प्रणाली की शोषणवृत्ति की पैदाइश है। आपने कहा है कि पूजीपति एव मजदूरो के बीच सघर्ष नहीं होना चाहिए। मै मानता हूँ कि पूजीवादी प्रथा मे ऐसा सघर्ष अनिवार्य है।'[२७] पश्चिमी आधुनिकता विषयक सोच ही उस प्रकार की है ऐसा पद्रह वर्ष बाद गाधीजी को नेहरूने बताया।[२८] अपने पत्र मे नेहरू ने यह भी टिप्पणी की कि, 'क्यो गॉवो को सत्य एव अहिसा के साथ जोडना चाहिए ? गॉव तो सामान्य रूप से बौद्धिक एव सास्कृतिक रूप से पिछ्डे हुए है। पिछडेपन के वातावरण मे विकास सम्भव नहीं है। सकुचित सोच रखनेवाले लोग अधिकाशत झूठे एव हिसापूर्ण ही होते है।'[२९]

१३

पश्चिम का सम्पूर्ण ज्ञान एव विविध तथ्यो विषयक सिद्धातीकरण किसी मूल तथ्यो का साररूप हो यह माना जा सकता है। यह केवल मानवता या समाजविद्या जैसी विद्या तक सीमित न रहकर भौतिक विज्ञान के लिए भी कहा जा सकता है। उनमे एक, मानव नृवशशास्त्र है। मानववश विज्ञान एक ऐसा विज्ञान है जो केवल गैर यूरोपीय और विजित लोगो के विषय मे ही है। यह तथा इसके अनुषागिक अन्य शास्त्र गैर यूरोपीय लोगो ने जो सज्ञा दी उसे केवल एक बीज समझ कर मूल्याकन करते हें। प्रोफेसर क्लाउड़ लेवी इस शास्त्र का वर्णन इस प्रकार करते हैं -

'नृवशशास्त्र कोई ऐसा शास्त्र या विज्ञान नहीं है जो खगोलशास्त्र के समान दूर सुदूर के पदार्थो के सिद्धान्त समझाता हो। वह तो इतिहास के ऐसे तथ्यों से रजित शास्त्र है जिसमे मानव समूह का अधिकाश भाग अन्य किसी के अधिकार मे रहा हो,

जिस काल के दौरान लाखो लोगो ने अपने जीवन आधार को खो दिया हो, उनके सस्थागत ढॉचे टूट चुके हो, उन्हे क्रूरतापूर्वक मौत के घाट उतारा गया हो, गुलामी मे जकड़ दिया गया हो, और ऐसे शेर का शिकार बनाया गया हो जिसके सामने वे टिक न पाए हो। नृवशशास्त्र हिसा के इस युग की पुत्री है। मानव का वस्तु के रूप मे मूल्याकन करने की उसकी पद्धति तो ज्ञानमीमासा को भी पार कर जाती है। इसमे (करुणता तो यह है कि) मानव समूह का एक हिस्सा अपने जैसे ही दूसरे हिस्सेको वस्तु समझ कर सिद्धान्त बनाता है।

'यह सरलता से भुलाई जा नहीं सकती। सब मिटाया भी नहीं जा सकता। यह केवल पश्चिम के विश्व द्वारा दिया गया मानवशास्त्र ही नहीं है अपितु विदेशी सस्कृति के प्रभाव मे प्राप्त होनेवाली वस्तुनिष्ठ सोच का भी परिणाम है। उसी के अनुसार सभी बातो का वस्तु के रूप मे मूल्याकन करना आवश्यक हो गया। हम यह भूल गए कि उनकी चिताओ के प्रति हम क्या कर सकते थे। हमने वह नहीं किया। वे हमारे प्रति एव उनके स्वय के प्रति किए गए व्यवहार मे कोई समानता नहीं रखते थे - न हो सकती थी।'[३०] प्रोफेसर क्लाउड़ लेवी ने जो कुछ भी कहा उसमे मानवशास्त्र के लिए कुछ भी नया नहीं है। इससे पूर्व अस्सी वर्ष पूर्व सर एडवर्ड बरनेट टेलर ने इस शास्त्र की भूमिका को पुरानी सस्कृति के सहारक के रूप मे गिनाया था। याद रहे एडवर्ड बरनेट को कुछ लोग नृवशशास्त्र का पितामह कहते थे। वे इस धर्माधिपत्य वाली सस्कृति के विषय मे अन्त मे बताते है कि वह खूब निर्दयी, कठोर एव कुछ दु खदायी भी थी। इसलिए इस शास्त्र मे माननेवालो की सस्था पुरानी सस्कृति मे बची हुई क्रूरता को बाहर लाने के लिए आगे आयी। 'ऐसी क्रूरता अत्यधिक दु खदायी एव अत्याचारी होने के कारण उसका सहार करना ही उचित था। यह कार्य शुभ या उचित लगे या न लगे तो भी मानवजाति के हित के लिए तत्काल करना आवश्यक है।'[३१]

नृवशशास्त्र की यह परिभाषा तथा यूरोपीयो का उसके प्रति झुकाव, यूरोप से अतिरिक्त शेष विश्व को निगल गया।

१४

यूरोप के प्रभाव मे आए गैरयूरोपीय समाज मे भी कुछ लक्षण समान दिखाई देते हैं। इस समाज ने अपने आराध्य देवताओ या भावनाओ एव तत्कालीन प्राणी जगत एव वनस्पति सृष्टि के साथ सन्तुलन बनाए रखा। इन सभी को वे अपनी सभ्यता का भाग ही मानते थे। इस प्रकार का भाव सन् १४९२ के पूर्व आए हुए अमेरिकन, आफ्रिकन,

दक्षिणपूर्व एशिया या भारतीय समाज मे अधिक दिखाई देता था। भारत मे तो यह बात अधिक दृढतापूर्वक प्रस्थापित दिखाई देती थी जिसके कारण भारतीय समाज की व्यापकता, विविधता एव सकुलता का एक विशिष्ट चित्र उभर कर सामने आया है। इस समाज मे ऐसा सन्तुलन स्थिर गुणधर्म या स्थाई स्वरूप का हो यह आवश्यक नहीं है। कदाचित् भारत के लिए यह सच हो, जहॉ प्रवाह विशिष्ट रूप से हमेशा बदलते रहते है। यह केवल भारतीय समाज का भिन्न भिन्न समयावधि का हूबहू वर्णन नहीं है। परन्तु भारतीय साहित्य की व्यापकता एव उसके काल एव चित्त की सकल्पना का परिचय भी है। एक लम्बे अन्तराल के बाद भारत जैसे समाज ने अपना सन्तुलन एक ओर से दूसरी ओर बदला है। परन्तु ऐसा बदलाव बहुत ही धीमा था। इसके विपरीत यूरोपीय समाज प्राचीन काल से आज तक ऐसे सन्तुलन से वचित दिखाई देता है। इसलिए वहॉ हमेशा आन्तरिक तनाव रहा एव इसीलिए उसके धर्मतन्त्र का ढॉचा सुदृढ बना। इससे विपरीत यूरोपीय सभ्यता का उद्देश्य समग्रता के मूल्य पर आशिक उपलब्धि को महत्त्व देता दिखाइ रहा है। इसीलिए यूरोपीय समाज किसी निश्चित समय बिन्दु पर सन्तुलित हुआ नहीं जान पड़ता है। यदि ऐसा ही है तो वह यूरोप की आक्रामक एव विध्वसक प्रकृति का परिचायक ही माना जाएगा।

यह सम्भव है कि विश्व अब कदाचित धीरे धीरे, परन्तु एक होने की दिशा मे, बसुधैव कुटुम्बकम की नयी (?) सोच साथ लेकर, सृष्टिसर्जन की स्वचालित प्रक्रिया को स्वीकार करके विशुद्ध समझ के साथ आगे बढ रहा है। यह यदि सच है तो यह नूतन दृष्टि सबका नारा बन जाएगी। सभी को उसे अपनाना ही पडेगा। इसके लिए प्रत्येक को आत्मखोज करनी पडेगी। ऐसी खोज समग्र समाज, राज्य, राष्ट्र, यूरोप या अन्य सभी को करनी ही पडेगी। ऐसा आत्मदर्शन, आत्मनिवेदन, गत पॉच शाताब्दियो के हमारे भयानक कृत्यो के लिए पश्चाताप की भूमिका निभायेगा एव अब तक जो भी हानि हुई है उसकी पूर्ति के या सुधार के उपाय का अवसर भी देगा।

अन्त मे इतना ही है कि जब ऐसे भयानक कृत्य शुरू हुए एव यूरोप की चालाकी ने अग्नि मे घी डालने का काम किया तब गैरयूरोपीय विश्व ने यूरोप को दोष दे देकर अपनी स्थिति को अधिक बिगड़ने दिया। यूरोप के प्रभाव से पूर्व गैरयूरोपीय लोग तो सृष्टिसर्जन को नैसर्गिक मानकर स्वय को अन्यो का स्वामी नहीं मानते थे। वे तो सृष्टि के अन्य सभी के साथ सहअस्तित्व के सम्बन्ध बनाने मे लगे थे। उनका ऐसा व्यवहार समयान्तर मे भी तटस्थ नहीं बना। यूरोप को दोषित मानने मे स्वय ही पामर, दु खदायी

जिस काल के दौरान लाखो लोगो ने अपने जीवन आधार को खो दिया हो, उनके सस्थागत ढॉचे टूट चुके हो, उन्हे क्रूरतापूर्वक मौत के घाट उतारा गया हो, गुलामी मे जकड़ दिया गया हो, और ऐसे शेर का शिकार बनाया गया हो जिसके सामने वे टिक न पाए हो। नृवशशास्त्र हिसा के इस युग की पुत्री है। मानव का वस्तु के रूप मे मूल्याकन करने की उसकी पद्धति तो ज्ञानमीमासा को भी पार कर जाती है। इसमे (करुणता तो यह है कि) मानव समूह का एक हिस्सा अपने जैसे ही दूसरे हिस्सेको वस्तु समझ कर सिद्धान्त बनाता है।

'यह सरलता से भुलाई जा नहीं सकती। सब मिटाया भी नहीं जा सकता। यह केवल पश्चिम के विश्व द्वारा दिया गया मानवशास्त्र ही नहीं है अपितु विदेशी सस्कृति के प्रभाव मे प्राप्त होनेवाली वस्तुनिष्ठ सोच का भी परिणाम है। उसी के अनुसार सभी बातो का वस्तु के रूप मे मूल्याकन करना आवश्यक हो गया। हम यह भूल गए कि उनकी चिताओ के प्रति हम क्या कर सकते थे। हमने वह नहीं किया। वे हमारे प्रति एव उनके स्वय के प्रति किए गए व्यवहार मे कोई समानता नहीं रखते थे - न हो सकती थी।'[३०] प्रोफेसर क्लाउड लेवी ने जो कुछ भी कहा उसमे मानवशास्त्र के लिए कुछ भी नया नहीं है। इससे पूर्व अस्सी वर्ष पूर्व सर एडवर्ड बरनेट टेलर ने इस शास्त्र की भूमिका को पुरानी सस्कृति के सहारक के रूप मे गिनाया था। याद रहे एडवर्ड बरनेट को कुछ लोग नृवशशास्त्र का पितामह कहते थे। वे इस धर्माधिपत्य वाली सस्कृति के विषय मे अन्त मे बताते हैं कि वह खूब निर्दयी, कठोर एव कुछ दु खदायी भी थी। इसलिए इस शास्त्र मे माननेवालो की सस्था पुरानी सस्कृति मे बची हुई क्रूरता को बाहर लाने के लिए आगे आयी। 'ऐसी क्रूरता अत्यधिक दु खदायी एव अत्याचारी होने के कारण उसका सहार करना ही उचित था। यह कार्य शुभ या उचित लगे या न लगे तो भी मानवजाति के हित के लिए तत्काल करना आवश्यक है।'[३१]

नृवशशास्त्र की यह परिभाषा तथा यूरोपीयो का उसके प्रति झुकाव, यूरोप से अतिरिक्त शेष विश्व को निगल गया।

१४

यूरोप के प्रभाव मे आए गैरयूरोपीय समाज मे भी कुछ लक्षण समान दिखाई देते हैं। इस समाज ने अपने आराध्य देवताओ या भावनाओ एव तत्कालीन प्राणी जगत एव वनस्पति सृष्टि के साथ सन्तुलन बनाए रखा। इन सभी को वे अपनी सभ्यता का भाग ही मानते थे। इस प्रकार का भाव सन् १४९२ के पूर्व आए हुए अमेरिकन, आफ्रिकन,

दक्षिणपूर्व एशिया या भारतीय समाज मे अधिक दिखाई देता था। भारत मे तो यह बात अधिक दृढतापूर्वक प्रस्थापित दिखाई देती थी जिसके कारण भारतीय समाज की व्यापकता, विविधता एव सकुलता का एक विशिष्ट चित्र उभर कर सामने आया है। इस समाज मे ऐसा सन्तुलन स्थिर गुणधर्म या स्थाई स्वरूप का हो यह आवश्यक नहीं है। कदाचित् भारत के लिए यह सच हो, जहॉ प्रवाह विशिष्ट रूप से हमेशा बदलते रहते है। यह केवल भारतीय समाज का भिन्न भिन्न समयावधि का हूबहू वर्णन नहीं है। परन्तु भारतीय साहित्य की व्यापकता एव उसके काल एव चित्त की सकल्पना का परिचय भी है। एक लम्बे अन्तराल के बाद भारत जैसे समाज ने अपना सन्तुलन एक ओर से दूसरी ओर बदला है। परन्तु ऐसा बदलाव बहुत ही धीमा था। इसके विपरीत यूरोपीय समाज प्राचीन काल से आज तक ऐसे सन्तुलन से वचित दिखाई देता है। इसलिए वहॉ हमेशा आन्तरिक तनाव रहा एव इसीलिए उसके धर्मतन्त्र का ढॉचा सुदृढ बना। इससे विपरीत यूरोपीय सभ्यता का उद्देश्य समग्रता के मूल्य पर आशिक उपलब्धि को महत्त्व देता दिखाइ रहा है। इसीलिए यूरोपीय समाज किसी निश्चित समय बिन्दु पर सन्तुलित हुआ नहीं जान पड़ता है। यदि ऐसा ही है तो वह यूरोप की आक्रामक एव विध्वसक प्रकृति का परिचायक ही माना जाएगा।

यह सम्भव है कि विश्व अब कदाचित धीरे धीरे, परन्तु एक होने की दिशा मे, बसुधैव कुटुम्बकम की नयी (?) सोच साथ लेकर, सृष्टिसर्जन की स्वचालित प्रक्रिया को स्वीकार करके विशुद्ध समझ के साथ आगे बढ रहा है। यह यदि सच है तो यह नूतन दृष्टि सबका नारा बन जाएगी। सभी को उसे अपनाना ही पडेगा। इसके लिए प्रत्येक को आत्मखोज करनी पड़ेगी। ऐसी खोज समग्र समाज, राज्य, राष्ट्र, यूरोप या अन्य सभी को करनी ही पडेगी। ऐसा आत्मदर्शन, आत्मनिवेदन, गत पॉच शाताब्दियो के हमारे भयानक कृत्यो के लिए पश्चाताप की भूमिका निभायेगा एव अब तक जो भी हानि हुई है उसकी पूर्ति के या सुधार के उपाय का अवसर भी देगा।

अन्त मे इतना ही है कि जब ऐसे भयानक कृत्य शुरू हुए एव यूरोप की चालाकी ने अग्नि मे घी डालने का काम किया तब गैरयूरोपीय विश्व ने यूरोप को दोष दे देकर अपनी स्थिति को अधिक बिगड़ने दिया। यूरोप के प्रभाव से पूर्व गैरयूरोपीय लोग तो सृष्टिसर्जन को नैसर्गिक मानकर स्वय को अन्यो का स्वामी नहीं मानते थे। वे तो सृष्टि के अन्य सभी के साथ सहअस्तित्व के सम्बन्ध बनाने मे लगे थे। उनका ऐसा व्यवहार समयान्तर मे भी तटस्थ नहीं बना। यूरोप को दोषित मानने मे स्वय ही पामर, दु खदायी

एव लुटेरो के समान बन गया। अब विवेकपूर्ण सन्तुलन मात्र यूरोप के द्वारा आत्मखोज या पश्चाताप करने से प्राप्त नहीं होगा अपितु गैरयूरोपीय विश्वको भी इस प्रक्रिया मे सहभागी बनना पडेगा।

सदर्भ

१ डेविड बी क्विन, 'नूतन अमेरिकी विश्व १६१२ तक का उत्तरी अमेरिका का दस्तावेजी इतिहास न्यू अमेरिकन वर्ल्ड अ डोक्यूमेण्टरी हिस्ट्री ऑव् नॉर्थ अमेरिका टू १६१२ New American world A Documentary History of North America to 1612 पाच खण्डो में, १९७९

२ सर ज्हॉन डेविस, 'नामदार सम्राट के सुशासन के प्रारम्भ होने तक आयर्लैण्ड को पूर्ण रूप से परास्त कर अग्रेज सत्ता के आधिपत्य मे नहीं लाया जा सका उसके सही कारणो की खोज अ डिस्कवरी ऑव् द ट्रु कोझेझ व्हाय आयर्लैण्ड वॉझ नेवर एण्टायरली सबड्यूड एण्ड ब्रॉट अण्डर ओबेडिअन्स ऑव् द क्राउन ऑव् इग्लैण्ड अण्टील द बिगिनिग ऑव् हिझ मैजेस्टीझ हैपी रेइन A Discovery of True Causes, Why Ireland was never entirely subdued and brought under obedience of the Crown of England until the beginning of His Majesty's happy reign, 1630 (पुनर्मुद्रण १८६०)

३ एच एफ डोबिन्स, 'अमेरिका के मूल निवासियों की जनसख्या का अनुमान एस्टीमेटिग अबोरिजिनल अमेरिकन पोप्युलेशन Estimating Aboriginal American Population' करण्ट एथ्रोपोलॉजी, खण्ड ७, क्र ४, अक्टूबर १९६६, पृ ३९५-४४९

४ बर्नार्ड डबल्यू शिहान, 'विनाश के बीज जेफरसन की उदारता और अमेरिकन भारतीय सीड्स ऑव् एक्स्टींक्शन जेफरसोनियन फिलान्थ्रोपी एण्ड द अमेरिकन इण्डियन Seeds of Extinction Jeffersonian Philanthropy and the American Indian' १९७३, पृ २२७-२२८

५ एच सी पोर्टर, 'अस्थिर जगली इग्लैण्ड और उत्तरी अमेरिकी भारतीय, १५०० से १६०० द इन्कॉन्स्टण्ट सेवेज इग्लैण्ड एण्ड द नॉर्थ अमेरिकन इण्डियन १५०० - १६०० The Inconstant Savage England and the North American Indian 1500 - 1600' १९७९, पृ ४२८

६ डैण्टन्स न्यूयॉर्क 'पूर्व मे नया नेदरलेण्ड के नाम से पहचाने जाने वाले न्यू यॉर्क का सक्षिप्त विवरण अ ब्रीफ डिस्क्रीप्शन ऑव् न्यू यॉर्क फॉर्मर्ली कॉल्ड न्यू नेदरलैण्डस A Brief Description of New York formerly called New Netherlands', १६७० (पुनर्मुद्रण १९०२), पृ ४५

७ जे सी लॉंग, 'लॉर्ड जैफरी एम्हर्स्ट राजा का सिपाही लॉर्ड जैफरी एम्हर्स्ट अ सोल्झर ऑव् द किग Lord Jeffery Emherst A Soldier of the King', १९३३, पृ १८६-१८७

८ अन्यो के साथ आर डबल्यू फोगेल और एस एल एगरमन, 'समय क्रूस पर अमेरिका के नीग्रो की गुलामी का अर्थकारण टाइम ऑन क्रॉस द इकनॉमिक्स ऑव् अमेरिकन नीग्रो स्लेवरी Time on Cross The economics of American Negro Slavery', १९८९, पृ २१-२२। फोगेल और एगरमन द्वारा निर्दिष्ट ९ ५ लाख की सख्या अमेरिका में गुलामो के आयात को सूचित करती है।

९ वही

१० एन्साईक्लापीडिया ब्रिटानिका, ११ वा सस्करण, १९११, खण्ड २७ पृ ६३६

११ अेबट इमर्सन स्मिथ, 'उपनिवेशी बधन मे अमेरिका मे गोरो की गुलामी और बधुआ मजदूरी, १६१७ से १७७६ के दौरान कोलोनिस्टस् इन बॉण्डेज व्हाउट सर्विट्यूट एण्ड कन्विक्ट लेबर इन अमेरिका, १६१७ - १७७६ Colonists in Bondage White Servitude and Convict Labour in America, 1617-1776' १९४७, पृ ३०८-३२५

१३ डी जी ई हॉल के उद्धरण, 'बर्मा के साथ अग्रेजों का प्रारम्भिक सम्बन्ध अर्ली इग्लीश इन्टरकोर्स विद बर्मा Early English Intercourse with Burma', १९२८, पृ २५०

१४ अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में जो भी टक्कर हुई उसके विषय में पुरातन लेख और अन्य सामग्री व्यापक रूप में उपलब्ध है। उसमे अधिकाश सामग्री भारतीय पुरातन लेख के रूप में भी निरूपित है। सन् १८१०-११ में आवास कर के विरोध में उठे जनआदोलन का ब्यौरा 'भारतीय परम्परा में असहयोग', पुनरुत्थान, २००७ मे उपलब्ध है।

१५ सन् १८४३ में नमक पर डाले गये कर के विरोध में सुरत मे हुए आन्दोलन का विवरण उसी वर्ष के मुम्बई प्रेसीडेन्सी रिकार्ड में उपलब्ध है।

१६ ब्रिटिशो के भारत में आने से पूर्व के शासक शासित सम्बन्धों के विषय मे भारत सरकार के, बगाल, मुबई और मद्रास प्रेसीडेन्सी के अभिलेखागारो मे ब्रिटिशों द्वारा निर्मित विपुल सामग्री उपलब्ध है। यही सामग्री अठारहवीं एव उन्नीसवीं शताब्दी की है। इस काल के इग्लैण्ड के भारत विषयक सरकारी कागजो मे भी ऐसी सामग्री मिलती है। ब्रिटिश हाउस ऑव् कॉमन्स की सिलेक्ट कमिटी के समक्ष की हुई प्रस्तुति में इतिहासकार जेम्स मिल ने भी इस प्रकार की जानकारी दी है।

१७ राजा और प्रजा के आपसी सम्बन्ध और भेंट के आदानप्रदान के विषय मे सामग्री १८वीं एव १९वीं शताब्दी के अभिलेखागारो में उपलब्ध है।

१८ 'मोतरफा' और 'वीसाबुडी' नामक करो की जानकारी मद्रास प्रेसीडेन्सी के अभिलेखों में उपलब्ध है। इसमें गैरकृषक व्यवसायों और उद्योगों मे जुडे लोगो की सख्या है। विभिन्न जिलों में कितने करघे हैं उसकी भी सख्या है। भारत के और प्रदेशो मे भी इसी प्रकार की जानकारी मिलती है। साथ ही १८७१, १८८१, १८९१ की जनगणना विषयक जानकारी भी उपलब्ध है।

१९ भारत के सन् १८०० के आसपास के विज्ञान और तन्त्रज्ञान विषयक अभिलेखीय जानकारी भारत और इग्लैण्ड दोनो में मिलती है।

२० १८वीं एव १९वीं शताब्दी की भारतीय शिक्षाकी पद्धति और व्याप से सम्बन्धित जानकारी लेखक के 'रमणीय वृक्ष १८वीं शताब्दी में भारतीय शिक्षा' पुस्तक मे उपलब्ध है।

२१ तमिलनाडु स्टेट आर्काइव्झ (टी एन एस ए), मद्रास बोर्ड ऑव् रेवन्यू प्रोसीडींग्स (BRP), खण्ड २०२५, कार्यवाही ८-६-१८४६, पृ ७४५७, कडप्पा जिले के उपभोग विषयक सामग्री, खण्ड २०३०, कार्यवाही १३-७-१८४६ पृ ९०३१-७२४७, बेलारी जिले की जानकारी के लिये।

२२ चेंगलपट्टु जिले के लगभग २,२०० गावो के विस्तृत सर्वेक्षण पर आधारित

२३ इ पी स्टेबिंग, 'भारत के जगल द फॉरेस्ट्स ऑव् इण्डिया The Forests of India', खण्ड १, १९२२

२४ टीएनएसए बीआरपी, खण्ड २२१२, कार्यवाही १-१०-१८४९, पृ १४२२४ - १४२६०, विशेष अनुच्छेद ५४

२५ सम्पूर्ण गाधी वाङ्मय, खण्ड ४२, पृ ३८४-३८५ (अग्रेजी), १० जनवरी, १९३०

२६ सम्पूर्ण गाधी वाङ्मय, खण्ड ३५, पृ ४५७ (अग्रेजी), १२ जनवरी १९२८

२७ सम्पूर्ण गाधी वाङ्मय, खण्ड ३५, पृ ५४४ (अग्रेजी), नेहरू का गाधीजी को पत्र, ११ जनवरी १९२८

२८ सम्पूर्ण गाधी वाङ्मय, खण्ड ८१, पृ ३१९-३२१, ५ अक्टूबर १९४५, महात्मा गाधी का नेहरू को पत्र

२९ जवाहरलाल नेहरू, 'सिलैक्टेड वर्क्स', खण्ड १४, पृ ५५४-५५७, नेहरू का महात्मा गाधी को पत्र, ४ अक्टूबर १९४५

३० १७ नवम्बर १९६५ को अमेरिका के वॉशिग्टन डी सी की स्मिथसोनिअन इन्स्टीट्यूट के अर्धशताब्दी समारोह के अवसर में प्रा क्लॉड लेवी स्ट्रॉस की टिप्पणी, अप्रैल १९६६ में 'करन्ट एन्थ्रोपोलॉजी' खण्ड २, अक २ मे प्रकाशित

३१ एस जे ताल्बिआ द्वारा उद्धृत, 'जादू, विज्ञान, धर्म के परिप्रेक्ष्य में तर्क का औचित्य मैजिक, साईन्स, रिलिजन एण्ड द स्कोप ऑव् रेशनालिटी Magic, Science, Religion and the Scope of Rationality', १९९०, पृ ४४

---

* अप्रैल १९९२ में जर्मनी के ब्रेमेन में आयोजित 'पर्यावरण एव विकास (Environment and Development)' विषयक गोष्ठि में प्रस्तुत पत्र

२१. आधुनिक विज्ञान एवं गुलामी का समान आधार

वैचारिक आदोलन मनुष्य के इतिहास के समान ही प्राचीन है। भिन्न भिन्न युगो मे ऐसे सभी आदोलनो का सदर्भ भिन्न भिन्न होने के बावजूद प्रभाव लगभग एक समान ही रहता है। इससे लगता है कि गौतम बुद्ध के बाद का समय, ईसापूर्व की रोम की उन्नति का समय, यूरोप एव स्पेन के अन्य राज्यो मे इस्लाम के विस्तार का समय-किसी भी समय मे जो विचार जन्मे एव प्रसारित हुए वे लगभग समान प्रकार के ही थे और जिन पर उनका प्रभाव पड़ा वह भी लगभग एक समान था। आजकी आधुनिक पश्चिमी ज्ञान शाखाएँ एव विचारो के प्रभाव की भी यही स्थिति है।

गोलाबारुद, मुद्रण यत्र और होकायत्र तेरहवीं या चौदहवीं शताब्दी मे यूरोप मे आया ऐसा कहा जाता है। एक लबे अतराल के बाद कदाचित यूरोप को इसका बहुत बड़ा लाभ मिला हो, परन्तु प्रारम्भ मे तो उसके कारण हलचल मच गई होगी। सत्रहवीं एव अठारहवीं शताब्दी मे भारत से आयात होनेवाले सूती कपड़े ने इग्लैंड़ के वस्त्र उद्योग को विच्छिन्न कर दिया था। प्राप्य अभिलेखो के अनुसार सन् १७२० मे जब तुर्की से इग्लैंड मे शीतला का टीका लाया गया तब उसका बहुत विरोध हुआ था एव वह बहुत बड़े वैद्यकीय एव धार्मिक वादविवाद का विषय बना था।

इसी प्रकार इग्लैड़ एव पश्चिम यूरोप मे जब वपित्र एव कृषि के अन्य उपकरण आए, धातुविद्या की नई प्रक्रियाएँ आईं, नई वनस्पतियाँ आईं, नई एव अपूर्वज्ञात खगोलशास्त्रीय जानकारियाँ आईं तब भी उतनी ही हलचल हुई होगी।

फिर भी ब्रिटिशरोने जब पूना मे सन् १७९० के दशक मे प्लास्टिक सर्जरी देखी एव उसी कालखड मे ब्रह्मदेश मे तेल के कुएँ देखे एव उसकी जानकारी इग्लैड़ मे पहुची तब सामाजिक जीवन मे इतनी खलबली नहीं मची थी। उसके महत्त्व एव प्रभाव के विषय मे अब चर्चा करने की आवश्यकता नहीं रह गई है। इतनी वह सर्वज्ञात हो गई है।

तेरहवीं शताब्दी से उन्नीसवीं शताब्दी के मध्यभाग तक पश्चिम यूरोप को पूर्व से, विशेषकर एशिया के देशो से अनगिनत विचार एव कारीगरी प्राप्त हुई है। सभव है कि

इनमे से कुछ विचारो का जन्म यूरोप मे ही हुआ हो एव ईसा मसीह के बाद के प्रारम्भ के शतको मे वे लुप्त हो गये हो। इसलिए उनका मूल चाहे जो हो परन्तु जब इन विचारो एव कारीगरी का आगमन पहली बार यूरोप मे हुआ तब उनका प्रबल विरोध हुआ। इतना ही नहीं तो उससे सामाजिक जीवन मे भी अस्वस्थता की स्थिति का निर्माण हुआ। फिर भी इन सभी विचारो एव कारीगरी के कारण यूरोप के सामर्थ्य मे वृद्धि ही हुई।

गत कुछ शतको मे यूरोप की सभ्यता ने बहुत सी समस्याओ का निर्माण किया है। उनमे से कुछ तो कभी हल न होने वाली है। वे समस्याएँ यूरोप ने स्वय के लिए तो निर्मित की ही है परन्तु इससे भी अधिक गैरयूरोपीय देशो के लिए पैदा की हैं। यूरोप चाहे जितनी चिता करता हो, चिल्लाता हो, वह चिता प्रमाणिक भी हो तो भी उसने पर्यावरण के आत्यतिक प्रदूषण की समस्या तो निर्मित की ही है, परन्तु उसके अतिरिक्त समस्याएँ भी यूरोप के लिए कोई नई नहीं है। नया तो यह है कि एक के बाद एक साहस करने मे यूरोप गैरयूरोपिय देशो के लिए एक के बाद एक समस्या का निर्माण करता ही रहा है।

चारसौ पॉचसौ वर्षो से तीसरा विश्व अनेक प्रकार के लाद दिये जानेवाले सकटो का शिकार बनता ही रहा है। जबसे तीसरा विश्व यूरोपीय आधिपत्य, उसकी सगठनात्मक हिकमतो, उसकी व्यूहात्मक रचना आदि का स्वीकार करने लगा तबसे ही ये सकट पैदा हुए हैं। इस आधिपत्य ने तीसरे विश्व को अत्यत दरिद्र बना दिया है। साथ ही अमेरिका के समान वहॉ की मूल जातियॉ पूर्णत नष्ट हो गई हैं। इसलिए यह सकट अत्यत तीव्रता से अनुभव नहीं किया जा सकता है। आज तो तीसरा विश्व ऐसी स्थिति पर पहुँच गया है जहॉ इन सभी सकटो की पराकाष्ठा हो गई है।

जवाहरलाल नेहरू एव उनके जैसे आज के तीसरे विश्व के विद्वानो के मानस आधुनिक पाश्चात्य विज्ञान एव टेक्नोलोजी की चमक एव शक्ति से अभिभूत हो गए है, यहॉ तक कि उनकी स्वतन्त्र रूप से सोचने की क्षमता ही जैसे हर ली गई है। यह चमक एकाध शताब्दी से अधिक पुरानी नहीं है, परन्तु शक्ति कुछ शताब्दी पुरानी है। जिस प्रकार, जिस क्षेत्र मे, जितने व्यापक रूप मे इस शक्ति का प्रयोग हो रहा है वह पश्चिम का रहस्य है। वर्तमान पाश्चात्य विज्ञान एव तन्त्रज्ञान इस शक्ति का परिणाम है। मुझे लगता है कि यूरोप की शक्ति तथा उसके विज्ञान एव तन्त्रज्ञान का मूल उसके तत्त्वज्ञान एव बाईबल की मान्यताओ में है। यूरोप का भूगोल एव उसकी आवश्यकताओ ने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे इस तत्त्वज्ञान एव इन मान्यताओ को स्वीकार करने की परपरा निर्माण की है। यह उसकी असीम शक्ति का मूल आधार है।

अति प्राचीन काल से भौतिक शक्ति का केन्द्रीकरण करना, यूरोप की सस्कृति का मुख्य लक्ष्य रहा है। इसी लक्ष्य के आधार पर सदियो से यूरोप की समग्र रचना बनी है। इसी लक्ष्य के आधार पर मनुष्य से व्यवहार करने की पद्धति का निर्माण हुआ है। जिस प्रकार यूरोप अन्य देशो के साथ व्यवहार करता है वैसा ही व्यवहार उसने अपने देश के नागरिको के साथ भी किया है। इग्लेंड मे तो ऐसा वहुत ही वडे पैमाने पर हुआ है। ऐसा व्यवहार अमेरिका को खोज या यूरोप समुद्रमार्ग से एशिया के देशो मे पहुँचा उससे पूर्व का है। यूरोप तो बहुत ही प्राचीनकाल से स्वतन्त्रता, बधुता एव समानता मे यकीन करता है यह उन्नीसवीं शताब्दी मे रेडिकल एव लिबरल हलचलो द्वारा पैदा की गई बहुत वड़ी भ्रान्ति है।

इतिहास को देखते हुए ऐसा लगता है कि भिन्न भिन्न सभ्यताँए अपनी समकालीन सभ्यताओ से अलिप्त ही रही है। केवल अन्य सभ्याताओ की ही नहीं तो अपनी सभ्यता मे भी मनुष्य की तो उन्होने कभी परवाह ही नहीं की है। सैनिकी विजय के फलस्वरूप या अन्य किसी भी रूप मे लोगो को गुलाम बनाने की प्रक्रिया हमेशा से अस्तित्व म रही है।

बहुत बड़े पैमाने पर मनुष्य को गुलाम बनाने की प्रवृत्ति यूरोपीय सभ्यता का प्रमुख लक्षण है। बहुत ही विशाल पैमाने पर लोगो को गुलाम बनाया जाता था। सोलहवीं, सत्रहवीं, एव अठाहरवीं शताब्दी मे गुलामो का व्यापार होता था, केवल उसी को याद करना पर्याप्त है। इससे भी पूर्व ग्रीक एव रोमन साम्राज्य के काल मे भी इसी प्रकार होता था यह बात समझने की आवश्यकता है। आफ्रिका से गुलाम के रूप मे लाखो लोगो को पकड़कर लाया जाता था। उसे 'शाही व्यापार' की सज्ञा फर्नाड ब्रोडेल ने दी है। प्लेटो ने गुलामो के साथ किए जानेवाले कठोर व्यवहार की निदा की है, परन्तु एक वर्ग के रूप मे गुलामो का तिरस्कार भी किया है, एव गुलामी की व्यवस्था का उसने स्वीकार भी किया है। एथेन्स सहित समग्र ग्रीस मे, लोकतात्रिक ग्रीस मे गुलाम ही शारीरिक या कारीगरी की मजदूरी करते थे।

समय बीतने पर गुलामी निरस्त हुई एव उमरावशाही ने उसका स्थान लिया। उमरावशाही की जड़े अनेक हैं, वे सभी विवाद का विषय भी है। इग्लैड़ मे तो ग्यारहवीं शताब्दी के मध्य मे नोर्मन विजय के बाद उमरावशाही प्रस्थापित हुई। अन्य देशो मे उसके प्रस्थापित होने के अनेक कारण हैं। कार्ल मार्क्स, फ्रेड़रिक एन्जल्स, एव अन्यो के मतानुसार टेक्नोलोजी मे होनेवाला बडा परिवर्तन भी एक कारण है। अब तक गुलामो की जो स्थिति थी वही अब सर्फ एव विलियन्स के रूप मे पहचाने जानेवाले विशाल

सख्या के लोगो की थी। जिनकी सपत्ति मे वृद्धि हुई उनकी सत्ता मे भी वृद्धि हुई। सत्ता एव सपत्ति ने मिलकर यूरोप मे विशाल भवन एव जहाजो का निर्माण करके और अधिक सपत्ति प्राप्त करने का जतन किया।

यूरोप ने विश्वविजय के परिणाम स्वरूप औद्योगिकरण किया। अठारहवीं शताब्दी के अत मे शुरू हुआ औद्योगिकरण ऐसे विजय के बिना सभव ही नहीं था। यह तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि विजय के फलस्वरूप नई खोजे, नई टेक्नोलोजी की आवश्यकता का निर्माण हुआ। जो हमेशा कहा जाता है कि युद्धो के कारण विज्ञान एव तन्त्रज्ञान को गति प्राप्त होती है वह यूरोप के अतिम कुछ शताब्दियो के अनुभवो का ही परिणाम है।

अर्थात् आधुनिक विज्ञान गुलामी प्रथा, उमरावशाही, विश्वविजय एव अत्याचार तथा आधिपत्य की ही उपज है। इनके लक्षण समान है। पिछले २००० वर्षो की अपेक्षा आज के यूरोप का चेहरा एकदम भिन्न लगता हो तो भी उसकी असलियत वही है। महात्मा गाधी को एक बार कहा गया था कि 'प्रत्येक अमेरिकन के पास ३६ गुलाम है क्यो कि उसके पास जो यत्र है वह ३६ गुलामो के बराबर काम करता है।' प्राचीन यूरोप की अपेक्षा यह बहुत प्रगतिशील स्थिति मानी जाएगी क्यो कि एक ग्रीक नागरिक की आवश्यकता १६ गुलामो की थी। १९३० के दशक मे लगभग प्रत्येक अमेरिकन नागरिक अधिकारो से सज्ज था एव प्राचीन ग्रीस मे नागरिक को जो सुविधाएँ प्राप्त होती थीं उससे कहीं अधिक सुविधाएँ उसे प्राप्त थीं। अमेरिका मे मनुष्य के रूप में तो गुलामी निरस्त हो गई, परन्तु गुलामी का विचार निरस्त नहीं हुआ, इतना ही नहीं उसने अधिक आकर्षक रूप धारण किया। महात्मा गाधी को जब उपरोक्त वाक्य कहा गया तब उनका उत्तर था कि 'ठीक है, अमेरिकनो को गुलामो की आवश्यकता होगी, हमे नहीं। हम मानवता को गुलाम बनानेवाला औद्योगिकरण कर ही नहीं सकते।'

साफ शब्दो मे कहे तो पाश्चात्य सभ्यता, सभी के अस्तित्व को निगल जाना चाहती है। इसलिए नहीं कि उसे अपना अस्तित्व टिकाए रखना है बल्कि इसलिए कि उसकी क्षुधा कभी भी शान्त न होने वाली है।

यूरोप अपनी इस वृत्ति से अनजान है एव यह सब अनजाने मे ही हो गया है, ऐसा बिलकुल नहीं है। कभी कभी यूरोप ने अपने आप को सुधारने का प्रयास किया है, परन्तु ऐसे प्रयास अधिक से अधिक दिशा बदलने के लिए ही हुए हैं। उसके बल का उपयोग करके सब कुछ स्वाहा करने की एकमात्र वृत्ति बदलना उसे कभी नहीं सूझा।

इसलिए आधुनिक विज्ञान की भाषा एव उद्देश्य वही पुरानी गुलामीयुक्त सभ्यता,

उमरावशाही एव विश्वविजय के जमाने जैसे ही है।

तीसरे विश्व मे प्रचलित आधुनिक विज्ञान एव तन्त्रज्ञान विषयक कल्पनाएँ भी कुछ नई नहीं हैं। चालीस वर्ष पूर्व पड़ित जवाहरलाल नेहरू ने कहा, 'मे ट्रेकटर्स एव विशाल यत्रसामग्री की पूर्ण रूप से तरफदारी करता हूँ।' उनका मत था कि, अद्ययावत् टेक्नोलोजी पर आधारित अर्थतन्त्र ही प्रभावी अर्थतन्त्र वन सकता है। अत टेक्नोलोजी और विशाल यत्रसामग्री के जो कुछ भी परिणाम हो उसे हमे स्वीकार करना ही पड़ेगा।

उससे भी दस वर्ष पूर्व नेहरू अधिक मुखर थे। अपनी आत्मकथा मे उन्होने लिखा, 'मुझे व्यक्तिगत रूप से कोई सन्देह नहीं है कि आधुनिक औद्योगिक सस्कृति का विरोध करने के हिन्दू या मुस्लिम किसी भी प्रकार के प्रयास असफल ही रहेगे। मैं इस असफलता को खेद के किसी भी प्रकार के भाव के बिना ही देखूँगा।'

पड़ित नेहरू समझदार व्यक्ति थे। उनकी देशभक्ति के विषय मे सन्देह नहीं किया जा सकता। उन्हे अपने एशियन होने पर गर्व था। उन्हे तीसरे विश्व का नागरिक होने पर भी गर्व था। वे पश्चिम को जानते थे। पाश्चात्य सभ्यता के भयकर प्रभाव को भी वे जानते थे। फिर भी आधुनिक विज्ञान एव टेक्नोलोजी की उपजो के प्रति उनका आकर्षण एव उसकी क्षमता मे उनका विश्वास भी अमर्याद थे एव हम जानते है कि इतने मतभेदो के बावजूद भी पडित नेहरू २४ वर्ष तक महात्मा गॉधी के निकटतम अनुयायी भी थे।

इस बात से तो सभी सम्मत है कि आधुनिक पश्चिमी सभ्यता, उसका राज्यतन्त्र एव उसके विज्ञान एव टेक्नोलोजी का गॉधीजी से अधिक कठोर आलोचक और कोई नहीं था। महात्मा गाधी को उनके यूरोप के प्रारम्भिक सम्पर्क के दौरान बेचैन करनेवाला कोई तत्त्व था तो वह था यूरोप, एव खास कर इग्लैड़ का अपने ही लोगो के साथ किया जानेवाला व्यवहार। इग्लैड़ के शासक जिस तरह से नागरिको के आत्मगौरव एव मर्यादा पर आघात करते थे, जिस तरह मनुष्यो को एक व्यवस्था के ढाचे मे जकड़ लिया जाता था, उसे देखकर गॉधीजी को अधिक दु ख होता था। अग्रेज भारत को नुकसान पहुॅचा रहे थे इसके दु ख से भी यह दु ख महत्तर था। देश को होनेवाले नुकसान का तो वे अपनी देशभक्ति से मुकाबला कर सकते थे परन्तु इग्लैड़ के ही लोगो का अपमान तो उनका मानवता के प्रति अपराध था। उसे देखकर ही उन्होने निश्चय किया कि उनका देश एव अन्य जो भी कोई उनकी इस भावना से सहमत होगा उनका ऐसी सभ्यता के साथ किसी प्रकार का कोई सबध नहीं होगा। परन्तु अपनी यह भावना वे पड़ित नेहरू जैसे लोगों मे नहीं जगा पाए।

स्पष्ट है कि तीसरे विश्व के शासक एव विद्वान आधुनिक विज्ञान से अभिभूत हो

गए हैं, हतप्रभ हो गए हैं। उसकी चमक उनमे आकर्षण पेदा करती है, उराकी शक्ति उन्हे यूरोप के नेताओ एव उद्योगपतियो का अनुकरण करने के लिए प्रेरित करती है। परन्तु ऐसा मानना कि वे आधुनिक विज्ञान के सभी दावो एव भ्रमो मे भी विश्वास करते हैं उनके साथ अन्याय करना होगा। कदाचित् ४० वर्ष पूर्व उनमे ऐसा विश्वास होगा, परन्तु वर्तमान समय मे तो आतरिक एव बाह्य कारको के विरुद्ध उत्पन्न विवशता के कारण एव स्वय (अपने) विद्वानो की वैकल्पिक आकर्षक व्यवस्था निर्माण की एव उसे प्रतिष्ठित करने की अक्षमता के कारण तीसरा विश्व, अपने विद्वान एव राष्ट्र निर्माताओ सहित आधुनिक विज्ञान एव तकनीक एव उससे भी ज्यादा उसके साथ अविनाभाव से सबधित ढॉचे एव व्यवस्था के अजगरमुख मे धँसता जा रहा है। कम से कम भारत के विषय मे तो यह सच ही है।

हम आधुनिक विज्ञान के अनिष्टो के विषय मे दु ख व्यक्त करते है वह आज पश्चिम मे उसे लेकर जो प्रश्नचिह्न खड़े हुए है उससे सुसगत होगा, परन्तु जिस प्रकार के प्रश्न उठाए जाते है उससे तो आधुनिक विज्ञान अधिक सामर्थ्यवान बनता है। यदि उसके गैरयूरोपीय विकल्पो का निर्माण करना है तो भारत की स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिए महात्मा गाधी द्वारा दर्शाए एव अपनाए गए मार्ग पर चलना होगा।

तीसरा विश्व आधुनिक पाश्चात्य विज्ञान के स्थान पर जो विकल्प खोजेगा उसका स्वरूप भिन्न भिन्न प्रदेशो मे भिन्न भिन्न होगा। भौगोलिक रूप से तीसरा विश्व बहुत ही विशाल है। उसमे भिन्न भिन्न प्रदेशो की जलवायु, वृक्ष, वनस्पति, एव लोगो मे विविधता बहुत बड़े पैमाने पर है। तीसरे विश्व के लोगो मे इतिहास के सदर्भ मे तो बहुत बडा अतर एव विविधता पाई जाती है। इतने अधिक विभिन्नता वाले देशो को एक सूत्र मे पिरोनेवाला यदि कोई तथ्य है तो वह यह है कि सभी समान रूप से गत १५०० वर्षो से यूरोपीयन सभ्यता के शिकजे मे जकडे हुए है, परन्तु प्रत्येक देश की इस जकडन की अनुभूति भिन्न है। अलग अलग समय मे अलग अलग प्रदेश पर अलग अलग मात्रा मे इस जकडन का प्रभाव रहा है। इस विषय मे भी सभी देशो मे एक समानता है तो वह है सामान्य मनुष्य के आत्मगौरव पर बहुत बड़ा आघात हुआ है, उनके व्यक्तिगत या सामूहिक रूप से कुछ भी कर सकने के सामर्थ्य को कुचल दिया गया है, उनके पर्यावरण की हानि हुई है, उनका उत्पादन एव अर्थतन्त्र यूरोप के अधीन हो गया है, उनके विद्वान देश के सामान्य जन से विमुख गए हैं एव बड़ी सख्या मे लोग गरीब हो गए हैं। इसलिए हो सकता है कि इन सभी का समान लक्ष्य यह बने कि किस प्रकार इस अभूतपूर्व अस्वस्थता पर विजय प्राप्त करके खोया हुआ सतुलन तथा गौरव वापस प्राप्त किया जा

सके एव इसके बाद वैविध्य एव भिन्नता होने के बावजूद एक प्रकार के बधुत्व की स्थापना की जा सके। यह बधुत्व तीसरे विश्व के साथ हो और वह और ज्यादा मजबूत भी हो। यद्यपि इस प्रक्रिया का स्परूप प्रत्येक प्रदेश के लिए अलग अलग होगा। परन्तु उसके नमूने के रूप मे किसी एक प्रदेश मे, उदाहरण के तौर पर भारत मे यह प्रक्रिया कैसी होगी इसके विषय में चर्चा की जा सकती है।

यूरोपीय आधिपत्य मे आने से पूर्व भारत मे बहुत ही समृद्ध कृषि एव विभिन्न प्रकार के अत्यत विकसित उद्योगक्षेत्र थे। सन् १८०० तक तो भारत की कृषि उपज उस समय के इग्लैड़ की कृषि उपज से तीन गुना थी। औद्योगिक सामर्थ्य का पता इस बात से चलता है कि उस काल मे भारत लगभग १,००,००० टन उत्तम प्रकार के इस्पात का निर्माण करता था।

उससे पूर्व छहसौ सातसौ वर्ष अर्थात् ग्यारहवीं से सत्रहवीं शताब्दी तक पश्चिम भारत एव उत्तर भारत अनेक प्रकार के आक्रमणो का शिकार बनते रहे है। इन आक्रमणो एव उसके बाद के आक्रामको का शासन ग्रामीण एव नगरीय क्षेत्रो मे असतोष एव परेशानी का कारण बना। साथ ही ये क्षेत्र धार्मिक असहिष्णुता का भी शिकार बने। ऐसे शासन का एक परिणाम यह हुआ कि शासन एव समाज के आपसी सबध टूटने लगे, क्योकि शासन एक सकल्पना के अनुसार चलता था, समाज की जीवनशैली दूसरी सकल्पना के अनुसार चलती थी। फलस्वरूप समाज व्यवस्था कमजोर पड गई। फिर भी समाज की जीवनशैली एक सीमा तक बनी रही। आक्रमणो के आघात का लगभग समग्र देश मे अनुभव हो रहा था। फिर भी लगभग अठारहवीं शताब्दी तक समाज प्राचीनकाल से प्रस्थापित मूल्यो एव परपराओ के आधार पर ही चलता था। व्यक्तिगत एव सामाजिक जीवन, एव राजनैतिक व्यवस्थाएँ लगभग वही थीं। इसलिए १७५० से १८५० के सौ वर्षों मे यूरोपीय विस्तारवाद का सबसे अधिक एव सबसे सशक्त प्रतिरोध भी उत्तर एव पश्चिम भारत ने ही किया था।

सन् १७५० से १८०० तक दक्षिण एव मध्यभारत लगभग स्वतन्त्र था। हमलों का प्रभाव कुछ कम था। इसलिए वहा की मौलिकता एव सत्त्व आज भी पर्याप्त मात्रा मे सुस्थिति मे लगता है। ये क्षेत्र यूरोपीय शैली एव रीतिरिवाजो से कम प्रभावित हुए लगते है। साथ ही स्वत्व बनाए रखकर यूरोपीय ज्ञान एव विज्ञान का अपने उद्देश्य के अनुरूप उपयोग भी वे कर सकते हैं।

समृद्ध कृषि एव विशाल औद्योगिक परपरा के कारण भारत आज भी अपनी अर्थ व्यवस्था अपनी ही पद्धति से समर्थ रूप मे कर सकता है। अपनी उत्पादन क्षमता पुन

बढा सकता है। भले ही दो सौ वर्ष अवनति के, विनाश के एव निराशा के बीते हैं तो भी भारत मे पुन उत्थान की क्षमता है ही। कम से कम दैनन्दिन उपयोग की वस्तुऍ तो विपुल मात्रा मे बनाई ही जा सकती है। सबसे पहले सामाजिक, पर्यावरणीय एव तकनीक की दृष्टि से अत्यत हानिकारक पद्धतियॉ एव उस से होनेवाला वस्तुओ का उत्पादन सर्वथा बद कर देना चाहिए। उसी प्रकार बीज, पौधे, एव अन्य वस्तुऍ, जो भारत पर जबरदस्ती लादी जा रही है, उनका भी त्याग करना चाहिए। यह भी पिछले कई दशको से हो रहा एक प्रकार का आक्रमण ही है। गॉवो एव शहरो के कस्बो जैसे क्षेत्रो मे रहनेवाले लोगो की आवश्यकता के अनुसार वस्तुओ का उत्पादन होना चाहिए, न कि बाजार एव आन्तरराष्ट्रीय व्यापार की आवश्यकता के अनुसार। इसका अर्थ यह नहीं है कि नगरो एव महानगरो मे रहनेवाले लोगो की आवश्यकताओ की उपेक्षा की जाए, अथवा आतरराष्ट्रीय व्यापार बद कर दिया जाए। इसका अर्थ यह है कि हमारी प्राथमिकताओ की पुनर्रचना की जाए। उत्पादन की पद्धति मे परिवर्तन के साथ वितरण व्यवस्था मे भी परिवर्तन अपेक्षित है। वस्तु का उत्पादन जहॉ होता है उस क्षेत्र का उस वस्तु पर प्रथम अधिकार होना चाहिए। यदि केवल बाजार को ही ध्यान मे रखा जाएगा तो वस्तु की हेराफेरी की समस्या निर्माण होगी, दूर तक ले जाना है तो उसका वस्तु की उत्पादन प्रक्रिया पर प्रभाव पडकर उसका स्वरूप भी बदल जाता है। वस्तु मॅहगी होती है एव जहा उसका उत्पादन होता है वहॉ, एव जो लोग उसका उत्पादन करते है उनके लिए वह वस्तु दुर्लभ बन जाती है। बेची जा सकती है ऐसी ही वस्तुओ का उत्पादन होता है, आवश्यक वस्तुओ का नहीं। जहॉ वस्तुओ का उत्पादन नहीं होता है वहाँ या तो उत्पादन होने लगे या उसका कोई बड़ा सग्रह हो जहॉ से उन्हे वे वस्तुऍ मिल सके। सिद्धात यह है कि अधिकाश वस्तुओ का उत्पादन एव उपयोग स्थानीय हो। भारत जैसा घनी आबादीवाला देश अन्न एव अन्य प्राथमिक आवश्यकता की वस्तुऍ अन्य देशो को मुहैया कराने मे असमर्थ है ऐसी कल्पना करना भी हास्यास्पद है। चाय, कपास, कच्चा लोहा, कोयला इत्यादि का निर्यात करना है तो तब विचार करना पडेगा जब वे आवश्यकता से सचमुच अधिक हैं, या इतनी विपुल मात्रा मे मिलती है कि वे कभी समाप्त नहीं होगी। उदाहरण के तौर पर पश्चिम यूरोप मे वर्तमान समय मे डेरी उत्पादनो का निकास हो सकता है क्योकि वहॉ वे वस्तुऍ वास्तव मे आवश्यकता से ज्यादा बनती हैं।

खाद्य पदार्थ, कपड़ा, आवास एव सार्वजनिक उपयोग के मकान बनाने के लिए उपयोगी सामग्री, जगल उत्पादन एव वनस्पति तथा इसी प्रकार की अन्य वस्तुऍ, जो कि

भारत की सस्कृति एव सभ्यता से स्वाभाविक एव अटूट सबध रखती है उन का अर्थव्यवहार स्थानीय ही हो यह अत्यत आवश्यक है। उस कारण से कहीं कहीं यदि उत्पादन की मात्रा कम हो तो भी ऐसा ही करना चाहिए, क्योकि उससे उत्पादन की गुणवत्ता मे वृद्धि होगी, भारत के सदियो से सचित सोदयवोध को नवजीवन मिलेगा ओर मात्रा कम होने पर भी उसका वहुत वडा एव अच्छा मुआवजा मिलेगा।

इसी प्रकार परिवर्तन करने पर भी पुरानी पद्धति को पकड़कर रखना जरुरी नहीं है। पुराने स्वरूप को प्रतिष्ठित करने का अर्थ है उसमे निहित सकल्पना को बनाए रखना, उस समय व्यक्ति एव समाज का जो आतरिक सहसवध था उसे बनाए रखना, ऐसे उत्पादको के भिन्न-भिन्न समूहो का आतरसवध वनाए रखना। भारतीय राज्यतन्त्र का मर्म ही यह आतरसवध हे। भारत की ढॉचागत एव सस्थागत रचना का हार्द भी वही था। केवल उच्च वर्ग के लोगो को ही नहीं अपितु भारत के सर्वसामान्य समाज को जो रचना उपयोगी एव मूल्यवान लगती है उसे यदि पुन अपनाया जाय, युगानुकूल उसमे सामान्य लोगो की सूझबूझ से ही परिवर्तन किया जाय, एकवार वह रचना प्रस्थापित हो जाए उसके बाद ही अपनी आवश्यकता के अनुसार, अपने स्वय के स्वतन्त्र निर्णय से हम बाहर से वस्तुऍ आयात करे अथवा यन्त्रो का उपयोग करे तो नुकसान नहीं होगा। बाहर से आया हुआ होकायत्र अथवा मुद्रणालय जिस प्रकार यूरोप के लिए लाभकारी सिद्ध हुआ था उसी प्रकार हमे भी आयात लाभकारी सिद्ध होगा।

परन्तु अन्न, वस्त्र, आवास भले ही अनिवार्य हो मनुष्य के लिए इतनी ही बात पर्याप्त नहीं होती। उदाहरण के तौर पर अब तो भारत डेढ सौ वर्षों से विशाल रेल व्यवहार से जुडा हुआ है, डाक एव तार की व्यवस्था भी उतनी ही पुरानी है, अब टेलिफोन भी आ गया है, समाचारपत्र, पत्रिकाऍ, पुस्तके भी दैनिक आवश्यकताएँ हैं, रेडियो, दूरदर्शन एव मोटरे भी सामान्य हो गए हैं, हवाई जहाज भी परिचित है। हवाई जहाज के कारण ही तो असख्य आतरराष्ट्रीय परिषद्, परिसवाद, बैठक, यात्राऍ इत्यादि सभव बनते हैं, दुनिया को चलाने का दावा करनेवाले लोग सरलता से एकदूसरे से मिल सकते हैं एव मुट्ठीभर लोग दुनिया को मुट्ठी मे बाधे रख सकते हैं एव पूरा विश्व एक छोटा सा गॉव है ऐसा बोलने का साहस होता है। सैद्धातिक रूप से कदाचित इस प्रकार का वाहनव्यवहार छोड़कर परपरागत धीमी गति का वाहनव्यवहार अपनाया जा सकता है। उससे व्यक्ति एव समाज दोनो का लाभ होगा। परन्तु भले ही भारत के दस से बीस प्रतिशत लोग ही इन सभी सुविधाओ का उपयोग करते हों तो भी वाहनव्यवहार एव सूचना प्रसारण मे इतना जलद परिवर्तन करना सभव नहीं है। यद्यपि इन दोनो

व्यवस्थाओ का भारतीय दृष्टिकोण एव भारतीय पार्श्वभूमि मे मूल्याकन होना बहुत ही आवश्यक है। ऐसे मूल्याकन मे व्यावहारिक विकल्प एव उसके क्रियान्वयन की पद्धति का भी समावेश होना चाहिए।

ऊर्जा के विषय मे भी पुर्नविचार की आवश्यकता है। भारत ऊर्जा के क्षेत्र मे पशु, कोयला, लकडी एव लकडी के कोयले जैसी वस्तुओ पर निर्भर है। दिनो दिन ईधन के लिए ही योग्य लकडी का उपयोग करने के स्थान पर जगल कटते जा रहे है एव नीलगिरी जैसे वृक्षो की उपज एव बुआई बढती जा रही है। देश के ८० से ९० प्रतिशत लोगो को तो ऊर्जा प्राप्त नहीं होती है। उनके लिए सूर्यप्रकाश ही ऊर्जा का स्रोत है। वास्तव मे भारत जैसे भरपूर सूर्यप्रकाशवाले देश मे ऊर्जा की आवश्यकता कम ही होनी चाहिए, ऊर्जा की अधिक आवश्यकता तो सूर्यप्रकाश के विषय मे इतने सद्‌भागी नहीं है ऐसे देशो को पडनी चाहिए। परन्तु इतनी बडी कृपा का लाभ उठाया जा सके इस प्रकार की लोगो की जीवन शैली एव स्वाभाविक कुशल रचना भी होनी चाहिए। भारत की जीवनशैली मूलत ऐसी ही थी, परन्तु अठारहवीं, उन्नीसवीं शताब्दी से इसमे बहुत विकृति आई है। अब लोगो की जीवनशैली एव रचना मे पुन परिवर्तन हो तब तक वर्तमान परिस्थिति मे भी ऊर्जा का पुनर्वितरण जरुरी है। व्यक्तिगत उपयोग के लिए, बडे बड़े प्रकल्पो के लिए, योजनाओ के लिए सौर ऊर्जा का अधिक से अधिक उपयोग करने की आवश्यकता है।

जिन जिन क्षेत्रो मे तीसरे विश्व के समान भारत को अन्य देशो के व्यवहार को ही केन्द्रस्थान पर रखने की जरूरत है वहीं भिन्न रूप से सोचने की भी जरूरत है। आज समग्र विश्व मे बल का प्रयोग सबसे महत्वपूर्ण कारक माना जाता है। इस विषय मे भारत को एक विशेष दृष्टि विकसित करने की जरूरत है। महात्मा गाधी ने अहिसा पर आधारित विश्व रचना की, एव सयम पर आधारित व्यक्तिगत एव सामाजिक जीवन रचना की बात की थी। विश्व मे अनेकानेक लोगो ने इस बात को समझकर अपनाया है। आज भी इन्ही सूत्रो को आधार बनाकर आज के सदर्भ मे उसके विभिन्न विकल्पो को छॉटकर उसे व्यावहारिक बनाने की जरूरत है। इस विषय मे भारत पहल कर सकता है एव रास्ता भी दिखा सकता है, परन्तु ऐसे प्रयास सफल होने तक भारत को स्वाभाविक रूप से ही अपनी सुरक्षा की ओर ध्यान देना ही पडेगा। एव उसके लिए आवश्यक सभी उपायो का भी आयोजन करना पडेगा। इस विषय मे भारत को आज विश्व मे प्रबल भौतिक ससाधन, अनुसधान, उपकरण एव उससे प्राप्त होनेवाला सामर्थ्य भी प्राप्त करना पडेगा।

अभी तक तो भारत जैसे देशो ने अपने व्यक्तिगत एव सार्वजनिक जीवन मे

आधुनिक पाश्चात्य वैज्ञानिक एव तान्त्रिक ज्ञान को दखल से रोके रखा है, या बेमन से कुछ कुछ अपनाया है। इसमे असफलता ही प्राप्त हुई है। भारत की मानसिक एव आध्यात्मिक स्थिति आज उलझ गई है। यूरोप के सैनिकी, राजनैतिक एव बौद्धिक आक्रमण का यह परिणाम है। इस स्थिति मे विज्ञान एव तन्त्रज्ञान को उचित रूप से अपनाने मे असफलता प्राप्त होना स्वाभाविक है। यूरोप का यह आक्रमण इतना प्रबल है कि महात्मा गाँधी के निकटतम अनुयायी एव उनकी ही प्रेरणा से कार्य करनेवाली सभी सस्थाएँ अपने शत्रु की ही विचारधारा, व्यवहारप्रणाली एव पद्धतियो का अनुसरण एव अनुकरण करते है। ब्रिटिश राज्यतन्त्र द्वारा निर्मित ढॉचे, नीतिनियम, पद्धति एव प्रक्रियाओ को उन्होने अपना लिया है। उन लोगो को होश ही नहीं है कि उद्देश्य चाहे लोगो का भला करने का ही हो परन्तु होता तो नुकसान ही है।

उत्पादन के क्षेत्र मे महात्मा गाधी ने स्थानीय कच्चा माल एव उत्पादन केन्द्र, मनुष्य की मेहनत एव स्वावलबन को आधारभूत तत्त्व माना था। आज उनकी सस्थाएँ बाते तो इन्हीं सब की करती है परन्तु व्यवहार उसके बिलकुल विपरीत करती है। इसका उन्हे होश ही नहीं रहा। पश्चिम की निरर्थक एव बेकार तकनीक को वैकल्पिक रास्ता कहकर उन्होने अपना लिया है। इस तरह अपने ही समाज से वे अलग हो गए है। मूल हथकरघे के स्थान पर कपड़े की मिलो मे उपयोग किए जानेवाले कताईयत्र की छोटी प्रतिकृति जैसे अबर चरखे का प्रचलन इस विकृति का एक उदाहरण है।

भारत यदि तीसरे विश्व एव समग्र विश्व को भी रास्ता दिखाना चाहता है तो अपने भूतकाल को, अपने सही स्वभाव एव स्वरूप को तथा वर्तमान वास्तविकता को उसने ठीक प्रकार से समझना होगा। साथ ही पश्चिम को भी उसके वास्तविक रूप मे ही समझना होगा। आधुनिक विज्ञान द्वारा निर्मित सकटो से बच निकलने के लिए भारत जैसे देश को स्वय तो जागना ही पड़ेगा साथ ही उसे प्रभावित करनेवाली सासारिक स्थिति के विषय मे भी जागृत बनना पड़ेगा।

---

* नवम्बर १९८६ में मलेशिया में आयोजित 'द क्राइसिस ऑव् मोडर्न साइन्स (The Crisis of Modern Science)' विषयक गोष्ठि मे प्रस्तुत पत्र का विस्तृत पाठ

२२. सत्याग्रह की विश्वपरिषद्

अभी अभी कुछ समय से अहिसक बहिष्कार, सत्याग्रह एव असहयोग की अन्य अहिसक पद्धतियो की चर्चा विविध प्रसगो मे भिन्न भिन्न स्थानो पर सुनने को मिलती है। आज स्थिति ऐसी है कि एक सिरे पर सत्याग्रही पद्धतियाँ है तो दूसरे सिरे पर अणुपरीक्षण है। सत्याग्रह की यह बहस एक दूसरे से बहुत ही दूर स्थित इग्लैण्ड, अमेरिका, जापान एव भारत जैसे देशो मे हो रही है। परन्तु यह सारा प्रयास असगठित एव असकलित है। साथ ही आज के सघर्ष इतने व्यापक एव दूरगामी प्रभाव डालनेवाले हैं कि सत्याग्रह के किसी भी प्रकार के प्रयास विश्व के सकटो को दूर नहीं कर सकते हैं।

गाँधीजी का उदाहरण

वर्तमान समय मे अत्याचार एव गुलामी के प्रतिकार के लिए सत्याग्रह एव अहिसा के शस्त्र के मुख्य पुरस्कर्ता के रूप मे महात्मा गाँधी का उदाहरण हमारे समाने है। देश के आतरराष्ट्रीय स्तर के प्रश्नो को हल करने के लिए भी उन्होने इस शस्त्र का प्रभावी एव सफल उपयोग किया था। भारत की स्वतन्त्रता, १९४७ के बाद भारत एव इग्लैंड के बीच कटुता का अभाव, अस्पृश्यता एव उसी प्रकार की अन्य समस्याओ का निवारण इसके जीवत उदाहरण है। आज मोन्टगोमरी (अलाबामा) एव जोहनिसबर्ग मे इसका प्रभाव देखने को मिलता है। भारत मे भूदान आदोलन की सफलता भी इसका सफल उदाहरण है।

गाधीजी के जीवनकाल मे उनकी एव उनके सभी कार्यकर्ताओ की पूरी शक्ति भारत के ही प्रश्नो को हल करने मे लगी हुई थी। भारत के अपने ही प्रश्न इतने विकट थे कि वैश्विक सकटो के लिए अहिसा एव सत्याग्रह के हथियार का उपयोग किस प्रकार किया जाए इसके विषय मे सोचने का कोई अवकाश ही नहीं था।

भारत को स्वतन्त्रता प्राप्त हुई उसके तुरत बाद ही गाधीजी ने हम से बिदा ली। इसलिए हमारे पास ऐसा कुछ करने कि लिए अनुभव एव उदाहरण दोनो ही नहीं है। इसीलिए हम जहाँ तहाँ रुक जाते हैं। अणुपरीक्षण के विषय मे अभी अभी राजगोपालाचारी ने कहा, 'विश्व के इतिहास के ऐसे आपातकालीन समय मे गाँधीजी हमारे बीच होते तो अच्छा होता।' भारत को ऐसे भीषण सग्राम मे हिस्सा लेने के लिए कहने मे उन्होने एक

क्षण का भी विलब नहीं किया होता। सच है कि हम गाधीजी के दृष्टिकोण को समझते है फिर भी भारत की ऐसी दुर्भाग्य पूर्ण स्थिति मे कुछ भी करने के लिये कितने असमर्थ हो गए है।

फिर भी उनके जीवन से प्राप्त प्रेरणा बिलकुल निरर्थक नहीं है। विभिन्न देशो मे ऐसे समूह एव सगठन हे जो अहिसा के विचार को पुरस्कृत करनेवाले हैं। उदाहरण के लिये एस सी आई (SCI - सर्विस सिविल इन्टरनेशनल Service Cıvıl Internatıonal ब्रिटिश शाखा Brıtısh Branch), इन्टरनेशनल वोलन्टरी सर्विस फोर पीस - शाति विषयक आतरराष्ट्रीय स्वैच्छिक सस्था - (Internatıonal Voluntary servıce for Peace), फ्रेन्ड्स सर्विस यूनिट्स (Frıend servıce uınts - सेवा मित्र मड़ल), रामकृष्ण सघ (Ramkrıshna Mıssıon) एसोसिएशन फोर वॉर ऑन वॉन्ट (Assocıatıon for War on Want) इत्यादि सगठन विश्वबधुत्व की भावना को मूर्त रूप देने के लिए प्रयासरत है।

परन्तु वर्तमान स्थिति असाधारण है। समग्र विश्व मे आमूल परिवर्तन हो रहा है, अनवरत रूप से सामाजिक एव राजनैतिक रूपान्तरण हो रहे है। इसके अतिरिक्त मानवजाति मानसिक रूप से इन परिवर्तनो के लिए तैयार न होने के कारण ये सभी परिवर्तन उसे हतप्रभ बना देते है एव कठिनाइयो एव दु खो मे और अधिक वृद्धि होती है।

सगठित प्रयासो की आवश्यकता

इस स्फोटक स्थिति मे जो लोग मानते हैं कि वर्तमान वैश्विक आपातकालीन स्थिति मे अहिसक प्रयासों की त्वरित आवश्यकता है उन्हें एकत्र होने की एव सगठित प्रयास करने की आवश्यकता है। 'अहिसक प्रतिकार के लिए विश्वपरिषद्'(World Councıl for Non Violent Resıstance) की रचना करना उचित शुरुआत है। इस प्रकार की रचना स्थायी बने, उसके सदस्य सारे विश्व से आएँ, इस विचार का आदर करनेवाले लोगो एव सगठनो के लिए एक मच बने एव अहिसक प्रतिकार के विषय मे विश्वमानस का प्रबोधन एव शिक्षण हो यही इस परिषद का कार्य होगा।

हमेशा ऐसा होता है कि प्रत्येक घटना के बाद हमारा रोष एव हमारी शरम कायरता को जन्म देती है। उससे ऐसा भाव पैदा होता है कि सत्ता एव ताकत के सकटो का प्रतिकार राजनैतिक एव सैनिकी बल एव पद्धति का उपयोग करके ही किया जा सकता है। वर्तमान समय मे तो इस प्रकार की प्रतीति से उबरने के लिए तत्काल कुछ न कुछ करने की जरूरत है। शाति के सही मार्ग मे जिनका विश्वास है ऐसे सभी का सगठित होकर प्रयासशील रहना ही आज की सबसे बड़ी आवश्यकता है।

---

* २४ मई १९५७ को लन्दन के 'पीस न्यूझ (Peace News)' मे प्रकाशित लेख

२३. भारत एवं विश्व

विश्व के अधिकाश प्रदेशो पर अपना आधिपत्य जमाने के बाद ब्रिटिशरो ने भारत के प्राचीन साहित्य मे रुचि दिखाना शुरू किया। वे उसका गभीरता से अध्ययन करने लगे। इन ग्रथो मे एक था 'मनुसहिता'। १७९० मे उन्होने मनुसहिता का अग्रेजी मे अनुवाद करवाया। उन्नीसवीं शताब्दी मे बगाल मे उसका प्रकाशन हुआ। उसके अनेक मुद्रण हुए। उसी अतराल मे शाकुन्तल जैसी अनेक साहित्य कृतियो का भी अनुवाद हुआ। ग्रीस के एलेक्झाड़र एव मेगस्थनीज की यात्राओ पर आधारित पुस्तके भी प्रकाशित की गई। हेरोडोटस एव स्ट्रेक्रेबो जैसे ग्रीक एव रोमन विद्वानो द्वारा कथित एव लिखित भारत विषयक वृत्तातो का भी प्रकाशन किया गया।

समय बीतने पर भारत के अधिकाश प्रदेशो पर राजकीय आधिपत्य जमाने के बाद भारतीय साहित्य के प्रकाशन कार्य को गति प्राप्त हुई। १८६० के करीब भारत मे इस्लामी शासन के विषय मे इस्लामी इतिहासकारो के द्वारा लिखित वृत्तातो का भी प्रकाशन हुआ। चौथी से सातवीं शताब्दी के दौरान चीनी यात्रियो द्वारा किया गया भारत के वर्णन का भी अग्रेजी मे रूपातर हुआ। चीनी यात्रियो के वर्णनो मे ह्यु एन साग का वृत्तात महत्वपूर्ण माना जाता है। उसका समय सन् ६२१ से ६४५ का है। कहा जाता है कि अग्रेजो ने चीनी यात्रियो के ऐसे वृत्तातो का प्रकाशन करने के बाद भी हमने अपनी भाषा मे अपनी पद्धति से सीधे सीधे चीनी भाषा से अनुवाद करके ऐसे वृत्तातो को प्रकाशित करने का विचार नहीं किया है।

ज्ञान धाराये एव विद्वत्ता सामान्य रूप से राज्यतन्त्र के साथ हाथ मिलाते है। एव एक नहीं तो दूसरे रूप मे राज्यतन्त्र के द्वारा नियत्रित एव निर्धारित भी होते रहते है। राज्यतन्त्र विदेशी होने पर यह प्रवृत्ति विशेष रूप से दिखाई देती है। यह बात रोमन हुकूमत के अतर्गत यूरोप एव भूमध्य सागर के देशो को जितनी लागू है उतनी ही वर्तमान समय मे इस्लामी एव यूरोपीय हुकूमत मे रहे देशो को भी लागू है।

भारत आज भी अनेक कारणो से उन्नीसवीं शताब्दी मे ब्रिटिशो द्वारा स्थापित की गई विद्यासस्थाओ एव ग्रथो के बौद्धिक आधिपत्य मे रह रहा है। इसका एक गभीर

परिणाम यह है कि आज भी यह सस्थान एव राज्यतन्त्र चलानेवाले विद्वान भारत के बारे मे वैसा ही मानते है एव वैसा ही समझते है जेसा ब्रिटिश करते थे। इतना ही नहीं तो सन् १४०० से पूर्व भारत मे क्या था, केसा था, उसकी कोई जानकारी या समझ उन्हे नहीं थी। सन् १४०० से पूर्व पड़ोसी देश, पूर्व आफ्रिका तथा चीनी समुद्र के देशो के साथ भारत का सबध कैसा था उस विषय मे उन्हे कोई जानकारी नहीं थी। उन्हे यह भी पता नहीं है कि ब्रिटिशो ने जो कुछ हमारे सिर पर थोप दिया हे उसका हमारे मूल स्वभाव से कोई मेल नहीं है एव सन् १४०० से पूर्व तक देश मे जो ज्ञान एव जो व्यवस्थाएँ थीं वे प्रारम्भ से ही भारत के व्यक्तिगत एव सामाजिक जीवन के अभिन्न अग के समान थीं एव वे वैसी ही हमेशा रहनेवाली भी है।

वर्तमान समय मे वैश्वीकरण की वाते हो रही हैं। 'एक विश्व' की बाते हो रही है। इसका प्रारम्भ १९४० के आसपास अमेरिका मे हुआ है। यह स्मरण रखना जरूरी है कि ये नारे वास्तव मे नए नहीं हैं। विश्व के भिन्न भिन्न देशो मे भिन्न भिन्न समय पर ये उठते रहे हैं। प्राचीन रोम मे चीन की हुकूमत के प्रदेश मे एव पॉच-छह शताब्दी पूर्व भी ऐसे नारे उठते रहे हैं। इसका एक उदाहरण चीनी नाखुदा चेग हो है। वह लगभग ३० वर्ष (१४०५ से १४३३) तक ३०० लडाकू जहाजो का कप्तान था एव चीन, दक्षिणपूर्व एशिया, ईरान, अरबस्तान के समुद्रतट से लेकर आफ्रिका के मोगादीशु (माडागास्कर) तक समुद्र मे घूमता था। ऐसा भी कहा जाता है कि दिसम्बर १४०६ से अप्रैल १४०७ के दौरान उसका ३१७ जहाज एव २७,८७० सैनिको का काफिला केरल के कालीकट बदरगाह पर रुका था। यदि विद्वान सन् १४०० पूर्व के इतिहास का शोध करेगे तो उन्हे इसी तरह के अरब, इडोनेशिया, भारत एव अन्य देशों के नौकाकाफिलो की ईसा पूर्व के समय से होनेवाली समुद्रयात्राओ की जानकारी मिलने की सभावना है। १५ वीं शताब्दी मे भी चीन से बगाल तक राजनयी लोगो की यात्रा होती थी। उससे पूर्व एशिया के अलग अलग देशो के बीच सदेश एव समाचारो का लेन देन होता था। परन्तु किसी कारण चेग हो के बाद एक शतक के अदर अदर ही स्पेन, पुर्तगाल, नेधरलैड़, इग्लैड, एव फ्रास जैसे यूरोपीय देशो का विश्व पर आधिपत्य स्थापित हो गया। विश्व सत्ता की इस रचना मे फिर से विश्वस्तर का परिवर्तन हो सकता है। वह असभव नहीं है।

वास्तव मे हार्वर्ड युनिवर्सिटी के प्रा सेम्युअल पी हर्मिंग्टन ने अपने ताजा प्रकाशित पुस्तक मे इस सभावना के प्रति हमारा ध्यान आकर्षित किया है। पुस्तक का शीर्षक है 'सभ्यताओ का सघर्ष एव विश्व की पुनर्रचना (दि क्लेश ऑव् सिविलाइजेशन्स एण्ड दि रीमेकिग ऑव वर्ल्ड आर्डर - The Clash of Civilizations and the

Remaking of World Order) काल भगवान ही कह सकते है कि ऐसी पुनर्रचना कौन सी दिशा पकडेगी एव कैसा आकार धारण करेगी, तथा ऐसी पुनर्रचना के बाद यूरोपीय, चीनी, जापानी, अरबी, ईरानी, भारतीय, दक्षिण पूर्व एशियाई एव आफ्रिकी सभ्यताओ का आपसी सतुलन कैसा होगा।

भविष्य मे विश्व की पुनर्रचना जिस तरह होनी है हो, भारत ने तो अपने भूतकाल, अपने इतिहास, समाज, परपरा इत्यादि के विषय मे जागृति लाने के लिए ईसा पूर्व ६०० से सन् १५०० तक के हमारे इतिहास का उसके विभिन्न सोपानो के साथ गभीरतापूर्वक अध्ययन करना पडेगा। ऐसे अध्ययन के लिए ज्ञान एव जानकारी के मूल स्रोत तक जाना होगा। आज से पूर्व के समय मे भारतीय एव चीन, कोरिया, जापान, दक्षिणपूर्व एशिया इत्यादि देशो मे प्राप्त मूल ग्रथो के मूल अध्ययन तक जाना पडेगा। हमे सन् १८५० के बाद लिखित यूरोपीय एव अमेरिकी साहित्य को भी देखना होगा। यूरोपीय साहित्य अधिकाशत अग्रेजी भाषा मे लिखा गया होगा परन्तु फ्रेन्च, जर्मन, डच, इटालियन, स्पेनिश एव रशियन जैसी यूरोपीय भाषाओ मे भी लिखा गया होगा। चीन जैसे देशो का साहित्य उस समय की एशियाई भाषा मे लिखा गया होगा। ऐसा अध्ययन करने के लिए विद्वत्ता के अन्य गुणो के साथ साथ ऐसी भाषाओ का ज्ञान या ज्ञान प्राप्त करने की क्षमता वाले, शोधवृत्ति वाले विद्वानो की जरुरत पड़ेगी। ऐसा अध्ययन जहॉ होता है ऐसे केन्द्र को विश्वविद्यालय कहे या अन्य कोई नाम दिया जाय। वहॉ अध्यापन ही होना चाहिए यह अनिवार्य नहीं है। वह ३० से ५० विद्वानो का एक समूह, एव उत्तम प्रकार का पुस्तकालय एव पुरातात्त्विक विभाग से युक्त केन्द्र होना चाहिए। ऐसे केन्द्रो में जो सामग्री प्रकाशित होगी वह भारत का सर्वजन समाज जिससे परिचित है ऐसी भाषाओ मे होना चाहिए।

इस कार्य का प्रारम्भ कुछ सख्या मे कम परन्तु जिन्हे रुचि है ऐसे युवा विद्वान उपयुक्त सामग्री खोजकर, प्राप्त कर उसमे निहित सामग्री का गभीर अध्ययन शुरु करके करे यह अपेक्षित है।

इति शुभम्।

---

* ११ जून २००१ को लिखी गई टिप्पणी

लेखक परिचय

श्री धर्मपालजी का जन्म सन् १९२२ मे उत्तर प्रदेश के मुझफ्फरनगरमे हुआ था। उनकी शिक्षा डी ए वी कालेज, लाहोर मे हुई। १९३० मे ८ वर्ष की आयु मे उन्होने पहली वार गाधीजी को देखा। उसके एक ही वर्ष वाद सरदार भगतसिह एव उनके साथियो को फॉसी दी गई। १९३० मे ही वे अपने पिताजी के साथ लाहौर मे कॉंग्रेस के अखिल भारतीय सम्मेलन मे गये थे। उस समय से लेकर आजन्म वे गाधीभक्त एव गाधीमार्गी रहे।

१९४० मे, १८ वर्ष की आयु मे उन्होने खादी पहनना शुरू किया। चरखे पर सूत कातना भी शुरू किया। १९४२ मे 'भारत छोडो' आन्दोलन मे भाग लिया। १९४४ मे उनका परिचय मीरावहन के साथ हुआ। उनके साथ मिलकर रुड़की एव हरिद्वार के बीच सामुदायिक गॉव के निर्माण का प्रयास किया। उस सामुदायिक गॉव का नाम था 'बापूग्राम'। आज भी वापूग्राम अस्तित्व मे है। १९४९ मे भारत का विभाजन हुआ। परिणाम स्वरूप भारत मे जो शरणार्थी आये उनके पुनर्वसन के कार्य मे भी उन्होंने भाग लिया। १९४९ मे वे इग्लेण्ड, इझरायल और अन्य देशो की यात्रा पर गये। इझरायल जाकर वे वहाँ के सामुदायिक ग्राम के प्रयोग को जानना समझना चाहते थे। १९५० मे वे भारत वापस आये। १९६४ तक दिल्ली मे रहे। इस समयावधि में वे Association of Voluntary Agencies for Rural Development (AVARD) के मन्त्री के रूप मे कार्यरत रहे। अवार्ड की सस्थापक अध्यक्षा श्रीमती कमलादेवी चट्टोपाध्याय थीं, परतु कुछ ही समय मे श्री जयप्रकाश नारायण उसके अध्यक्ष बने और १९७५ तक बने रहे। १९६४-६५ मे श्री धर्मपालजी आल इण्डिया पचायत परिषद के शोध विभाग के निदेशक रहे। १९६६ मे लन्दन गये। १९८२ तक लन्दन मे रहे। इन अठारह वर्षो मे भारत आते जाते रहे। १९८२ से १९८७ सेवाग्राम (वर्धा, महाराष्ट्र) मे रहे। उस दौरान चैन्नई आते जाते रहे। १९८७ के बाद फिर लन्दन गये। १९९३ से जीवन के अन्त तक सेवाग्राम, वर्धा में रहे।

१९४९ मे उनका विवाह अग्रेज युवति फिलिस से हुआ। फिलिस लन्दन में,

बापूग्राम मे, दिल्ली मे, सेवाग्राम मे उनके साथ रहीं। १९८६ मे उनका स्वर्गवास हुआ। उनकी स्मृति मे वाराणसी मे मानव सेवा केन्द्र के तत्त्वावधान मे बालिकाओ के समग्र विकास का केन्द्र चल रहा है। धर्मपालजी एव फिलिस के एक पुत्र एव दो पुत्रिया है। पुत्र डेविड लन्दन मे व्यवसायी है , पुत्री रोझविता लन्दन मे अध्यापक है और दूसरी पुत्री गीता धर्मपाल हाईडलबर्ग विश्वविद्यालय, जर्मनी मे इतिहास विषय की अध्यापक है।

धर्मपालजी अध्ययनशील थे, चिन्तक थे, बुद्धि प्रामाण्यवादी थे। परिश्रमी शोधकर्ता थे। अभिलेख प्राप्त करने के लिये प्रतिदिन बारह चौदह घण्टे लिखकर लन्दन तथा भारत के अन्यान्य महानगरो के अभिलेखागारो मे बैठकर नकल उतारने का कार्य उन्होने किया। उस सामग्री का सकलन किया, निष्कर्ष निकाले। १८ वीं एव १९ वीं शताब्दी के भारत के विषय मे अनुसन्धान कर के लेख लिखे, भाषण किये, पुस्तके लिखीं।

उनका यह अध्ययन, चिन्तन, अनुसन्धान विश्वविद्यालय से उपाधि प्राप्त करने के लिये या विद्वता के लिये प्रतिष्ठा, पद या धन प्राप्त करने के लिये नहीं था। भारत की जीवन दृष्टि, जीवन शैली, जीवन कौशल, जीवन रचना का परिचय प्राप्त करने के लिये, भारत को ठीक से समझने के लिये, समृद्ध, सुसस्कृत भारत को अग्रेजो ने कैसे तोडा उसकी प्रक्रिया जानने के लिये, भारत कैसे गुलाम बन गया इसका विश्लेषण करने के लिये और अब उस गुलामी से मुक्ति पाने का मार्ग ढूढने के लिये यह अध्ययन था। जितना मूल्य अध्ययन का है उससे भी कहीं अधिक मूल्य उसके उद्देश्य का है।

श्री जयप्रकाश नारायण, श्री राम मनोहर लोहिया, श्री कमलादेवी चट्टोपाध्याय, श्री मीराबहन उनके मित्र एव मार्गदर्शक है। गाधीजी उनकी दृष्टि मे अवतार पुरुष है। वे अन्तर्बाह्य गाधीभक्त है, फिर भी जाग्रत एव विवेकपूर्ण विश्लेषक एव आलोचक भी है। वे गाधीभक्त होने पर भी गाधीवादियो की आलोचना भी कर सकते है।

इस ग्रन्थश्रेणी मे प्रकाशित पुस्तके १९७१ से २००३ तक की समयावधि मे लिखी गई है। विद्वज्जगत मे उनका यथेष्ट स्वागत हुआ है। उससे व्यापक प्रभाव भी निर्माण हुआ है।

मूल पुस्तके अग्रेजी मे हैं। अभी वे हिन्दी मे प्रकाशित हो रही है। भारत की अन्यान्य भाषाओ मे जब उनका अनुवाद होगा तब बौद्धिक जगत मे बडी भारी हलचल पैदा होगी।

२४ अक्टूबर २००६ को सेवाग्राम में ही ८४ वर्ष की आयु मे उनका स्वर्गवास हुआ।